सृजन

संतोष चौबे की रचनाशीलता पर एकाग्र

TAGORE INTERNATIONAL
LITERATURE & ARTS
FESTIVAL
विश्व रंग
BHOPAL (INDIA)

सृजन

संतोष चौबे की रचनाशीलता पर एकाग्र

सम्पादक

कुणाल सिंह

आईसेक्ट पब्लिकेशन

ISBN : 978-93-86752-90-1

सृजन

(संतोष चौबे की रचनाशीलता पर एकाग्र)

सं. कुणाल सिंह

मूल्य : 300 रु.
प्रथम संस्करण : 2021
© **लेखकाधीन**

आवरण : आईसेक्ट पब्लिकेशन कला प्रभाग

प्रकाशक एवं मुद्रक : आईसेक्ट पब्लिकेशन
25 ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स
एम.पी. नगर, जोन-1, भोपाल-462011
फोन : 0755-4923952

Srijan
edited by Kunal Singh

इस पुस्तक का सर्वाधिकार सुरक्षित है। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को, फोटोकॉपी एवं रिकार्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुन:प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

‘सृजन’ का पूर्वालोक

हिन्दी संस्कार के गलियारे में एक विशिष्ट परम्परा रही है– साठ के हो चुके रचनाकारों के अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किये जाते हैं। यह रचनाकारों के सृजनात्मक प्रदेय का समुचित सम्मान है, एक प्रकार का ऋण है जिसका शोधन पाठक समुदाय सहर्ष करता आया है। संतोष चौबे हिन्दी के समृद्ध रचनाकार हैं, उनके रचनाकार का विधागत वैविध्य हमें विस्मित करता है। यह पुस्तक एक अर्थ में उनका अभिनन्दन ग्रन्थ है, लेकिन सामान्य अभिनन्दन ग्रन्थों से अलग यह पुस्तक अपने एक अलग चरित्र का निर्माण करती दिखती है। वर्ष 2015 में कवि-कथाकार संतोष चौबे के साठवें जन्मोत्सव को भोपाल में ‘साहित्य-पर्व’ के रूप में मनाया गया था। ‘दीप-दीप के भूपति नाना’ की तर्ज पर देश-भर से रचनाकार जुटे थे। ‘साहित्य-पर्व’ के संयोजक श्री मुकेश वर्मा का विचार था कि इस अवसर को रचनात्मक व विचारोत्तेजक बनाने की गरज से प्रत्येक सत्र में संतोष चौबे के रचनाकार व्यक्तित्व के अलग-अलग पहलुओं को केन्द्र में रखते हुए, साहित्य के समकाल पर बातें हों। किसी भी बड़े और किंचित् गम्भीर विषय पर विमर्श के लिए जिस एक किक्-स्टार्ट की जरूरत होती है, यहाँ संतोष चौबे का लेखक-रूप उसी बहाने की भूमिका तक महदूद रहा। आप इस पुस्तक से गुजरते हुए पायेंगे कि संतोष चौबे यहाँ एक विराट आयतन को समेटती बातचीत के निमित्त-भर हैं। यहाँ संतोष चौबे की कविता, कहानी, उपन्यास, अनुवाद के बहाने हिन्दी कविता, कहानी, उपन्यास आदि की परम्परा एवं विकास-यात्रा पर बातें हो रही हैं।

एक तरफ तो यह, दूसरी तरफ इसे भी याद रखना चाहिए कि एक रचनाकार का सृजन विकास का अपना एक स्वायत्त रास्ता और रवैया अख्तियार करता है, और इससे उस रचनाकार-विशेष की उम्र का कोई खास लेना-देना नहीं होता। इस सन्दर्भ में यह देखना कि दैहिक उम्र में साठ के संतोष की रचनाशीलता का कुल जमा कितना उम्रदराज व परिपक्व है, अपने-आप में एक रोचक अनुभव होगा। संतोष चौबे

की रचनाशीलता अब भी अग्रसित है, उसकी किसी सम्पूर्ण अथवा समग्र रूपरेखा को प्रस्तुत करना इस पुस्तक का ध्येय नहीं है। इस पुस्तक में जिस कालखंड की चर्चा है, उसके बाद उपन्यासकार संतोष चौबे के 'जलतरंग' का प्रकाशन, कहानीकार संतोष चौबे की 'सतह पर तैरती उदासी' व एक-दो अन्य स्मरणीय कहानियों का प्रकाशन, अनुवादक संतोष चौबे के 'भ्रमित आदमी के लिए एक किताब' (जो प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ई.एफ. शूमाकर को पहली बार हिन्दी में पुस्तकाकार लेकर आती है) का प्रकाशन उनके बहुमुखी सर्जक के निरन्तर क्रियाशील होने का द्योतक है।

साठ के किसी रचनाकार की रचनाशीलता का जब हम मूल्यांकन करने बैठते हैं तो इसमें न सिर्फ उन रचनाओं को शामिल करते हैं जो उसने हाल-फिलहाल के वर्षों में लिखीं, इसमें वे रचनाएँ भी उसी अधिकार से प्रवेश पाती हैं जो उसने युवावस्था में लिखी हैं। यदि उन रचनाओं में किसी प्रकार की अनगढ़ता या कच्चापन हो भी, तो इसे उस रचनाकार के सर्जक व्यक्तित्व में किसी बट्टे की तरह नहीं देखा जाता, बल्कि उसके विकास-पथ के विभिन्न सोपान के रूप में चिह्नित किया जाता है। इस रोशनी में देखें तो संतोष चौबे के यहाँ एक दूसरी दिक्कत है। 'नौ बिन्दुओं का खेल' जैसी कहानी के लेखक संतोष चौबे की शुरुआती कहानियाँ- 'सिगरेट', 'ताला', 'सूर्यास्त', 'रिद्म', 'मुश्किल' आदि अपनी बनत में किसी कच्चेपन की गुंजाइश नहीं छोड़तीं। कहें, वे किसी प्रकार के आगत विकास की मुखापेक्षी नहीं, बल्कि वे भिन्न आस्वाद की पूर्णतया परिपक्व कहानियाँ हैं। 'रामकुमार के जीवन का एक दिन' के बाद की उनकी कहानियों की तुलना में इन कहानियों का विषय तो अलग है ही, उस विषय को बरतने का ढब व ढर्रा भी एकदम जुदा है। इस अर्थ में मेरे तईं 'रामकुमार के जीवन का एक दिन' कथाकार संतोष चौबे को एक सर्वथा नया डाइमेंशन देने वाली कहानी है, जिसको मद्देनजर रखते हुए हम उनके कथाकार के पूर्ववर्ती और परवर्ती (किसी अर्थ में परिवर्तित भी) रूपाकारों की शिनाख्त कर सकते हैं।

वस्तुतः यदि कोई रचनाकार किसी एक ही विधा में सृजनशील हो, तो आप उसके विकास-क्रम का एक सुस्पष्ट खाका खींच सकते हैं- कि गंगोत्री से चला, हरिद्वार, प्रयाग, बनारस होते हुए अन्ततः बंगोप सागर में गिरा। लेकिन संतोष चौबे का रचनाकार कहानी, कविता, उपन्यास आदि हर प्रमुख विधा में उतनी ही प्रमुखता से क्रियाशील है, तो ऐसे में (उदाहरण के लिए) उनके कथाकार के विकास की निशानदेही सिर्फ उनकी कथात्मक कृतियों में ही खोजना अन्ततः अपर्याप्तता की

ओर ही ले जाएगा। हो सकता है कि वे किसी एक विधा में किसी एक मुकाम पर पहुँचने के बाद तात्कालिक रूप से किसी दूसरी विधा में स्विच कर गये हों, फिर जब वे पहली विधा में लौटे तो एकाएक दूसरे होकर (कई बार पुनर्नवा होकर) लौटे हों। विदित हो कि यह बड़े मोटे तौर पर कहा जा रहा है, कि दो कहानियों के बीच एक छोटी-सी कविता लिख लेने की रचनात्मक उपलब्धि भी दूसरी कहानी को, पहली की जमीन से रत्ती-भर ही सही, ऊपर जरूर उठाये हुए होती है। इसलिए जब भी आप एकाधिक विधाओं में रचनेवाले किसी रचनाकार से दो-चार होते हैं, तो इस प्रकार की व्यावहारिक दिक्कतें आती हैं। इसे ही ध्यान में रखकर हमने संतोष चौबे के हर उस रचनात्मक पहलू को बराबर का स्थान दिया है कि क्या पता अपने-आप में वह टुकड़ा सम्पूर्ण तथा प्रासंगिक भले न हो, किसी और पक्ष को पूरा करने में उसकी मानीखेज भूमिका हो! संतोष चौबे की कहानियों पर अवलम्बित नाटकों पर केंद्रित विमर्श को भी सम्मानजनक स्थान दिये जाने के पीछे यही कारण है।

बहरहाल, जो रचनाकार 'साहित्य-पर्व' में उपस्थित थे, वे साक्षी हैं कि प्रत्येक सत्र अपने-आप में इतना गरिष्ठ और समृद्ध था, कि विगत पाँच सालों में उनमें से कई ने, गाहे-ब गाहे जब भी किसी से मुलाकात होती, यह जरूर कहता कि उसका दस्तावेजीकरण जरूर हो। संतोष चौबे की विनम्रता और संकोच इसके आड़े आता रहा, किन्तु चूँकि विमर्श किसी भी रूप में प्रशस्तिपरक नहीं थे, अतएव किसी रूप में व्यक्तिगत अधिकार-क्षेत्र में भी नहीं आते थे। इन पर पहला हक हिन्दी के उन पाठकों और लेखकों का है, जिनकी शमूलियत 'साहित्य-पर्व' में हुई और अन्तिम हक उन पाठकों और लेखकों का है, जो भौतिक रूप से इसमें शामिल नहीं हो पाये। अन्ततः पाँच साल के अनन्तर इनका पुस्तकाकार प्रकाशन न सिर्फ आईसेक्ट पब्लिकेशन के लिए, बल्कि हिन्दी जगत के लिए भी सुखद एवं रोमांचकारी है।

मैं अपने उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ, जिनकी मदद से ट्रांसक्रिप्शन, टाइप-सेटिंग, प्रूफिंग, ले-आउट आदि जटिल काम सुचारु रूप से सम्भव हुए।

–कुणाल सिंह

शमूलियत

धनंजय वर्मा, नन्दकिशोर आचार्य, ममता कालिया, चित्रा मुद्‌गल,
राजेश जोशी, संतोष चौबे, प्रभु जोशी, नरेश सक्सेना,
देवेन्द्रराज अंकुर, ज्ञान चतुर्वेदी, रमेश दवे, विष्णु नागर, विजय कुमार,
मुकेश वर्मा, लीलाधर मंडलोई, महेश कटारे, महेन्द्र गगन, अजित हर्षे,
हरि भटनागर, रामप्रकाश त्रिपाठी, विनोद तिवारी, रोहिणी अग्रवाल,
आशीष त्रिपाठी, रमाकान्त श्रीवास्तव, निरंजन श्रोत्रिय, राजेन्द्र शर्मा,
भालचन्द्र जोशी, तरसेम गुजराल, अजय मलकानी, आलोक चैटर्जी,
मनोजकुमार पांडेय, राकेश मिश्र, गोपाल दुबे, उदय शहाणे,
राहुल सिंह, आशुतोष, जीतेन्द्र गुप्ता, पंकज सुबीर, संजय मेहता,
प्रकाश उप्रेती, राकेश बिहारी, अरुणेश शुक्ल, डॉ. आरती,
अशोक बुलानी, बालेन्द्र सिंह, सौरभ अनन्त,
विनय उपाध्याय, मोहन सगोरिया, सुदीप सोहनी

1

कला और विचारधारा

साहित्य-पर्व के अवसर पर आयोजित उपन्यास पर केन्द्रित विमर्श

22 सितम्बर 2015 को संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति के अवसर पर साहित्य-पर्व 25-26 अक्तूबर 2015 के बीच सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर हालाँकि संतोष के उपन्यास और कहानियाँ केन्द्र में थे, पर उनके बहाने समकालीन रचनाकारों पर भी गम्भीर और विस्तृत बहस हुई। प्रथम विचार-सत्र के दौरान 'कला और विचारधारा' विषय पर विमर्श किया गया, जिसमें चित्रा मुद्गल, महेश कटारे, मुकेश वर्मा, रोहिणी अग्रवाल, विनोद तिवारी, राकेश मिश्रा, राहुल सिंह और अरुणेश शुक्ल ने प्रतिभागिता की। सभी सत्र आईसेक्ट विश्वविद्यालय एवं भारत भवन में सम्पन्न हुए।

(बायें से) मुकेश वर्मा, राकेश मिश्र, विनोद तिवारी, चित्रा मुद्‌गल, राहुल सिंह, रोहिणी अग्रवाल, महेश कटारे, संतोष चौबे तथा विनीता चौबे

विनय उपाध्याय

आईसेक्ट विश्वविद्यालय में आपका स्वागत है। संतोष चौबे जी की षष्टिपूर्ति के निमित्त आयोजित इस साहित्य-पर्व में आप सबका आईसेक्ट विश्वविद्यालय के सभागार में अभिनंदन। हालाँकि आईसेक्ट विश्वविद्यालय मुख्य शहर से फासले पर है, लेकिन फासला तय करने के बाद जब हम इस परिसर में दाखिल होते हैं तो एक अलग-सी ऊर्जा हमारी चेतना में संचरित होती है और इस फासले को तय करने के बाद जब हम इस वैचारिक सत्र पर एकाग्र हो रहे हैं, तब आप सबको हम ये बताना जरूरी समझते हैं कि आज का ये वैचारिक सत्र दो चरणों में विभाजित है। 'उपन्यास' और 'कहानी' विषय पर। हम इस सत्र के संचालक श्री मुकेश वर्मा से दरख्वास्त करते हैं कि कृपया वे आज के प्रमुख वक्ताओं को लेकर मंच पर पधारें। दूसरा सत्र 'कहानी' पर एकाग्र है और हम पन्द्रह मिनिट का अन्तराल लेकर कहानी-सत्र के साथ पुन: उपस्थित होंगे। हमारे वक्ताओं में शामिल हैं आदरणीया चित्रा मुद्‌गल : हिंदी की लब्धप्रतिष्ठ

कथाकार, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी : व्यंग्यकार, उपन्यासकार, सुश्री रोहिणी अग्रवाल तथा कई और युवा व वरिष्ठ मित्र। और अब मैं ज्यादा विलंब न करते हुए इस सत्र के संचालन-सूत्र श्री मुकेश वर्माजी के हाथों में देता हूँ।

मुकेश वर्मा

नमस्कार, अपने आपमें विरल और अनूठे इस साहित्यिक आयोजन में हम कुछ मुद्दों पर चर्चा करेंगे। जरूरी नहीं है कि हम निष्कर्ष पर पहुँचे लेकिन एक सार्थक चर्चा के हम भागीदार बनें– ये संतोष, ये संतुष्टि हमारा लक्ष्य है और वनमाली सृजनपीठ का मूल प्रयोजन भी यही है कि हमारे समकालीन लेखक एक समय पर, एक स्थान पर, बेहतर वातावरण में चर्चा कर सकें और अपनी सृजनधर्मिता को एक नया आयाम दे सकें। इस दिशा में हमारी पूरी कोशिश है कि आपकी सुख-सुविधा का भी पूरा ख्याल रखा जाये और आपका सहयोग भी इसमें लिया जाये। ये सुखद है कि कला और साहित्य के इस आनंद-प्रसंग में कई पीढ़ियों के लेखक आये हैं जो अपने नजरिये से हमें अवगत करायेंगे तथा गंभीर चर्चा का वातावरण बनायेंगे। इस सत्र की अध्यक्षता प्रख्यात लेखिका चित्रा मुद्गल कर रही हैं। हमारे साथ डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी हैं जो भोपाल के हैं और हम आप उन्हें भली-भाँति जानते हैं। इसके अलावा रोहतक से आयी हुई सुख्यात आलोचक सुश्री रोहिणी अग्रवाल भी हमारे साथ हैं, हमारे साथ श्री महेश कटारे हैं, ग्वालियर से आये हैं, प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं, इन्हें आप जानते हैं। विनोद तिवारी जी हैं जो दिल्ली से आये हुए हैं और राहुल सिंह जी और राकेश मिश्र हैं। जैसा कि मेरे मित्र राजेन्द्र शर्मा कह रहे थे कि प्रेम के पहले मिलन में कुछ गड़बड़ियाँ होती हैं, विलंब होता है, लेकिन ये खटकती नहीं हैं, अच्छी लगती हैं। मुझे लगता है, इसी तरह से आप इस सत्र को लें। तो मैं अपने अतिथियों के स्वागत के लिए श्री विनय उपाध्याय को आमंत्रित करता हूँ। चित्रा जी, रोहिणी जी का, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी जी का और हमारे जो मित्र सभा में बैठे हुए हैं, हमारे जो आमंत्रित वक्ता हैं, उनका स्वागत करेंगे। (स्वागत) मैं विनय जी से निवेदन करूँगा

कि श्री महेश कटारे जी का स्वागत वे जहाँ बैठे हैं, वहीं करें। विनोद तिवारी जी, राहुल सिंह जी और राकेश मिश्र जी का भी। मैं बिना किसी लंबी भूमिका के इस सत्र के आधार वक्तव्य के लिए श्री अरुणेश शुक्ल को आमंत्रित करता हूँ। वे युवा आलोचक हैं और आजकल आईसेक्ट विश्वविद्यालय में हम लोगों के साथ भोपाल में हैं, श्री अरुणेश शुक्ल।

अरुणेश शुक्ल

सम्माननीय मंच और मित्रो! आज का विषय है कला और विचारधारा का द्वंद्व। दरअसल उपन्यास के संदर्भ में बात कही जाये तो एक कथन याद आता है मुक्तिबोध का। उन्होंने कहा है कि जीवन किसी वाद के दायरे में बँध नहीं सकता। अगर जीवन किसी वाद के दायरे में बँध नहीं सकता तो चूँकि कला, जीवन के केन्द्र में है और कला उस जीवन का प्रकटीकरण करती है, तो क्या कला या उसमें आने वाला जीवन या उसके प्रकटीकरण को किसी खास विचारधारा के चश्मे से नियंत्रित किया जा सकता है? ...जब कभी भी ऐसी कोई कोशिश हुई कि उस जीवन को किसी एक खास चश्मे से इतना नियंत्रित कर दिया जाये कि जो आप चाहते हैं वही दिखाया जाये, तब ये द्वंद्व ज्यादा सामने आता है। क्योंकि रचनाकार मूलतः स्वतंत्रचेता होता है, कला आपको स्वतंत्र करती है। कला और लेखक अगर स्वतंत्रता के पक्ष में खड़े होंगे, तो जाहिर-सी बात है कि वह स्वतंत्रता सिर्फ आपके विषय में नहीं, जिस विषय में आप लिख रहे हैं, बल्कि आपकी भाषा में, संरचना में, आपकी बनावट में, सबमें दिखाई देती है और इसीलिए, बार-बार ये बहस भी केंद्र में आ जाती है। क्योंकि कला और विचारधारा का इस तरह का द्वंद्व नहीं है, इसीलिए जब लिखने की बात होती है तो विचारधारा को आप टेक्स्ट में लाते हैं अपनी अभिव्यक्ति के लिए। पर चूँकि आप मनुष्यता के पक्ष में खड़े होते हैं, इसलिए आप शायद उस विचारधारा से बाहर जाकर कोई रास्ता निकालने की कोशिश करते हैं और उसमें कई बार अप्रिय सत्य कहना पड़ता है। 'क्या पता कामरेड मोहन' में खासकर के और 'राग केदार' में भी, क्योंकि 'राग केदार' का एक लॉजिकल एक्सटेंशन है– 'क्या पता कामरेड मोहन'

आपके जीवन में एक विचारधारा आपको इतना यान्त्रिक बना देती है कि आप अपने त्यौहार नहीं मनाते, संगीत नहीं सुनते। आपके पास अपने रिश्ते-नाते, माँ-पिता के लिए वक्त नहीं है। ऐसा जीवन किस काम का। ऐसा जीवन समाज का तो कोई भला नहीं करेगा और पार्टी का जो भला हो रहा है, वो हम सब देख रहे हैं। कि पार्टी का भला ये है कि वो नगर निकाय का चुनाव नहीं जीत सकती। जाहिर सी बात है कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि आपने उस भारतीयता को नहीं समझा जिसके तहत आपको मार्क्सवाद का मॉडिफिकेशन करना था। ये उपन्यास इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ये मार्क्सवाद के मॉडिफिकेशन की बात करता है।

हम देख सकते हैं कि ये अप्रिय सत्य है। ये कोई व्यक्तिगत स्वर विलास की चीज नहीं होती कि आप अप्रिय सत्य कह रहे हैं। ये दरअसल एक नैतिक दायित्व होता है किसी भी रचनाकार का। बहुत जरूरी होता है कि वो आपको उन चीजों को दिखाये जिन पर बात करना जरूरी हो गया है। जब पार्टी की मीटिंग बहुत यंत्रणा में बदल जाये, जहाँ एक बहुत बड़े विचार की छाया में किसी अन्य विचार का कोई स्पेस ही न रहे, पहले से ही चीजें तय कर दी जायें, तब एक रचनाकार के पास रास्ता क्या बचता है सिवा इसके कि वो प्रतिरोध करे।

और आप रचनाकार हैं तो उपन्यास में तो करेंगे। टैरी इगल्टन का एक कोट है, जिसको संतोष चौबे जी ने कहीं कोट किया है, शायद 'उपन्यास की नई परम्परा' वाली किताब में, कि पूँजीवादी समय में विचारधाराएँ कला के साथ कई बार वो रिश्ता कायम नहीं कर पातीं जो कला और विचारधारा के बीच में होना चाहिए अनिवार्य रूप से। वो दरअसल इस तरह से नियंत्रित करने लगती हैं चीजों को कि उसमें एक रचनाकार के लिए उसका बचे रहना ही सबसे बड़ा प्रतिरोध हो जाता है। एक रचनाकार,

जो अपने आपको बचाने के लिए इस तरह की कोशिश करता है।

मित्रो, 'क्या पता कामरेड मोहन' ऐसा उपन्यास है जिसमें इतिहास का प्रयोग है। इतिहास का प्रयोग इस मेथड के रूप में है कि आप वर्तमान को कैसे समझ रहे हैं। और आप देखेंगे कि एक विचारधारा है, उपन्यास जिसके केन्द्र में जाता है। एक स्टेट है जो लोगों के वेलफेयर की बात करता है। एक तरफ कला है जो लोक-कल्याण की बात करती है, मनुष्य की स्वतंत्रता की बात करती है और मजे की बात ये है कि तीनों जगह पर 'जन' पूरी तरह नदारद है। उस पूरी कार्यपद्धति में, पार्टी मीटिंग्स में, ऐसी पार्टी मीटिंग्स में जहाँ पर आपके पास जन की भाषा ही नहीं है। आप अँग्रेजी में बात करते हैं, आप उस जन की बात कर रहे हैं जिसको आपकी बात ही समझ में नहीं आ रही है। वो विचारधारा जो कहती है कि इनके लिए खड़े हैं, उसकी मीटिंग्स का क्या हाल है, उसको आप बहुत डिटेल में इस उपन्यास में पढ़ सकते हैं। स्टेट पूँजी के साथ खड़ा हुआ है और भोपाल गैस त्रासदी के अपराधियों को ऐसे जाने देता है जैसे वे अतिथि हों। उन पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जाता है। भारत में प्रत्यार्पण नहीं होता, मृत्यु दी जाती है। न उनको मुआवजा मिल पाता है। संतोष चौबे के उपन्यास दरअसल उस जन को लोकेट करने की कोशिश करते हैं, इस व्यवस्था में कि वो जन कहाँ है। और उस जन को लोकेट करते हुए जाहिर-सी बात है कि वो विचारधारा की चौहद्दी को भी क्रॉस करते हैं और उपन्यास की संरचना को भी क्रॉस करते हैं।

इसीलिए अगर आप पारंपरिक संरचना में इस उपन्यास को देखने की कोशिश करेंगे तो हो सकता है कि वह आपको वहाँ न मिले। कई बार इसीलिए इपिक सेंस से यह तय होता है कि वह उपन्यास है। आज के समय में उपन्यास पुरानी चीजों से नहीं तय होता है। आज के समय में उपन्यास का होना इस बात से तय होता है कि उसमें इपिक सेंस है या नहीं। आप अपने समय में समाज की गतिशीलता को, उसकी पूरी प्रक्रिया में, बदलावों के साथ पकड़ पा रहे हैं या नहीं। इससे तय होता है। और आप जब देखेंगे तो पायेंगे कि बहुत सारे लेयर्स में जिसमें सेल्फ और आइडेंटिटी का द्वंद्व है, जिसमें कला और विचारधारा का द्वंद्व है, जिसमें

पार्टी का द्वंद्व है, तमाम रिश्ते-नाते हैं, इनसे उपन्यास बनता है। आपके जीवन में एक विचारधारा आपको इतना यांत्रिक बना देती है कि आप अपने त्यौहार नहीं मनाते, आप संगीत नहीं सुनते हैं। आपके पास अपने रिश्ते-नाते, माँ-पिता के लिए वक्त नहीं है। तो सवाल ये है कि ऐसा जीवन किस काम का! ऐसा जीवन समाज का तो कोई भला नहीं करेगा और अगर समाज का भला नहीं होगा तो पार्टी का जो भला हो रहा है, वो हम सब देख रहे हैं। कि पार्टी का भला ये है कि वो नगर निकाय का चुनाव नहीं जीत सकती। जाहिर-सी बात है कि ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि आपने उस भारतीयता को नहीं समझा जिसके तहत आपको मार्क्सवाद का मॉडिफिकेशन करना था। ये उपन्यास इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ये मार्क्सवाद के मॉडिफिकेशन की बात करता है और इसमें मार्क्सवाद एक उत्तर-आधुनिक टर्म के रूप में आता है। एक आधुनिक विचारधारा को जब आप उत्तर-आधुनिक टर्म के रूप में लाएँगे तो जाहिर-सी बात है कि उसमें वो सारे संदर्भ जुड़ेंगे जो आज एक उत्तर-आधुनिक समय की देन है। इस चीज को हम बहुत कायदे से जब 'क्या पता कामरेड मोहन' पढ़ते हैं तो उसमें देखा जा सकता है कि फेल्योर ऑफ ग्रेट टेक्स्ट का जो मामला है, अवधारणा पुरानी है, लेकिन उसमें सही मायनों में ये बहस है कि आखिर में मार्क्सवाद को ग्रेट टेक्स्ट कैसे बनाया जाए। तो जाहिर-सी बात है कि उसमें आपको आदिवासियों की बात करनी पड़ेगी। अब तो स्थिति ये है कि पुराना पारंपरिक खाँचा जिसे हम कहते थे कि ये बेस है, ये सुपरस्ट्रक्चर है, वो बदल चुका है। अब आज सुपरस्ट्रक्चर ही बेस हो गया है। ऐसी स्थिति में, इतने सारे बदलावों के बीच में, आप पुराने पारंपरिक ढंग से भारतीय सोसायटी को नहीं समझ सकते क्योंकि उसमें जाति के प्रश्न हैं, उसमें जेंडर का सवाल है, उसमें रिलीजन का सवाल है, उसमें तमाम सारी चीजें हैं। और एक तरफ भूमंडलीकरण के चलते समाज में बदलाव है जो कि बहुत असमान बदलाव है, कहीं ज्यादा है कहीं कम है, इस सबको आपको संबोधित करना होगा। इन प्रश्नों से जूझना होगा और तब जाकर के हम ये कह पाएँगे कि कला में हम जीवन ला रहे हैं। और कला में जीवन ला रहे हैं

तो जिस विचारधारा के तहत हम कोई बात करना चाहते हैं, उस विचारधारा को पहले इन चीजों को समझना होगा। वो सिर्फ डंडा लेकर नहीं चलेगी। तो कला और विचारधारा का मामला ये है कि विचारधारा को जब आप वाईडर पर्स्पेक्टिव में लेकर के समझेंगे, तब जाकर के, चूँकि कला एक विस्तृत पद है, उसके रिश्ते की पड़ताल हो पायेगी। और यदि जीवन किसी वाद के दायरे में नहीं अँटता है, एक बार बहुत पहले विजयदेव नारायण साही ने भी कुछ ऐसी ही बात की थी कि कलाएँ जो हैं, अक्सर बहुत मुक्त वातावरण में पुष्पित-पल्वित होती रही हैं। जब-जब उस पर बंदिश लगाने की बात की गयी है तब-तब उसके परिणाम बहुत भयानक हुए हैं। और इसीलिए आप देखेंगे कि सोवियत संघ का टूटना कोई बड़ी बात नहीं रह जाता। आप देखेंगे कि विचारधाराओं को लेकर, खासकर युवाओं में, जो एक बहस चली, उनके यहाँ उसका विश्लेषण हुआ, वो देखने लायक है। जो बात लोग पहले दबे-छुपे स्वर में कहते थे, मार्क्सवाद की आलोचना करने से बचते थे, वहाँ उसको ये कहा जाने लगा कि तमाम थ्योरी मार्क्सवादी अवधारणाएँ थीं। लेखन में ये बात आने लगी। इसलिए अब आज कला और विचारधारा के संदर्भ में बात करते हुए हमको इन सब संदर्भों को भी समझने की जरूरत है। और खासकर के कुछ टेक्स्ट पहले होते हैं जो समय के साथ और ज्यादा प्रासंगिक होते जाते हैं। उनमें नये-नये अर्थ जुड़ते जाते हैं। और इस संदर्भ में 'क्या पता कामरेड मोहन' और 'राग केदार' को जब एक साथ रखकर पढ़ा जाता है तो 'क्या पता कामरेड मोहन' के कुछ और नये अर्थ निकलते हैं। आज जब आने वाले वक्ता बाद में बात करेंगे, तो समझ में आयेगा कि किन-किन संदर्भों में उपन्यास जाता है। खासकर के शहर के संदर्भ में, एक ऐसा शहर जिसका आप इतिहास समझते हैं। यह एक ऐसी टेक्नीक थी जिसने शहर का बोध कराया, एक पेनोरामा क्रियेट किया। किस-किस ढंग से इसको बसाया गया था। वो शहर क्या होता है जब भोपाल गैस त्रासदी झेलता है, वीरान हो जाता है। यानी आप जिस विकास की यात्रा तय करके पहुँचे, उस विकास में जरूर कोई ऐसी खामी रही कि आपको ये परिणाम भुगतना पड़ा। इसकी बात है कि इतिहास से हमने सीखा नहीं, वर्तमान को हमने इतना

भयावह बना लिया कि बच्चे तक मर रहे हैं। और उधर अपराधी आजाद छूट रहे हैं। इस तरह के तमाम अर्थ नये-नये ढंग से खुलते रहते हैं। फिलहाल यही खत्म करता हूँ, धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

बहुत-बहुत धन्यवाद अरुणेश जी, हमारे साथ डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी हैं और उनको आज एक सेमीनार की अध्यक्षता करना है। लगातार फोन भी आ रहे हैं तो उन्होंने अनुरोध किया है कि थोड़ा क्रम को परिवर्तित करते हुए पहले हम उनकी बात सुन लें तो ये उनके लिए बेहतर होगा। वैसे हम चाहते थे कि डॉ. साब को हम लोग बहुत आराम से और बहुत देर तक सुनते रहें। हमारे समय के श्रेष्ठ व्यंग्य लेखक और जो बहुत महत्त्वपूर्ण सम्मानों से नवाजे जा चुके हैं। पद्मश्री डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी को मैं बहुत आदर के साथ आमंत्रित करता हूँ।

ज्ञान चतुर्वेदी

आदरणीय चित्रा जी, रोहिणी जी, संतोष सर, प्रभु को प्रणाम करके बात शुरू करनी चाहिए। मैं बोलूँगा अपने हिसाब से और वो वाली भाषा मेरे पास नहीं है जो बहुत कहती है और उससे ज्यादा बहुत ज्यादा छिपाती है। जो कहती है, शायद उससे कुछ अलग कहना चाहती है। जो कहती है, उससे बिल्कुल अलग बात साथ में कहती है। वो वाली बात नहीं करूँगा, बड़ी साफ बात करूँगा और ये साफ बात करना व्यंग्यकार कह लें आप, या किसी भी एक ईमानदार रचनाकार के लिए बहुत आवश्यक है। जैसा उन्होंने कहा कि अप्रिय सत्य भी बोलना चाहिए। और अप्रिय सत्य ही किसी भी समय की महत्त्वपूर्ण चीज है। विषय केवल कला और विचार नहीं हैं, कला और विचारधारा। और इस संदर्भ में संतोष जी का उपन्यास है। मैंने केवल एक ही उपन्यास संतोष जी का पढ़ा है– 'क्या पता कामरेड मोहन', तो उसमें बहुत सारी बातें साफ होती हैं, खासकर इस विषय में। और मैं थोड़ी-सी बातें व्यंग्य में और व्यंग्य की भाषा में बोलूँगा तो बुरा मत मानियेगा, क्योंकि वो है न कि हँस-हँस के सच कहो तो बुरा

बड़े कलात्मक ढंग से ये वाली बात संतोष जी ने अपने उपन्यास में इसलिए कही है कि ऐसी विचारधारा के ऐसे ही एक तम्बू में कई सालों रह के उन्होंने तम्बू की अन्दर की गतिविधियों को देखा। और तब वे इस बात को कह सके और ये मैं उनको बधाई दूँगा, कहूँगा कि आपने बहुत बड़ा काम किया, इतनी हिम्मत सबके पास नहीं है।

मानते हैं लोग। तो हँस-हँस के सच तो कहना पड़ेगा, सच ही कहेंगे, रोने की आदत नहीं है। ये शुरू में कह दिया कि सनद रहे। जो बुरा माने उनके लिए और जो बुरा न माने उनके लिए भी।

देखिये, क्या कला और विचार ये विरोधी चीजें हैं, जैसा कि विद्वान लोग बताते हैं। ये वही विद्वान हैं जो भाषा के खेल से कुछ ऐसी बात करते हैं जैसे बिल्ली के बच्चे को एक ऊन का गोला मिल जाए तो इधर-उधर बिखेर दे उसको। और खेल भी हो जाए और बाद में आप ऊन को सुलझाते हुए दिखें, वो स्वेटर बुनने लायक भी न बचे। तो वो वाली बातें नहीं करूँगा, मैं बहुत साफ बात करूँगा। अरे वो तो कलावादी है, ये कहना एक जमाने में एक धोबी-पछाड़ दाँव था हमारे साहित्य में। विद्वान के साथ ये सुभीता रहता है कि न केवल उसके स्वार्थ, उसकी बारीक राजनीति, उसकी हिसाब-किताब चुकाने की नीयत, बल्कि एक हद तक उसकी मूर्खता भी उसकी विद्वत्ता की आड़ में छुप जाती हैं। मैं ये विद्वत्ता वाली बात नहीं करूँगा। विद्वान की छोड़ें, हम कला पे जाते हैं। क्या ऐसा है कि कला आ जाए तो विचार दब जाता है? या ऐसा है कि कला और विचार एक-दूसरे को बल देते हैं? क्या कला किसी एक अलग टापू की एकांत नागरिक है। क्या जीवन के हर प्रश्न का उत्तर किसी एक विचारधारा में डुबकी लगाकर प्राप्त किया जा सकता है। क्या ये विचारधारा गंगा की धारा की टाइप कोई चीज है। कोई पवित्र स्नान है। जहाँ नागा

साधू भी आएँगे और गँवई जन भी आएँगे और पुण्य ले के जाएँगे। कुछ ऐसा वातावरण साहित्य में बना दिया गया है, कि अगर आप इस विशेष धारा के साथ नहीं हैं, घोषित नागरिक अगर इस धारा के नहीं हैं, इस विशेष दल के साथ नहीं हैं तो फिर आपका सारा लेखन संदेह के दायरे में है। सारा लेखन गड़बड़ है। उस पर प्रश्न उठाये जा सकते हैं। और जो इस धारा में उतर गया, वो फिर कैसा भी नंगा हो, उसको तो पवित्रता का बाना माना जायेगा। उस पर मुझे बात करनी है।

ये बात समझने की है कि क्या जीवन इतना सरल है! क्या जीवन इतना एकायामी है! क्या इतना इकहरा है! देखिये, संतोष जी का उपन्यास मैंने बहुत ध्यान से पढ़ा। और उसमें ये वाली बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। अरुणेश उपन्यास की कला की अभी बात कर रहे थे और कह रहे थे कि एपिक सेंस अगर उसमें आ जाए तो उपन्यास है। वर्ना उपन्यास के स्ट्रक्चर में कई बार, संतोष जी का नावेल कहीं इधर-उधर जाता है। मैं थोड़ा सहमत उस पर नहीं हो रहा। मुझे लगता है कि एक बहुत अद्‌भुत प्रयोग है उसमें। तीन पार्ट्स में उपन्यास खतम हो जाता है अपने आप। पहला खत्म हो जाता है– उसने पार्टी छोड़ दी। एक पूरा चलता है वो उपन्यास और पार्टी छोड़ने पर खत्म हो जाता है। उसे पार्टी से निकाल दिया जाता है। लगता है उपन्यास खत्म हो गया। अब क्या बचा? तब संतोष जी एक नयी पैरलल जीवन की घटना लेकर आते हैं, और पूरा एक उपन्यास फिर लिखते हैं। उसी में जो उस जमाने में, उनके जीवन में, साथ में और क्या चल रहा था। व्यक्तिगत जीवन में प्रेम आता है या प्रेम का भ्रम आता है, या प्रेम के बहाने चीजें करने का भ्रम आता है। दो लड़कियाँ आती हैं, उनके जीवन में उनकी पत्नी है उससे उनके संबंध दिखाये जाते हैं। और वो जो कार्तिक है, जो उनका नायक है, फिर उसकी कथा साथ-साथ दिखाई जाती है कि जब वो उस विचारधारा के झगड़ों-टंटों और पार्टी-वार्टी में बँधा हुआ है, तब वहाँ साथ में जीवन क्या चल रहा है। तब मुझे ये लगता है कि दूसरा जो पार्ट है आपके उपन्यास का, वो चलता है आखिर तक। और आखिर में आप फिर पार्टी में जाते हैं। तो आत्महत्या कर लेता है कामरेड मोहन। वो जो पार्ट है वो बताता है, वो

सिद्ध करता है कि जब उसने प्रेम को समझा, जीवन के और आयामों को देखा, तब उसे जीवन समझ में आया। कार्तिक सोचता है कि मैं विज्ञान को सब जगह पहुँचा दूँ, विज्ञान सबको समझ आ जाए तो पूरे लोग फिर अपने आप बदल जायेंगे। पर वह पाता है कि इससे आगे भी और इससे अलग भी कोई जीवन है और जब तक उसको ना समझा जायेगा, जब तक उसको जोड़ा नहीं जायेगा, तब तक ये पूर्ण बात नहीं आयेगी। और कहीं न कहीं अधूरापन महसूस कर रहा है। वो अधूरापन महसूस करते हुए पार्टी को छोड़ता है। तो एक दूसरे उपन्यास का हिस्सा और शुरू होता है। तीसरा उपन्यास का हिस्सा ये बताता है कि ये दो हिस्से जब मिल गये तो अमलगमेट होने पर एक नया कार्तिक जो बना था, उस कार्तिक ने फिर कैसे बिहेव किया। और उस कार्तिक का, बिलकुल ठीक बात है, उसका मार्क्सवाद से मोहभंग नहीं हुआ। वो अभी भी उससे जुड़ा हुआ है पर वो जानता है कि यह एक अधूरा सच है और कई बार अधूरे सच झूठ के बराबर हो जाते हैं। तो अधूरे सच को जो बेचने वाली दुकानें हैं हमारे हिंदी लेखन में भी, वो अधूरे सच की दुकानें थॉट खड़ा करने वाली दुकानें हैं। ये उपन्यास उनके खिलाफ जाता है। उन्हें ये अच्छा लगे या बुरा लगे, ये बात अलग है। जब आप सच कहते हो तो इस बात के लिए तो आपको तैयार होना ही चाहिए कि कुछ लोगों को बुरा लगेगा। क्योंकि हर आदमी सच के साथ नहीं खड़ा हुआ है।

देखिये, विचारधारा की बात आई। विचारधारा में मुझे अपने दादाजी का समय याद आता है। हमारे घर में एक दवा रखी रहती थी– अमृतधारा। पता नहीं कई लोगों के घर में शायद अभी भी होगी। अमृतधारा होती थी एक दवाई की शीशी। हमारे दादा जी का उस समय उस पर अगाध विश्वास था। घर में किसी को उल्टी हो, दस्त लगे, खाँसी आ जाए, दमा हो जाए, भगंदर हो जाए– सबका इलाज है पहले अमृतधारा पिलाई जाए। इसमें सबका सॉल्यूशन है। कहते थे, अमृतधारा दे दो, ठीक हो जायेगा। देखिये क्या है, अंधविश्वास के भी बड़े मजे हैं। जब विचारधारा एक अंधविश्वास में तब्दील हो जाए तो आपको बड़ा सकून देती है। क्योंकि फिर आपके लिए सोचने को बचा नहीं। बस उतना ही तो है। हम अपने

सारे उत्तर इसी में खोजेंगे और जो उत्तर नहीं मिले, वो फिर छोड़ दिये। उनको हम प्रश्न ही नहीं मानते। जिन प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं, वो अति प्रश्न हैं। तो जब आप विचारधारा को अमृतधारा की शीशी में बदल दें और हमारे दादाजी कहते थे बहुत टाइट शीशी बंद रखो, बाहर की हवा मिल गयी, फिर असर नहीं रहेगा दवाई में। आम तौर पर जब असर नहीं होता था तो कहते थे, तुमने टाईट बंद नहीं की होगी, टाईट बाँध देते तो बहुत बढ़िया रहता। तो हमारे यहाँ विचारधारा को अमृतधारा की शीशी में तब्दील कर दिया गया है और टाईट शीशी रखते हैं। तुमने कहीं उस लेखक संघ के विरुद्ध कुछ बात तो नहीं कह दी! तुमने उस पार्टी में बात अपनी कुछ दूसरी तो नहीं कह दी। जो आप पर विचारधारा की छाया थी, उससे आपने एक पंजा तो बाहर नहीं निकाल दिया! अगर निकाल दिया तो गड़बड़ हो गयी। फिर तो अमृतधारा खराब हो गयी। अब ये दस्त पर भी असर नहीं करेगी, किसी पर नहीं करेगी। तो आपने जो उपन्यास लिखा है, ये विचारधारा के अमृतधारा बनने की त्रासदी पर लिखा है। मैं यही कहूँगा, असल में संतोष जी का ये उपन्यास जो है, वो इसी बात की बड़ी संतोषजनक पड़ताल करता है कि विचारधारा के तट पर जो आश्रम बना के अपनी संतयी चला रहे हैं, संतगिरी चला रहे हैं, उनसे उस विचारधारा में कितना कचरा पहुँच रहा है, उस आश्रम से। ये उसकी पड़ताल है। विचार के साथ आपने जो विचारधारा शब्द डाला, क्योंकि हम रोक नहीं सकते विचारधारा एक निरंतर प्रवाह है। विचार को जहाँ आप रोकते हो गड़बड़ हो जाती है। तो विचारधारा जो आपने शब्द लिया, कहाँ-कहाँ गड़बड़ हुई, क्या किसी भी विचार में कमी थी! या किसी भी विचार में ऐसी कमी होती है, वो विचार बिगड़ता कहाँ से है!

ये उपन्यास कथा भी है। जब विचार को रेजीमेंटेशन करने की जरूरत पड़ती है, जब हम विचार को एक रेजीमेंटेशन में तब्दील कर देते हैं, जब आप एक फौज खड़ी करना चाहते हैं, विचार के बहाने, आप अपना एक हरावल दस्ता जिसे आप कहते हैं, वो तैयार करना चाहते हैं, जब आप हरावल दस्ता तैयार करते हैं तो वास्तव में हरावल दस्ता तैयार नहीं कर रहे हैं। आप गिरोह तैयार कर रहे हैं। तो जब आप एक संघ को गिरोह

में तब्दील करना चाहते हैं, तब जाकर बातें गड़बड़ होती हैं। अभी लेखक संघ की बात कर रहा हूँ, मैं पार्टी की बात नहीं कर रहा। वो तो एक गिरोह में तब्दील सभी राजनैतिक पार्टियाँ हो गयी हैं। वो बड़े गिरोह हैं, उनकी तो बात ही छोड़ दीजिये। मैं तो, बुद्धिजीवियों का जो गुट है इन पार्टियों के अंदर, उनकी बात कर रहा हूँ। वो जब गिरोह में तब्दील हो जाते हैं और रेजीमेंटेशन करने की बात जब आती है, तो विचार पीछे छूट जाते हैं। फिर विचार नहीं रहा, फिर तो आप अस्त्र-शस्त्र की भाषा, जो हरावल दस्ता है, आक्रमण बचाव, छापामार हमला, ये आपस में चल पड़ता है। ये साहित्य में बहुत हो रहा है, आप देखते हैं, विचार पीछे छूट जाता है, पावर गेम शुरू हो जाता है। ये पावर गेम की कहानी भी है, संतोष जी का उपन्यास। एक अद्‌भुत विचार भी जब कुर्सी, पद, शक्ति परीक्षण और विचार के नाम पर खड़ी की गयी संस्थाओं का संघ, फौज, गिरोह पर कब्जे की नीच लड़ाई में तब्दील हो जाता है तो वो स्थिति उत्पन्न होती है, जहाँ पर कार्तिक को भागना पड़ता है। अपने सारे अच्छे विचार और अच्छी इच्छाएँ ले के उसे वो जगह छोड़नी पड़ती है।

बड़े कलात्मक ढंग से ये वाली बात संतोष जी ने अपने उपन्यास में इसलिए कही है कि ऐसी विचारधारा के ऐसे ही एक तंबू में कई सालों रह के उन्होंने तंबू की अंदर की गतिविधियों को देखा। और तब वे इस बात को कह सके और ये मैं उनको बधाई दूँगा, कहूँगा कि आपने बहुत बड़ा काम किया, इतनी हिम्मत सबके पास नहीं है। लोग क्या हैं, मुँह-देखी बातें करते हैं। कहने के पहले केल्क्यूलेट करते हैं। गणित बहुत है हमारे साहित्य में। हमारी व्याकरण चाहे जितनी कमजोर हो, हमारा गणित बड़ा तगड़ा है। तो हम जो हैं गणित से चलने वाले लोग हैं। हम गणित देखते हैं। तो जब गणित के विरुद्ध आप चले गये, वह बहुत बड़ी बात है। क्योंकि विचारधारा को पवित्र नदी के किनारे आश्रम हैं, मठ हैं, तंबू हैं और जो महंत पैदा हो जाते हैं, वो बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं कीर्तन की भीड़ इकट्‌ठी कर लेते हैं। गोष्ठियों के भंडारे कर लेते हैं। फेनेटिक चेलों की भीड़ इकट्‌ठी करते हैं। फेनेटिसिज्म किसी भी तौर पे खराब है। कोई भी विचार जब फेनेटिज्म में तब्दील हो जाता है तो फिर

विचार का कोई परिमार्जन संभव नहीं है। वहाँ से वो सड़ना शुरू हो जाता है। वो विचार जहाँ से भी जिसने भी चालू किया है, चाहे धर्म के रूप में किसी धार्मिक संप्रदाय में बदल जाए या किसी वैचारिक आंदोलन का भी हश्र वहीं जा के हो सकता है जब आप उसको लेकर फेनेटिक हो जाते हैं। आप जब विचार को रोक देते हैं तो धारा नहीं रह जाती। धारा को तो बहना है, उसमें नयी धाराएँ मिलना चाहिए। विचार में नये समय के साथ परिवर्तन आने चाहिए। पर हम ऐसा नहीं करते। विचार को बाँध देते हैं तो वह पोखर में तब्दील होगा। हम कहते हैं बाँध खड़ा कर रहे हैं। इससे बिजली पैदा होगी हमारे विचार की। ऐसे बिजली वाले बाँध बहुत खड़े हैं, जिनसे बिजली तो पैदा नहीं हो रही, गाद इकट्‌ठी हो रही है। जो फिर भरती है तो विचार को भी खत्म करती है बाँध को भी खत्म करती है। और एक भीने किस्म की गंध व्याप्त होती है उस गाद की। तो हमारे ज्यादातर जो वैचारिक संगठन हैं, इस तरह के संगठन हैं। उनमें इस कदर आपने चीजों को बाँध दिया कि वो जो कामरेड का दफ्तर भी है, उसमें आपने दिल्ली ऑफिस की चर्चा की है, जब जाते हैं मिलने तो वो आपकी बात ही नहीं सुन रहे हैं। उनके पास पहले ही शिकायत आपकी आ चुकी है। पत्र वहाँ पड़ा हुआ है और आप उससे बात कर रहे हैं। वो सारा क्या है– उस जगह कार्तिक बैठ कर सोच रहा है। उसे वो गंध आ रही है। अब आप इस गंध में दो ही तीन तरीके से रह सकते हैं। या तो आप अपनी घ्राणशक्ति खत्म कर दें। सूँघने की अपनी संवेदना ही खत्म कर दें या फिर इसी गंध में मजा लेने की आदत डाल लें। आप इसमें मजा लेने लगें तो बात ही कुछ और है। या फिर आपको कार्तिक की तरह उस चीज से निकलना ही पड़ेगा। जो इन विचारधारा को बैठ के सड़ा रहे हैं और खमीर बना रहे हैं, इसका वो खमीर पैदा करके शायद कुछ आगे हो सकता है कि खाद्य पदार्थ बनाते हों या पता नहीं अब तक तो हलवाई की दुकान में वो चीज आई नहीं है। मुझे लगता है कि ये आपका उपन्यास बहुत हिम्मत से लिखा गया है। मैं एक बहुत खराब-सा शब्द, श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है उपन्यास में, अब उसमें आ गया है तो बोल सकता हैं कि जिसकी पूँछ उठाते हैं वही मादा नजर आती है। इसमें मादा को

स्त्रीविरोधी, कृपया न लें। मैं उसको गाँव के टर्म में कह रहा हूँ कि जो बड़े बन रहे थे बहादुर, वो बातें कहने वाली अलग बात है पर जो उपन्यास लिख के बाकायदा रिटन कमिटमेंट करते हैं, अपनी सोच के प्रति, तो ये बहुत बड़ी बात है। मैं आपके इस उपन्यास का दोनों तरह से कायल हूँ कि आपने जो बात कही, वो अद्‌भुत कही, बड़ी हिम्मत से कही और बड़ी कलात्मक ढंग से कही और उपन्यास में आपने एक बिल्कुल नया स्ट्रक्चर खड़ा करने की कोशिश की। नयी तरह से बात कहने की कोशिश की। मैं दोनों बातों के लिए आपको साधुवाद देता हूँ। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

धन्यवाद डॉ. साहब, आपने आग को बारूद के काफी करीब रख दिया है और जो विस्फोट होंगे तो आप ही की शरण में जाना पड़ेगा हम लोगों को। मित्रो, हमारे सत्र में हस्तक्षेपकर्ता भी हैं और श्री राकेश मिश्र को इस हेतु हमने आमंत्रित किया है।

मेरा उनसे अनुरोध है कि जब उनका मन चाहे वो हस्तक्षेप करें। मुझको इशारा कर दें और जब उनका मन न करे, सुनते रहें। ये उनकी स्वतंत्रता है जिसमें कोई बाधा नहीं है। मैं अपने सभी आमंत्रित वक्ताओं से अनुरोध करूँगा कि वो अधिकतम दस मिनट में अपनी बात करें तो हम सबको सुविधा होगी। अब मैं बहुत स्नेहपूर्वक बुलाता हूँ श्री राहुल सिंह को, जो झारखंड देवघर से आये हुए हैं और वहाँ कॉलेज में आप असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। युवा आलोचक हैं, और इन्होंने, जो 'पहल' के पाठक होंगे उन्होंने देखा होगा कि, 'पहल' में इन्होंने बहुत ही महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है। राहुल सिंह जी, कृपया पधारें। आपने कथा और फिल्मों पर भी काफी लिखा है।

राहुल सिंह

आदरणीया चित्रा जी, रोहिणी जी और सभा में उपस्थित मित्रो, 'कला और विचारधारा' के अंतर्गत संतोष चौबे के उपन्यासों पर बात करनी है। कुछ

लोग कला और विचारधारा पर ज्यादा बोल कर गये। लेकिन विषय की, जहाँ तक मैं समझ रहा हूँ, बुनियादी टेक ये है कि कला और विचारधारा के मसले पे इनके उपन्यासों के बाबत बात की जानी है। दो उपन्यास हैं 'राग केदार' और 'क्या पता कामरेड मोहन'। 'राग केदार' मैंने पढ़ा नहीं है और 'क्या पता कामरेड मोहन' पढ़ने के क्रम में केदार नाम का चरित्र आता है। मुझे ऐसा लग रहा था कि संभव है कि ये केदार जो है, वो 'राग केदार' से निकल कर आया है। और अरुणेश की बात से इसकी तस्दीक होती है कि ये उसका एक्सटेंशन है। पर चूँकि मैंने 'राग केदार' पढ़ा नहीं है तो मैं अपनी बातों को 'क्या पता कामरेड मोहन' के संदर्भ में ही रखूँगा। अब दो बातें हैं कि 'कला और विचारधारा' के संदर्भ में विचार करते हुए इस उपन्यास की खूबियों पर और कमियों पर बात की जाए। वक्त कम है तो किसी एक ही पक्ष के साथ न्याय किया जा सकता है। अब मौका है तो उपन्यास क्यों पढ़ा जाना चाहिए, उसके कुछ बिन्दुओं की ओर से कुछ बातें निवेदित करूँगा। मुझे इस उपन्यास को पढ़ने की जो चार वजहें मिलीं, वो चार मुद्दे थे।

एक तो भोपाल गैस त्रासदी, जो इसका एक हिस्सा है। उस हिस्से को पढ़ें हम तो कई चीजें हमें मिलती हैं। हालाँकि अभी-अभी एक फिल्म भी आई 'भोपाल ऑफ्टर फुल रेन'। इस फिल्म को जब देखेंगे और उपन्यास को जब देखेंगे तो कुछ अंतर्विरोध भी दिखते हैं। इन अंतर्विरोधों की मैं चर्चा नहीं करूँगा। मैं कहना सिर्फ ये चाहता हूँ कि भोपाल गैस त्रासदी के संदर्भ में जो हमारे कला-रूप हैं, उसमें कम चीजें मिलती हैं और इस उपन्यास में वो है। इसके अलावा भोपाल के इतिहास पर एक अलग ढंग से रोशनी भी पड़ती है, इमारतों के निर्माण से लेकर दूसरी चीजों पर भी जो एक दूसरे स्तर पर हमें समृद्ध करती है। उस लिहाज से भी इसको पढ़ना एक अच्छा अनुभव है। राजेश जोशी ने भी अपनी किताब 'किस्सा कोताह' में कुछ इस तरह की चीजों को शामिल किया है। लेकिन एक बात जो महत्त्वपूर्ण है इस इतिहास के संदर्भ में, वो ये कि संतोष चौबे बताते हैं कि, वो जो एक परम्परा रही है भोपाल में, वे एक लाइन लिखते हैं और इसका उदाहरण वो देते हैं कि नवाब भले ही यहाँ मुसलमान होते

जो सबसे महत्त्वपूर्ण कारण लगता है मुझे इस उपन्यास के सन्दर्भ में, वो है हमारी जो वामपन्थी पार्टी है, उस पार्टी की जो कार्य संस्कृति है, उसको लेकर जो एक संवादधर्मिता पैदा करने की कोशिश या संवाद की जो कोशिश इन्होंने की है। वो संवाद किसी संवादहीनता से उपजा है। उसको जब वहाँ सम्बोधित नहीं किया जा सका, वहाँ बात नहीं की जा सकी, तब इस रूप में उन चीजों को सामने रखा गया और मैं इस हिस्से के कारण इस उपन्यास को पढ़ने का निवेदन आपसे करता हूँ कि इस कारण से इसे जरूर पढ़ा जाना चाहिए।

रहे हों लेकिन दीवान जो हैं, हिन्दू रहते आये हैं। तो ये जो एक परम्परा रही, जिस गंगा-जमनी तहजीब या सामासिकता की संस्कृति की हम बात कहते हैं, उसकी एक परिपाटी को वो लक्ष्य करते हैं। और जो सबसे महत्त्वपूर्ण कारण लगता है मुझे इस उपन्यास के संदर्भ में, वो है हमारी जो वामपंथी पार्टी है, उस पार्टी की जो कार्य-संस्कृति है, उसको लेकर जो एक संवादधर्मिता पैदा करने की कोशिश या संवाद की जो कोशिश इन्होंने की है। वो संवाद किसी संवादहीनता से उपजा है। उसको जब वहाँ संबोधित नहीं किया जा सका, वहाँ बात नहीं की जा सकी, तब इस रूप में उन चीजों को सामने रखा गया और मैं इस हिस्से के कारण जो है इस उपन्यास को पढ़ने का निवेदन आपसे करता हूँ कि इस कारण से इसे जरूर पढ़ा जाना चाहिए। खासकर के जो हमारे वामपंथी मोर्चे हैं, वो एक पार्टी-लाइन के नाम पर या अपने पार्टीगत संस्कार के कारण बहुत-सी चीजों को जोड़ पाने में या जोड़ने को इच्छुक नहीं हैं। उसको लेकर जो लगातार संवादहीनता की स्थिति है, उसको जिस ढंग से वो रखते हैं, मैं उसी पर अपनी बात केंद्रित कर रहा हूँ।

वे कहते हैं कि नई तकनीकें जो विकसित हो रही हैं उन तकनीकों के बारे में हम किस ढंग से सोच रहे हैं। पार्टी किस ढंग से सोच रही

है। उसके बारे में उसकी राय क्या है। वो क्लास के स्ट्रक्चर पे किस ढंग से सोच रही है। उससे इतर जा के सोचने के दरवाजे ये खोलते हैं। ये कहते हैं एक जगह पर ग्रामीण क्षेत्रों में कारीगरों की जरूरत के अनुसार तकनीक की तलाश की जानी चाहिए। जोर देते हैं कि जो पारंपरिक ज्ञान बिखरा पड़ा है हमारे गाँव में, उनको संकलित किये जाने की जरूरत है और पारंपरिक ज्ञान को अगर हम संकलित करें तो उसका अपना शास्त्र निर्मित हो सकता है। वो हमारे लिए उपयोगी साबित हो सकता है। उसमें वो बताते हैं कि इसमें जो वनस्पतियाँ हैं, जिसके उपयोग के बारे में ग्रामीणों के पास एक बेहतर समझदारी मौजूद है, उसका डॉक्यूमेंटेशन किया जाना चाहिए। कृषि की तकनीकें जो उनके पास मौजूद हैं, उस पर काम किया जाना चाहिए। और उनकी अपनी जो पूरी जीवन-पद्धति है, उसमें प्रकृति के चक्र को जिस ढंग से उन्होंने संरक्षित किया है, उसे देखा जाना चाहिए। आज जब सस्टनेबल डेवलपमेंट और दूसरी चीजों की बात हम करते हैं, उस संदर्भ में उस पूरे परिवर्तन को वे रखते हैं। कि इन सब के बारे में पार्टी सोचती क्या है। इसको कैसे हम समावेशित करें कि हमारा दायरा बड़ा हो। इससे आगे वो विज्ञान को शामिल करना चाहते हैं कि वैज्ञानिक नजरिये को किस ढंग से पार्टी के कार्यक्रमों का हिस्सा बनाया जाये। वो मानते हैं कि विज्ञान एक अलग अनुशासन है और उसको बरतने की तमीज, विज्ञान से जो जुड़े हुए लोग हैं, ज्यादा बेहतर तरीके से कर सकते हैं। लेकिन वो बताते हैं कि पार्टी में हर ऐसे अवसर पर चाहे वो विज्ञान का मसला हो, या संस्कृति का मसला हो या कोई भी मसला हो, कुछ ही लोग हैं जो उन मसलों को संबोधित करते हैं। उसमें जो विशेषज्ञ हैं, उनको शामिल किया जाना चाहिए। दूसरा सवाल वो इसके साथ जोड़ कर उठाते हैं कि आखिर ये विचारधारा जो है, वो टेक्नोक्रेट या साइंटिस्ट या दूसरे वैसे लोगों को क्यों नहीं आकर्षित कर पा रही है। क्यों नहीं उसका दायरा फैल रहा है। वो कौन से मोर्चे हैं जिसके कारण हम नाकामयाब हो रहे हैं। कि अगर हम उसी जमीन पर खड़ा रह कर अपने आंदोलन को बड़ा करने की चाहत रखेंगे तो उसमें कामयाब होना मुश्किल है। क्योंकि वो करके हमने देख लिया है। जरूरत इस बात की

है कि उसके नये सवाल, उसके नये दरवाजे खोले जाएँ। नयी चीजों को शामिल किया जाये और वैज्ञानिक दृष्टिकोण उनका इसलिए है कि ये मानते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बढ़ावे के साथ जो धार्मिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति है, उसका प्रतिरोध किया जा सकता है। क्योंकि जैसे वैज्ञानिकता बढ़ेगी, वैसे पुनरुत्थान को एड्रेस किया जा सकता है। उसकी कट्टरता पर अंकुश लगाया जा सकता है। और ये कहते हैं कि अगर हमें उस आंदोलन के दायरे को बढ़ाना है तो जनता की जरूरतों को पहचानना होगा। स्थानीय जरूरतों को तवज्जो देनी होगी।

जब ये स्थानीय जरूरतों वाली बात आती है तो यहाँ मुझे गाँधी याद आते हैं, क्योंकि उनका सबसे ज्यादा जोर उनके ग्राम स्वराज पर है। हिन्द स्वराज में इस पर बहुत ज्यादा बल लगा है। तो मार्क्स का अगर हम विस्तार करना चाहते हैं तो उसमें कहीं न कहीं गाँधी को भी शामिल करना पड़ेगा। गाँधी एक पीठिका के तौर पे तो मौजूद रहेंगे। दबे ढंग से ये स्वर इसमें विकल्प के तौर पर शामिल है। दूसरा पार्टी कार्यकर्ताओं के संदर्भ से ये सवाल उठाते हैं कि उनके अपने घर हैं, जरूरतें हैं, वो घर और उनकी जो जरूरतें हैं, उनका जो खर्चा पूरा होना है, उसके बारे में जो संदेह की स्थिति है, या जो उनके साथ दिक्कतें हैं, उनको कैसे नोटिस किया जाये। ये बहुत बुनियादी, बहुत छोटी-छोटी चीजें हैं, जिससे उपन्यास का वो हिस्सा बढ़ता जाता है। आगे वो बताते हैं अपनी दिक्कतों के बारे में कि इन सबको वो जब पार्टी फोरम में रखते हैं कार्तिक के मार्फत, तो दिक्कतें कौन-सी आ रही हैं। कहते हैं कि वामपंथियों की सबसे बड़ी दिक्कत ये है कि वो अपने ही बीच घूमते रहते हैं और क्रांति करते रहते हैं। दूसरे क्या सोचते हैं, उनकी दृष्टि क्या है, इसके बारे में उन्हें खबर तक नहीं रहती है। हम असहमत हो सकते हैं, लेकिन एक बड़े हिस्से के साथ ये सच्चाई लागू होती है। दूसरा वो जो अभी तक व्यापक तौर पर एनवायरनमेंट मूवमेंट है, उसके बाबत वो सवाल उठाते हैं कि जो आदिवासी आंदोलन है, जो पर्यावरण से जुड़े आंदोलन हैं, जो स्त्री-प्रश्न हैं, अल्पसंख्यकों के जो सवाल हैं- इन सवालों को उस मार्क्सवाद के खाँचे में हम कहाँ रखना चाहते हैं। और अगर हम उसको संबोधित न करें,

एडजेस्ट न करें तो चीजें हम जोड़ेंगे कैसे, अपने दायरे को फैलाएँगे कैसे! जवाब इसका जो है वो हिस्सा मैं कोट करना चाहता हूँ अगर वक्त हो तो। थोड़ा ही सा हिस्सा है, मैं पढ़ना चाहता हूँ कि जिसमें वो पूछते हैं कि इन सब चीजों में पार्टी की राय क्या है। जवाब है कि पार्टी मूल द्वंद्वों के आधार पर अपना संघर्ष आगे बढ़ाना चाहती है। इस पर सवाल दूसरा होता है कि हमने चार तरह के वैश्विक द्वंद्वों की पहचान की है। हम उन्हीं के आधार पर आगे बढ़ना चाहते हैं। हालाँकि मैं आपकी बात मानता हूँ। नये आंदोलनों के साथ में रिश्ते बनाने चाहिए। ये कामरेड का जवाब है। इस पर वो कहते हैं कि आपको नहीं लगता, इसमें हमारा थ्यौरीटिकल फ्रेमवर्क आड़े आता है। न दलित हमारे पास आ रहे हैं न आदिवासी और माफ कीजिये माइनॉरिटिज भी कोई बहुत आपके साथ नहीं हैं। इसका कोई जवाब उन्हें नहीं मिलता है। पहले सत्र की लड़की उससे एक सवाल पूछती है कि कामरेड मुझे लगता है कि समाज सिर्फ द्वंद्व के आधार पर नहीं चलता, कई अन्य भावनाएँ या जज्बात भी होते हैं जिनके वशीभूत लोग काम करते हैं। जैसे राष्ट्रभक्ति एक जज्बा है। आदमी इसके लिए प्राण भी देता है या प्रेम एक भावना है जो आदमी से बड़े-बड़े काम करवाती है। हम ऐसे स्फुरणों के आधार पर भी तो काम कर सकते हैं। इसका जो जवाब है वो महत्त्वपूर्ण है कि शायद ये सही हो पर ये सब सुपरस्ट्रक्चर का हिस्सा है। मूल द्वंद्व इकोनॉमी है।

कहने का आशय ये है कि जिस मूल द्वंद्व के फेर में या जिस मूल द्वंद्व के टेक पे रखकर हम अब भी सोचने के अभ्यस्त हैं, अब उससे जो चीजें हैं संबोधित नहीं की जानी हैं, न दायरा बढ़ना है। अगर हमें अपने दायरे को बढ़ाना है तो कुछ चीजों को शामिल करना होगा। और फिर सवाल आता है कि इस पर निर्णय कौन लेगा! पार्टी लेगी, पार्टी जो एक अमूर्त संस्था है। लेकिन वो उसके छद्म को भी उजागर करते हुए वहाँ तक पहुँचते हैं कि आखिर निर्णय जो है एक कमेटी पर निर्भर है और निर्णय कुछ लोग ही लेते हैं। तो हमें लगता तो है कि एक जनतंत्र तो है निर्णय के स्तर पर, लेकिन वो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह सीमित है। ये बाकायदा उपन्यास में है। वहाँ है कि ऑल आर इक्वल्स बट सम

आर मोर इक्वल। तो ये जो चीजें हैं इस रूप में, मैं उपन्यास के इस हिस्से को ज्यादा महत्त्वपूर्ण पाता हूँ। कमियाँ उपन्यास की हैं। दूसरी कमियाँ भी हैं। उनकी भी चर्चा की जानी चाहिए क्योंकि कमियाँ, मुझे लगता है, कि मनुष्य को भी मानवीय बनाती हैं। अगर कमियाँ न रहें तो मनुष्य नहीं रहेगा। मसलन ये कि कुछ हिस्से थे जिनको अगर लोभ-संवरण किया जाता और शामिल न किया जाता तो, उपन्यास ज्यादा कसा हुआ होता। एक जैसे विलियम्स और रति का जो प्रसंग है। तो वो जब अचानक से उपन्यास में आता है तो उसकी बहुत उपयोगिता समझ में नहीं आती। वैसे आज तक मैंने ऐसा कहा नहीं क्योंकि ये कहना रचनाकार का अपमान करना होता है कि ऐसा हुआ होता। इसलिए उसके विस्तार में मैं नहीं जाऊँगा। बहरहाल, मैं इतना कहना चाहता हूँ कि ये चार नुक्ते हैं और खासकर के जो वामपंथी मोर्चे की चिंताएँ हैं, वो चिंताएँ ज्ञान चतुर्वेदी जी वाली चिंताएँ नहीं हैं, जिस ढंग से वो कह रहे थे लेखक संगठनों और दूसरे के बारे में। ये चिंता जो है उसको समद्ध करने से उसको मजबूत करने से जुड़ी चिंताएँ हैं। एक सरोकार से उपजी हुई चिंताएँ हैं। उसको उसी रूप में लिया जाना चाहिए। धन्यवाद!

मुकेश वर्मा

बहुत-बहुत धन्यवाद, राहुल जी! राकेश मिश्र जी हस्तक्षेप करना चाहेंगे। अगर करना चाहें तो पधारें। समय का थोड़ा ध्यान रखेंगे।

राकेश मिश्र

मंच पर उपस्थित आदरणीया चित्रा जी, रोहिणी जी, मुकेश भाई और सभागार में उपस्थित हमारे अग्रज मित्रो, संतोष चौबे जी। मित्रो, ये विषय 'कला और विचारधारा' एक व्यापक परिदृश्य और संदर्भ को समेटे हुए है। और इस संदर्भ में संतोष चौबे जी के उपन्यास की बात करते हैं तो कहीं न कहीं, वह कई स्तरों पर, उपन्यास के टेक्स्ट के संबंध में भी और उपन्यास के कथ्य के संदर्भ में भी, और उपन्यास में चीजें जिन स्तरों पर चलती हैं उसके संदर्भ में, खुलती दिखाई देती हैं। खासकर जब हम इस

यह उपन्यास जिस समय आया था, उससे ज्यादा प्रासंगिक अब इस समय है। इस उपन्यास के, ठीक है कि चौबे जी की षष्टिपूर्ति के अवसर पर ही सही, पुनर्पाठ की आवश्यकता है। इस उपन्यास के पुनर्पाठ का सन्दर्भ यह भी है कि ये उपन्यास आज ज्यादा प्रासंगिक और ज्यादा जरूरी तरीके से पढ़े जाने की माँग करता है।

उपन्यास को पढ़ते हैं और इस उपन्यास के प्रकाशन के समय को देखते हैं तो वह समय पूरे हिन्दी प्रदेश में या पूरे हिन्दी हलके में एक बहुत बेचैनी का समय था। सोवियत संघ के टूटने का समय था और इसके अलग-अलग जवाब तलाश किये जा रहे थे कि आखिर ऐसा क्यों हुआ! एक महान स्वप्न हमारे देखते-देखते इस तरह से बिखर गया। एक मोहभंग और हताशा का समय था। बहुत से लोग एक सुविधाजनक जवाब भी तलाश रहे थे। अंतरराष्ट्रीय एक कहानी है कि सोवियत संघ क्यों टूटा, यही शीर्षक है उसका। तो कहता है कि अपने अंतर्विरोधों से टूटा। यह एक बहुत स्मार्ट-सा एक जवाब था। इसके अपने अंतर्विरोध थे, लेकिन कुछ लोग थे जो इन सवालों को इसकी गहराई में जाकर समझने की कोशिश कर रहे थे। कि आखिर जो विचारधारा अपने आपको वैज्ञानिक विचारधारा कहती है– वैज्ञानिक समाजवाद इसका नाम है– और वो मानती है कि इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण है उसका वैज्ञानिक होना है, यह किसी आस्था या किसी इस तरह की चीजों से संचालित नहीं होती है। लेकिन आखिर वो वैज्ञानिक विचारधारा बन कर रह गयी थी। जब हम उस समय के मार्क्सवाद की बात करते हैं तो कुछ खास पदावलियों, शब्दावलियों की बात करते हैं। बुर्जुआ, पेटीबुर्जुआ, बेस, स्ट्रक्चर इसकी बात करना ही क्या केवल मार्क्सवाद था! वह जो एक चेतना बननी चाहिए थी, जिस वैज्ञानिक चेतना की बात करनी चाहिए थी मार्क्सवाद को, वह वहाँ जाकर के रुक जा रही थी। जैसा कि राहुल ने कई बातों की तरफ इशारा किया, कई तरह के पूर्वाग्रहों की ओर। जब हम उनमें फँसते हैं तो

दुराग्रहों में फँसते हैं। यह वो उपन्यास नहीं है कि जो सिर्फ सेल्फ क्रिटिसिज्म का सवाल उठाता है कि हम अपने अंतर्विरोधों को खोजें, बल्कि वो जानना चाहता है कि अंतर्विरोधों में कौन-से तत्त्व हो सकते हैं, उसकी कौन-सी चीजें हो सकती हैं जिस पर हमको खुल कर बात करनी चाहिए थी। खासकर कला और विचारधारा के संदर्भ में। वहाँ सिर्फ उसमें एक पात्र आता है जिसको, हम रास्ते में चर्चा भी कर रहे थे विनोद तिवारी सर से, कि अपूर्वानन्द नाम का एक पात्र है जो इस तरह के कलारूपों को देखता है। उससे जब पूछा जाता है कि कैसा लगा आपको तो वह कहता है शुद्ध चूतियापा है। मतलब इस तरह से वो देखता है और एक फतवा जारी कर देता है। उपन्यास के एक चलते हुए हिस्से में आता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद यदि मार्क्सवाद का एक सत्य है, यदि सबकुछ नियति ही है तो मनुष्य की उपस्थिति क्यों है, यदि सबको समाजवाद की तरफ जाना ही है, ऐतिहासिक नियतिवाद के तारतम्य में, तो व्यक्ति करेगा क्या? इस सवाल को दार्शनिक स्तर पर कई लोगों ने पहले भी उठाया है। हेमिंग्वे ने बड़े दूसरे संदर्भों में उठाया कि आखिर मनुष्य की ये पूरी ताकत क्या करती है! वह स्थिति में किस तरह से हस्तक्षेप करती है। उसकी अपनी दूसरी कौन-सी चीजें ऐसी होती हैं, जैसे राहुल ने कहा कि वह देशभक्ति या दूसरी ऐसी चीजें हैं, उसको भी दार्शनिकों ने अलग-अलग तरीके से उठाया। लेकिन जब हम सिर्फ एक विचारधारा को इस तरह की कुछ सीमित शब्दावलियों में समेटकर बात करते हैं तो न्याय नहीं कर रहे होते। पार्टी में ये सवाल बहुत द्वंद्वात्मक होना चाहिए। तो यह कोई अचानक का सवाल नहीं था। सवाल है कि हमने अपनी उन परम्पराओं से ऐसे सवाल उठाने वाले को नजरअंदाज भी किया था। ये सवाल आपको याद होगा कि 'मैला आँचल' में या 'परती परिकथा' में रेणु बहुत मजबूती से उठाते हैं। अपनी कहानियों में उनके कई इस तरह के संदर्भ मिलते हैं। संतोष चौबे के बाद के कई रचनाकारों ने भी इन्हें उठाया है। अखिलेश भाई की एक कहानी है– 'यक्षगान'। उसमें जब एक लड़की अपहरित होती है और वो अपने पार्टी के सेक्रेटरी के पास जाती है कि हमको इस पर काम करना चाहिए, उसकी कोई खोज-खबर लेनी चाहिए तो वह

कहता है कि इसमें आर्थिक मामला कहाँ है। पार्टी केवल आर्थिक सवालों पर ही बात कर सकती है। यह तो लड़की के अपहरण का मामला है। तो हमने जिस तरीके से उसको यांत्रिक बनाया, अपनी समझ को यांत्रिक बनाया, पार्टी को यंत्रिक बनाया, उसकी अपनी स्थितियों को जिस तरीके से एक नेतृत्व और उसमें काम करने वाले कार्यकर्ताओं के बीच एक दूरी पैदा की, उससे इस तरह की हताशा पैदा हुई थी और आज जिसकी बात अलग-अलग संदर्भों में ज्ञान चतुर्वेदी कर रहे थे या अरुणेश कर रहे थे कि यह जो एक दूरी बन गयी है। अब यह उपन्यास जिस समय आया था, उससे ज्यादा प्रासंगिक अब इस समय है। इस उपन्यास के, ठीक है कि चौबे जी की षष्टिपूर्ति के अवसर पर ही सही, पुनःपाठ की आवश्यकता है। इस उपन्यास के पुनःपाठ का संदर्भ यह भी है कि ये उपन्यास आज ज्यादा प्रासंगिक और ज्यादा जरूरी तरीके से पढ़े जाने की माँग करता है। मुझे हस्तक्षेप ही करना था, आलोचकीय वक्तव्य नहीं देना था। बहुत धन्यवाद, बहुत बधाई।

मुकेश वर्मा

ये राकेश मिश्र थे जिनका परिचय मैं आपको कराना भूल गया था। राकेश मिश्र वर्धा महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से पधारे हैं। वहाँ पर वो सहायक प्राध्यापक हैं और इनके दो कथा-संग्रह हैं जिनमें 'लाल बहादुर का इंजन' इनका बड़ा चर्चित कथा-संग्रह रहा है। बहुत-बहुत धन्यवाद। अब मैं बहुत आदर से 'पक्षधर' के संपादक श्री विनोद तिवारी को आमंत्रित करता हूँ। वो दिल्ली विश्वविद्यालय से आये हुए हैं। वहाँ एसोसिएट प्रोफेसर हैं। आपको देवीशंकर अवस्थी आलोचना सम्मान जैसा महत्त्वपूर्ण सम्मान मिल चुका है। और एक बार इनके स्वागत में आप ताली जरूर बजायें। आलोचना की दो किताबें हैं श्री विनोद तिवारी की। श्री विनोद तिवारी...

विनोद तिवारी

धन्यवाद मुकेश जी! आदरणीय मंच जो मेरे लिए कला और विचारधारा

के दो मूर्तिमान रूप हैं, सभागार में उपस्थित सभी विद्वत्जन, छात्र-छात्राओं और जिनके निमित्त हम आज यहाँ उपस्थित हुए हैं, आदरणीय संतोष चौबे जी, नमस्कार! बहुत-बहुत शुभकामनाएँ कि वो शतायु हों। मित्रों में अपनी बात शुरू करने के पहले दो शपथ लेना चाहता हूँ। पहली तो ये कि मैं मन की बात करूँगा और दूसरी बात ये कि मैं जो कहूँगा, सच कहूँगा, सच के सिवा कुछ न कहूँगा। समय कम है और राकेश को हस्तक्षेप के लिए बुलाया गया था, हालाँकि वो हस्तक्षेप नहीं था। हस्तक्षेप तो इधर से है। फिर भी मैं कोशिश करूँगा कि दस मिनट में कुछ कह पाऊँ। दरअसल ये जो बातचीत का विषय रखा गया है– 'कला और विचारधारा' संदर्भ में संतोष चौबे जी का उपन्यास। इस पर कुछ-कुछ बातें यहाँ हुई हैं। असल में यह एक बहस जो है, खासकर रचनात्मकता को ले के, यह बहस बनाई हुई है या कला के साथ कहीं से आती है? क्योंकि कला बिना दृष्टि के कैसे संभव है! कोई भी कला, वह, जहाँ से हमने बोलना सीखा है वहाँ से लेकर के और आज जब हम यहाँ बोल रहे हैं, उसमें एक भूत है विचारधारा के नाम पर, जिसको कि हमने एक बहुत बड़े सुपरमैन के समान महाशक्तिमान मान लिया और उसी को एक विचारधारा के नाम पर मानते रहे। लेकिन जिन लोगों के नाम पर विचारधारा है, उन लोगों ने भी साहित्य पर बहुत कम लिखा है। लेकिन जो लिखा है, उसमें कहीं भी कला को विचारधारा से सीमित करने की बात नहीं लिखते। खुद मार्क्स ने तीन लोगों पर लिखे नाटक, लासाल, सुई लासाल पर लिखते हुए कहा है कि सबसे महत्त्वपूर्ण है कि दरअसल, चरित्र को किसी भी रचना में प्रवक्ता बन कर नहीं आना चाहिए। ये वाक्य है उनका। ममताजी बैठी हुई हैं। ये सब बड़े कलाकार हैं। और रचना की प्रक्रिया में जिस कला की बात को मैं कहना चाहता हूँ, दरअसल दो तीन दृष्टियाँ हैं जिसको बनाया गया है। एक तो यह है कि जो धारणा है कि कला बिना विचारधारा के दृष्टिहीन होती है। दूसरी जो धारणा है– कला विचारधारा की चेरी नहीं होती है ओर जो तीसरी धारणा है– कला और विचारधारा की संगत क्या है! पहले जो हम बहुत पहले से जानते हैं, छात्र बैठे हुए हैं वो भी जानते हैं कि ये कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है तो यह जो

रिफ्लेक्शन थ्योरी है विचारधारा की, पहले मैंने कहा कि कला विचारधारा के बिना संभव नहीं है। ये रिफ्लेक्शन थ्योरी है, प्रतिबिंबन का सिद्धांत है मार्क्सवाद जिसमें विश्वास करता है और जिसको यथार्थवाद के रूप में विकसित किया गया। जो दूसरी बात है जिसमें ये कहा गया कि कला विचारधारा के रूप में, कला विचारधारा की चेरी नहीं है। अब ये ऐसा भी नहीं है। बर्तोल्त ब्रेख्त का तो मशहूर कथन है कि विचारधारा का विरोध भी एक तरह की विचारधारा है। इसलिए जब कला की स्वायत्तता की बात की गई दूसरी धारणा में कि वो चेरी नहीं होती है तो सवाल ये उठता है क्या कलाओं में कोई पूर्ण सत्य हो सकता है कभी? यहाँ तक मैं तो यह कह रहा हूँ कि मनुष्य ने जो ईजाद किये हैं, ईश्वर मनुष्य का ईजाद किया हुआ अपना संदर्भ है, धर्म मनुष्य का ईजाद किया हुआ अपना संदर्भ है, कला भी ईजाद है। क्या वो पूर्ण सत्य हो सकती है और कैसे हो सकती है? इसीलिए वो दृष्टियाँ जिनकी हम बात कर रहे हैं, दरअसल रचनात्मक प्रक्रिया में कहना क्या चाहती हैं? इसीलिए उपन्यास के संदर्भ में तो बहुत ही दिलचस्प है, खासकर के यहाँ कई सारे रचनाकार वरिष्ठ से लेकर के युवा पीढ़ी तक के बैठे हुए हैं, तीन बातों का होना। रचना-प्रक्रिया में कला की तीन चीजें हैं जो महत्त्वपूर्ण है। इन्हें कथ्य, कथानक और कथावस्तु कहा जाता है। और सामान्य-सी बात है कि पहले क्या कहना है, यह तय होता है। ठीक है कि कथानक के बुनने की प्रक्रिया में बहुत जद्दोजहद होती है, बातचीत होती है, संवाद होता है। तो तीन जो महत्त्वपूर्ण चीजे हैं कि क्या कहना है, क्यों कहा जा रहा है और कैसे कहा जा रहा है– ये तीन चीजें हैं। इसीलिए जब हम उस पर बातचीत कर रहे हैं तो यह जो एक मुक्तिबोधीय संदर्भ है, अगर आप सबको याद हो और अरुणेश ने कोट भी किया है एक वाक्य, और ये नई लड़ाई नहीं है कला विचारधारा की, सदियों से चली आ रही है रूप और वस्तु की लड़ाई, उसमें वो कहते हैं कि कथ्य खुद ही अपना रूप लेकर आता है। ये मुक्तिबोध का कोट है। दो शब्द मुक्तिबोध के संवेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय, ये कला रचना विचारधारा या जो कुछ भी उसको नाम दीजिये, ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं किसी भी रचना-प्रक्रिया के, चाहे वो कविता हो कहानी हो

या उपन्यास हो या व्यंग्य हो, उसमें दरअसल संवेदनात्मक हेतु, जिसकी बात वो कर रहे हैं, वो है क्या जिसे आप परिवेश कहते हैं अंतर्द्वंद्व कहते हैं। जिसे आप अंतर्विरोध कहते हैं। तो हमारे अपने अंदर अंतर्विरोध बहुत सारे भरे पड़े हैं। विचारधारा तो ऐसे कई अंतर्विरोधों का एक समुच्चय है क्योंकि एक मत एक विचारधारा का होना संभव नहीं है। इसीलिए उसकी लोकतांत्रिक अवधारणा भी होती है। तो यह अंतर्विरोध है। दरअसल विरोध से ही तो कला का रिश्ता बनता है। दरअसल कई बार विचारधारा को फ्लेवर की तरह भी उपयोग किया जाता है तो वह तो देखियेगा ठीक उसी तरह से जिस तरह से विचारधारा का विरोध किया जाता है। इसीलिए जो कथानक है, वो ऐसी चीज नहीं है, वो बाहर से दिखने वाली चीज है। यह तो उसके पूरे ही कथा विन्यास में उसके पूरे ही रूप रचना में उसकी भाषा में उसकी शैली में उसकी टेक्नीक में, उसकी अंतर्वस्तु में और इन सबसे मिलकर के उसके समुच्चय से वो बाहर आयेगी। संतोष जी ने कई अनुवाद भी किये हैं और इस उपन्यास में भी केदार कहता है कार्तिक को कि तुम्हारा मित्र मिला था, लेकिन वो एक नावेलेस्टिक आर्ट के संबंध में उदाहरण देता है आर्केस्ट्रा का, जो पूरी संरचना के संबंध में महत्त्वपूर्ण है। टैरी ईगल्टन का अनुवाद किया है संतोष जी ने। दरअसल विचारधारा सत्य को उद्घाटित करती है और सत्य को छुपाती भी है। अब ये बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल है क्योंकि आज हम भारत में ये कह सकते हैं कि समाजवाद टूट गया, मार्क्सवाद नहीं रहा, उत्तर-आधुनिकता का प्रभाव है। दरअसल हमने अपनी पूरी एकेडमिक समझ में भी मार्क्सवाद को पूरी तरह विकसित ही नहीं किया है। पाश्चात्य में तो खूब हुआ है और बाकायदा लड़कर हुआ है। बावजूद इसके वो एंटीमार्क्ससिस्ट लोग नहीं है जिन्होंने इस तरह की थ्योरी व मार्क्सवाद को विकसित किया है। अब यह जो छिपाना या उद्घाटित करना- ये कौन तय करता है? बहुत सारे रचनाकार-लेखक यहाँ बैठे हुए हैं, मैं उनसे पूछता हूँ कि ये कौन निश्चित करता है और किस दृष्टि से निश्चित करता है? इसीलिए कहा क्या जा रहा है और पहले हमने जो तय कर लिया क्या कहना है, उसके बीच की यह कड़ी है, इसीलिए शिल्प इतना आसान भी नहीं है और इस दृष्टि से

आप देखते हैं कि बहुत सारी चीजें नेचुरल ढंग से, क्योंकि मैंने भी एक ही उपन्यास पढ़ा है 'क्या पता कामरेड मोहन' और मेरे एक मित्र है केरल में वी. जी. गोपालकृष्णन, उन्होंने ये सूचना दी कि ये मलयालम में भी अनूदित है, ये उपन्यास अभी हाल ही में अनूदित हुआ है, निश्चित ही ये विचारधारा से विरोध का उपन्यास नहीं है। लेकिन विचारधारा से एक अंतर्द्वंद्व, एक असंतोष, टकराहट और खासकर के जिसे हम कला कह रहे हैं, उससे बेचैनी इस उपन्यास में है। मुझे तो नहीं लगता कि पार्टी लाइन के नाम पर, उस धारणा में पार्टी की क्या पहल है, इससे एक रचनाकार बहुत प्रभावित होता है। क्योंकि अभी ये कहा गया कि बहुत ही साहस के साथ ये उपन्यास संतोष जी ने लिखा। 'राग दरबारी' का उन्होंने जिक्र किया। श्रीलाल शुक्ल को बाकायदा 'राग दरबारी' के लिए अनुमति लेनी पड़ी थी। उसमें तो ऐसा कुछ नहीं है। यह तो हमारा संवाद है क्योंकि कार्तिक को मैं मानता हूँ कि वह पहले से चला आ रहा है। कहा जाता है कि प्रत्येक उपन्यास आत्मकथात्मक होता है तो इससे वह ज्यादा स्पष्ट होता है। इस दृष्टि से आप देखते हैं तो इस अंतर्विरोध से खुद संतोष जी का अनुभव और गहरा होगा कि वह कहाँ से कैसे बनता है, उसकी क्या क्या कमियाँ हैं। लेकिन वो क्या कोई ऐसी विचारधारा तलाशेंगे जो पूर्ण सत्य के लिए गारंटी देती है, वह तो कलाकार को ढूँढ़ना पड़ेगा। वो उपन्यास केदार से शुरू होकर केदार पर ही खत्म होता है और साँची में जा के खत्म होता है तो इस सिंबल को ही समझे जाने की जरूरत है कि हम कहाँ से और किस तरह से, किस हायर स्थान से देखने की कोशिश करते हैं। करुणा, मानवीयता– ये हर लेखक की हर कला की प्राथमिक और अनिवार्य शर्त होती है। विचारधारा इसका कोई विरोध नहीं करती है, फिर भी विचारधारा जब भी हम चाहें, हमें विवेकवान बनाती है। कोई भी इस तरह से कटघरे नहीं बनाता है। और यही तो आपका विवेक है। लेकिन मुझे तो नहीं लगता कि कोई भी विचारधारा कला को बाधित करती है, अगर आप वास्तविक रूप से कला के मूल्यों को पूरी ईमानदारी के साथ जीते हैं। कला सबको लोकतांत्रिक बनाती है। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

बहुत–बहुत धन्यवाद विनोद जी। उन्होंने कुछ बातों को बहुत रेशा–रेशा साफ किया है और ये बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही कि ये जो उपन्यास है वो विचारधारा के विरोध का तो नहीं है। बहरहाल बातचीत तो अभी और बहुत आगे चलेगी, मैं बहुत आग्रह के साथ अपने प्रिय मित्र, प्रिय लेखक, महेश कटारे जी को आमंत्रित कर रहा हूँ। आप ग्वालियर से पधारे हैं। श्री महेश कटारे।

महेश कटारे

मंच पर बैठी हमारी अग्रज कथाकार चित्रा जी, मित्र मुकेश जी और मित्रो! दरअसल ये बड़ा कठिन है कि आलोचक के बाद में किसी लेखक को बुला लेना, फिर ये कहना कि वो उस पर बात करे। स्वाद लेने वाले दूसरे होते हैं, बनाने वाले दूसरे होते हैं, तो बड़ा मुश्किल हो जाता है। मैंने दोनों उपन्यास पढ़े हैं। दिक्कत ये हुई कि मुझे बजाय कहानी के, उपन्यास में इन्होंने डाल दिया। मैं सोचता रहता था कि अगर मैं लिखता इन्हीं चीजों को तो कैसे लिखता! दरअसल कला और विचारधारा संतोष चौबे के उपन्यास के संदर्भ में इसकी एक सीमा है। कई बार जब हम कला की बात करते हैं तो पहले हमें ये जान लेना चाहिए कि कला है क्या, और एक लेखक उस कला को कैसे समझता है। जोनाथन कलर हैं, संरचनावादी समझे जाते हैं, प्रभु जी यहाँ बैठे हुए हैं, शायद वो आर्ट क्रिटिक भी हैं। उन्होंने कहा है कि अगर कोई कथा लिखी जाती है तो उसकी अभिरचना संरचनावादी होती है। एक विचार ये था कि एमिल जोला कहते हैं कि रूप विधान बहुत अच्छा होना चाहिए। ये सब उपन्यास के विषय में, मतलब क्या हुआ? तीसरी बात मैं जोडूँगा। जब मैं अपने लेखक के तौर पर सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि उपन्यास कला एक सम्मिश्र विधा कला है। जैसे चित्रकला से उन्होंने अभिरचना को ले लिया, रूपविधान कविता से आया है, ये दोनों चीजें उसमें समाहित हो जाती हैं। एक तीसरी चीज जिसे मैं मानता हूँ, हमारी देशज है, भारतीय है, उसका बड़ा जबरदस्त महत्त्व है और बाणभट्ट से अब तक चली आ रही है। वो है लय, जो

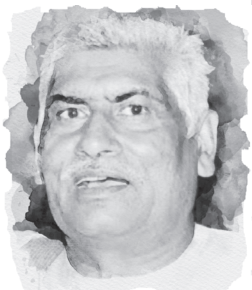

ऐसा नहीं है कि वामपन्थी आस-पड़ोस की और दूसरे संसार की खबर नहीं रखते हैं। कामरेड मोहन भी जब कविता लिखते थे, तब दूसरे संसार की खबर रखते थे। कामरेड मोहन जब से सचिव बन गये, सेक्रेटरी बन गये, तब से उन्होंने कम कम बोलना शुरू किया लोगों से। उन्हें ऐसा लगा कि वह किसी मीनार के ऊपर बैठ गये हैं। लोगों से वो कट गये हैं। सारी चीजें तब शुरू हुईं जब वो जीवन से अलग हो गये। जब रचना होती है तो रचना जीवन को प्रतिबिम्बित करती है और उपन्यास के अन्त में कार्तिक जब लौटता है तो बहुत सही कहा गया है कि विचार से नहीं भागता है।

संगीत से यहाँ पर आती है। क्योंकि लय ही वह चीज है जो रचना में एक किस्म की नवीनता, आश्चर्य, प्रसन्नता और आगे जाकर के वैचारिक विकलता भी उत्पन्न करती है। इसीलिए हम जब बात करते हैं तो एक लेखक के रूप में हमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिए। विचारधारा की बात आती है तो एक बात और है। जब हम इन उपन्यासों की बात करते हैं तो इन्हीं में से एक अंश है, 'राग केदार' का है, ''सबकुछ उतना ही सुंदर है आज भी धरती पर, क्यों नहीं चमकता आज वह पूरी ताकत से और करता मेरे दिल के कोने-कोने को रोशन? क्यों एक सन्नाटा-सा है मेरे दिल में मित्रो?'' यह कविता नहीं है। यह गद्य का अंश है जो कविता की तरह से उपन्यास में आता है? ये किस तरह से वहाँ पर जाकर के अपना प्रभाव पैदा करता है? एक वाक्यांश या कहना चाहिए कुछ वाक्य, किस तरह से कला उसमें आती है? इसका एक उदाहरण मैंने आपको यहाँ पर दिया है। विचारधारा के बारे में जब बात उठी थी, तो अब देखिये कि 'राग केदार', जब राग ही उसका नाम है, तो मुझे लगा कि 'राग केदार' बहुत साफ-साफ तौर पर सुरताल में निबद्ध है, जब 'राग केदार' है तो तीन ताल हैं उसमें। उसमें पहला है कार्तिक का बयान, दूसरा है केदार की डायरी, तीसरा हैं मित्रों की बातचीत।

जब हमारे पहले आने वाले मित्र बता चुके हैं कि 'क्या पता कामरेड मोहन' 'राग केदार' का विस्तार है तो उस पर भी देखिये, उसमें सात सुर हैं। विस्तार मे नही जाऊँगा, नही तो समय चला जायेगा। इन दोनों की एक संगति है केदार वहाँ भी है। केदार आता है, केदार से बातचीत होती है, एक जिसको हम जादुई यथार्थ कहते हैं, उसका वहाँ पर आगमन होता है। उसके जरिये हम केदार को पाते हैं, दो जगह पर पाते हैं। मृत केदार वहाँ पर आकर के बातचीत करता है कार्तिक के मित्रों से। मित्रो! एक बात और है जो मै कहना चाहूँगा कि जब हम इन दोनों उपन्यासों को पढ़ते हैं तो कहीं-कहीं हमें लगता है कि ये आत्मकथा है, कहीं-कहीं और घोषित रूप से उपन्यास है। कभी-कभी होता ये है कि कोई-कोई आत्मकथा उपन्यास जैसी रोचक हो जाती है, और कोई कोई उपन्यास आत्मकथा जैसा प्रमाणिक हो जाता है। इन दोनों चीजों की जो काबिलियत है, उसको भी हमें ध्यान में रखना बहुत जरूरी है।

जब हम इस उपन्यास को या इन उपन्यासों को पढ़ते हैं तब अगर हम लेखक का ध्यान करते हैं तो एक व्यक्ति हमारे सामने आ जाता है, लेखक यानी संतोष चौबे। एक संज्ञा हमारे सामने होती है। महत्त्वपूर्ण यह है कि वह संज्ञा क्या सर्वनाम में बदलती है अपनी रचना के माध्यम से? यदि वह संज्ञा रचना में सर्वनाम में बदल जाती है तो वह बड़ी चीज हो जाती है। हमें इस नजरिये से भी उन उपन्यासों को देखना होगा। विचारधारा की बात आयी तो विचारधारा के बारे में मेरे पूर्व वक्ता ने कहा ही था। वो मैं आपको फिर बता देता हूँ। वामपंथियों की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि वह अपने ही देश में रहते हैं और क्रांति करते रहते हैं। दूसरे क्या सोचते हैं, उनकी दृष्टि क्या हैं, इसके बारे में उन्हें खबर तक नहीं रहती और वह पूरा संसार बदलने डालने की बात करते हैं।

सत्य की बात आ रही थी। मित्रो, यह भी एक और अर्धसत्य है। ऐसा नहीं है कि वामपंथी आस-पड़ोस की और दूसरे संसार की खबर नहीं रखते हैं। कुछ लोग होंगे जो नहीं रखते होंगे, ये सही भी है कि कामरेड मोहन भी जब कविता लिखते थे तब दूसरे संसार की खबर रखते थे। कामरेड मोहन जब से सचिव बन गये, सेक्रेटरी बन गये, तब से उन्होंने

कम बोलना शुरू किया लोगों से। उन्हें ऐसा लगा कि वह किसी मीनार के ऊपर बैठ गये हैं। लोगों से वो कट गये हैं। सारी चीजें तब शुरू हुईं जब वो जीवन से अलग हो गये। जब रचना होती है तो रचना जीवन को प्रतिबिंबित करती है और उपन्यास के अन्त में कार्तिक जब लौटता है तो मित्रो बहुत सही कहा गया हैं कि विचार से नहीं भागता है।

विचार को तो विचारधारा को तो वह जीवन की टेबिल पर एक प्रकार से डिसेक्सन के लिए रखता है। आप देख लीजिये कि इसमें क्या-क्या है? इसमें क्या-क्या किया जा सकता है? क्या कमियाँ हैं? उनको निकालिये, नहीं निकालते वह आपकी गलतियाँ हैं। वो वहाँ से जब लौटता है तो जीवन की ओर लौटता है।

यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो उपन्यास में मुझे लगी, वो पुनः जीवन की ओर आता है। कई चीजें हैं जैसे फादर विलियम्स का जो प्रसंग है। रति का रति प्रसंग है। प्रेम प्रसंग का जिसको नाम दिया गया था, वो कई चीजें हैं जो जीवन में लौटती हैं।

विचारधारा की जो बात की गई है, जिस तरह से विचार का एक प्रवाह चलता है, उसमें कई धाराएँ आकर के मिलती जाती हैं। तब वह प्रवाह आगे बढ़ता जाता है। अगर एक ही विचार दूर तक चलेगा तो कुछ दूर जाकर वह सूख जायेगा। स्थानीय विचार प्रवाह, विचारों के स्रोत वहाँ उससे मिलते जाने चाहिये। मित्रो! इसी के साथ मैं अपनी बात को समाप्त करता हूँ। मुझे लगता है कि इस उपन्यास को देखना चाहिए और फिर पढ़ा जाना चाहिए। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

महेश भाई, बहुत-बहुत धन्यवाद।

हम लोग चाहेंगे कि अब हम रोहिणी अग्रवाल जी को बुलायें और इन दोनों उपन्यासों की बेहतर और विस्तृत चर्चा उनसे करें। अब मैं बहुत सम्मान के साथ सुश्री रोहिणी अग्रवाल जी को बुलाता हूँ। वो रोहतक से आई हैं, वहाँ कालेज में प्रोफेसर हैं और यहाँ, जो पत्र-पत्रिकाएँ लगातार पढ़ता रहता है, वो जानता है कि उनका सतत् हस्तक्षेप चलता रहता है।

बहुत ही प्रख्यात और महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं। आदरणीया रोहिणी जी।

रोहिणी अग्रवाल

मंच और सभागार में उपस्थित सभी विद्वत् जन और साथियो! अंत तक आते-आते वक्ता के सामने बहुत-सी वास्तविक परेशानियाँ आ जाती हैं। उसकी मंजुषा में जो कुछ होता है, वह धीरे-धीरे रीतता चलता है क्योंकि विषय पर, रचना पर, रचनाकार पर, क्रमिक ढंग से सधे भाव से इतना कुछ धीरे-धीरे उद्घाटित किया जाता है कि लगता है अरे! अब मैं क्या बोलूँ?

ठीक उसी तरह से मैं रिक्तहस्ता, बोलने के लिए खड़ी तो हुई हूँ। और द्रोपदी की तरह अपने पात्रों को पलटने लगी हूँ अन्न का एक दाना भी दिख जाये तो मैं बच जाऊँ। बात शुरू करूँगी उसी स्वीकार के साथ कि मैंने भी एक उपन्यास पढ़ा है– 'क्या पता कामरेड मोहन'। इस उपन्यास को कला और विचारधारा के संदर्भ में गुनने, बुनने, मूल्यांकित करने या अपना पुनःपाठ करने से पहले मैं बलपूर्वक इस तथ्य को रेखांकित कर देना चाहती हूँ कि कला और विचारधारा को मैं दो परस्पर बिन्दुओ की अवधारणाओं के रूप में नहीं लेती हूँ।

बेशक दोनों की अपनी अलग-अलग स्वायत्तता है, दोनों का अलग-अलग व्यक्तित्व है, लेकिन एक-दूसरे की सार्थक सहभागिता के बिना दोनों अपने अस्तित्व को बचा ही नहीं सकते, दूसरों के हृदय स्थल पर पैठने की तो बात ही बहुत दूर की बात है।

मैं एक शब्द में व्याख्यायित करूँ तो कला मेरे सामने एक उत्कट भावोच्छ्वास के रूप में आती है, विचारधारा एक बौद्धिक अहंकार के रूप में। कला में आप्लावनकारी आवेग है। हर तरह के बंधन का अतिक्रमण करके बहुत कुछ नया रच डालने की स्वप्नशीलता, सृजनशीलता, एक व्याकुलता, उद्विग्नता। यथार्थ के बंधनों को तोड़कर यथार्थ के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होकर जीवन को नये सिरे से रचने की एक स्वप्नशीलता, एक बेताबी। यह कलाकार की कला को एक वैयक्तिकता देती है। कला में तरलता को भरती है। और जब मैं विचारधारा की तरफ जाती हूँ तो मुझे

लगता है कि जो नहीं कहा गया कला में, वह विचारधारा है। विचारधारा जीवन के समानान्तर जीवन के यथार्थ को गढ़ने की कवायद है, उसमें बौद्धिकता है, उसमें अनुशासन है, नेतृत्व-क्षमता है, उसमें सांगठनिकता है। वह विश्लेषण को अपना एक महत्त्वपूर्ण टूल बनाती है। तो क्या यह कला विचारधारा के बिना रची जा सकती है? बहुत-सी बातें हुईं, ये हो ही नहीं सकता। मुझ क्या रचना है? जब तक मेरे सामने कोई रूप ही स्पष्ट नहीं होगा, मैं कुछ भी नहीं कर सकती और विचारधारा को लोगों के हृदय तक पैठ फैलाने के लिए संवाद का, माध्यम का, आश्रय लेना ही होगा। चाहे वो नौटंकी हो, नुक्कड़ नाटक हो, गीत हो– यानी कला के लिए कोई न कोई फार्म, उसमें वह आवेग वह मनुष्य लायेगा।

कला हमें बहुत ज्यादा मनुष्य बनाती है और विचारधारा हमारी दिशाओं को निर्देशित करती है। मैं इस उपन्यास को 'क्या पता कॉमरेड मोहन' को, इस संदर्भ में ही देखना चाहूँगी कि क्या यहाँ कला और विचारधारा दोनों आपस में घुलमिल गये हैं! ठीक वैसे ही, जैसे गोर्की के 'माँ' उपन्यास में, टैगोर के 'गोरा' में या जॉर्ज ऑरवेल के 'एनिमल फार्म' में।

एनिमल फार्म तो हम जानते हैं जो विचारधारा लेकर ही लिखा गया था। उसके प्रति असंतोष को, विद्रोह को व्यक्त करने वाला बहुत ही लीजेंडरी उपन्यास रहा। या मैं इस पक्ष को दूसरी तरह से उठा कर देखूँ कि कहीं ये दोनों तत्त्व इतने अघुलनशील तो नहीं हो गये हैं जो हमें प्रेमचंद के 'गबन' उपन्यास जैसी रचना दे रहे हैं या महुआ माजी का 'मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ' या रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता'।

मैं चूँकि कृति आधारित बात करती हूँ, मैं कृति के भीतर से गुजरना चाह रही हूँ और जब मैं पाठ करती हूँ तो मैं देख रही हूँ कार्तिक को। कार्तिक, जो एक कमेटी के सामने 'शो कॉज नोटिस' का जवाब देने के लिए उपस्थित हुआ है। बारह लोग उसको घेर कर बैठे हैं। एक अपराधी के तौर पर कार्तिक वहाँ है। फिर वो निकला है पार्टी से यह सोचते हुए कि नताशा उससे प्यार करती है या नहीं करती, नताशा है भी या नहीं है, नताशा पर विश्वास किया जाये या नहीं! टू बी ऑर नाट टू बी!

मुझे कार्तिक बहुत पसंद आया है। हेमलेट है वह, कितना संवेदनशील

मेरा कौतूहल सातवें आसमान पर पहुँच गया है, जिज्ञासा बढ़ी है। आशंका, उद्विग्नता में मेरी मुट्ठियाँ बन्द हो गयी हैं। मैं जल्दी-जल्दी पन्ने पलट लेना चाहती हूँ कि क्या हुआ? मुझे कामरेड मोहन पसन्द नहीं आये। क्यों नहीं आये, मैं नहीं जानती। लेकिन मेरी गट् फीलिंग है कि शुरू में पात्रों के बारे में, घटनाओं के बारे में थोड़ा-थोड़ा लेखक ने बताया है, बहुत कुछ छुपाया है।

द्वंद्व। द्वंद्व ही तो मनुष्य को मनुष्य बनाता है, अपने अंतर्विरोध को देखने की ताकत देता है। परिवेश के साथ अपने संबंध को निरंतर संतुलित करने की एक बहुत बड़ी रूहानी ताकत हमें यह द्वंद्वग्रस्तता देती है। हमें यहाँ कार्तिक को पूरे नंबर देना पड़ता है। हमें कार्तिक इसीलिए पंसद आया है कि उसमें द्वंद्वग्रस्तता है।

मै देख रही हूँ उपन्यास नाटकीय गति के साथ शुरू हुआ है। नाटक की तीसरी गति चरमोत्कर्ष पर। 'शो कॉज नोटिस' का जवाब देना है कार्तिक को। संगठन ने जो उस पर आरोप लगाये हैं क्या वो उन आरोपों को स्वीकारता हैं? वो उन्हें कैसे खारिज करेगा? क्या उसे क्लीनचिट मिलेगी?

मेरा कौतूहल सातवें आसमान पर पहुँच गया है, जिज्ञासा बढ़ी है। आशंका उद्विग्नता से मेरी मुट्ठियाँ बंद हो गयी हैं। मै जल्दी-जल्दी पन्ने पलट लेना चाहती हूँ कि क्या हुआ? इस मीटिंग का रिजल्ट क्या हुआ? मुझे कामरेड मोहन पसंद नहीं आये? क्यों नहीं आये, मैं नहीं जानती? लेकिन मेरी गट् फीलिंग है कि शुरू में पात्रों के बारे में घटनाओं के बारे में थोड़ा-थोड़ा लेखक ने बताया है, बहुत कुछ छुपाया है।

उस बताने और छुपाने के बीच में मेरा कौतूहल मेरी रुचि और मेरी आशंकाएँ और रचना के साथ मेरा रिश्ता उत्तरोत्तर और गाढ़ा होता जा रहा है। लेकिन उत्कर्ष पर ले जाने का मतलब अंत पर ले जाना नहीं होता।

उत्कर्ष पर ले जाने का मतलब है आपको एक्जिट सीढ़ियाँ चढ़नी हैं लेकिन एक पड़ाव नीचे ठहरना है और मुझे लगता है यह कार्तिक के साथ एक पड़ाव नीचे रहूँ।

अपनी मंजिल से एक पड़ाव नीचे रहूँ। मुझे अभी ऊपर जाने की इजाजत नहीं है और मैं नीचे देख रही हूँ तलहटी में। जहाँ से वो मैंने लम्बी यात्रा शुरू की है, वो खड़ी ऊँचाइयाँ मुझे डरा रही हैं। बहुत ज्यादा डरा रही हैं। अरे कार्तिक के साथ मैं दम साधकर इतना ऊपर आ गयी हूँ, मैं खुद सोच रही हूँ। ऊपर बैठे कार्तिक को ऊपर चढ़ते देख रही हूँ और मैं कार्तिक के साथ दम साधकर उन चढ़ाइयों को भी चढ़ रही हूँ, क्योंकि मुझे लोभ कार्तिक के व्यक्तित्व निर्माण की प्रकिया को हर छोटे-बड़े रूपों को अपनी आँख से और अपनी साँस से देखने का है और महसूस रही हूँ। मैं देखती हूँ कार्तिक के व्यक्तित्व निर्माण में दो शख्सियतें बहुत महत्त्वपूर्ण रोल अदा कर रही हैं– कार्तिक के पिता और केदार। कार्तिक के पिता का एक वाक्य है, ''कभी-कभी खुद को देखने के लिए अपने से बहुत दूर जाना पड़ता है।'' और जब कार्तिक के पिता किशोर कार्तिक को बताते हैं कि अपने परिवेश को जानना, अपने को जानने के पहले ज्यादा जरूरी है परिवेश के साथ अपने संबंध को जानना, संबंध को बनाने वाले उन बारीक तन्तुओं को जानना और अपने आपको जानना मुकम्मल भी हो सकता है और इसलिए इतिहास और भूगोल की यात्रा के साथ वह इस सृष्टि के साथ अपने संबंध की पहली शुरुआत करता है।

भोपाल, यह भोपाल नहीं है। उसकी जगह भोपाल नामक जगह नहीं है। यह भोपाल कैसे बना? दोस्त मोहम्मद के साथ यात्रा शुरू करके जगदीश नगर कैसे इस्लाम नगर बना, किस तरह से धीरे-धीरे एक गंगा-जमनी तहजीब इकट्ठी होती गयी, आपसी वैमनस्य नहीं, सौमनस्य है हमारी भारतीय संस्कृति हमारी मिट्टी की पहचान। वह द्वेष और असहिष्णुता की राजनीति के तंतुओं को उखाड़ फेंक कर मनुष्य को मनुष्यत्व को एक डोर में बाँधने की एक पहचान, कार्तिक के व्यक्तित्व का यह बुनियादी घटक है। और उसी के साथ कार्तिक, अपने पिता से ट्यूटर्ड कार्तिक, साँची के स्तूप में जब जाता है तो वह साँची के स्तूप, अभी विनोद जी

ने भी कहा कि स्तूपों का यहाँ बहुत महत्त्व है। मुझे लगता है कि वाकई इस पूरे के पूरे उपन्यास के टोन को समझने के लिए हमें साँची के स्तूपों का इस्तेमाल समझना होगा। ये यहाँ के आर्किटेक्चर को बताने के लिए या कुछ एक पृष्ठों को घेरने के लिए नहीं है। ये कार्तिक के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

ये स्तूप सौहार्द के प्रतीक हैं। कई-कई धर्म एक साथ रह सकते हैं। ब्राह्मणत्व पर विजय के बाद बौद्ध धर्म आया है, लेकिन ब्राहमणत्व के साथ सामंजस्य में ही बौद्ध धर्म है। वह हमारी थाती है, वह हमें समृद्ध करता है, वैचारिक तौर पर। वह शांति का, अहिंसा का समन्वय का प्रतीक है, लेकिन यह इस संसार की निस्सारता को भी स्थापित करने का प्रतीक है। स्तूपों के नीचे बौद्ध भिक्षुओ की अस्थियाँ और राख है।

ये जो वितंडावाद विचारधारा के नाम पर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के नाम पर खड़ा किया जा रहा है, उसका आत्यंतिक उद्देश्य लक्ष्य, अन्ततः है क्या? ये निस्सारता और अब मनुष्य उस मनुष्यता को पूर्ण करे, लगा रहे बहुत ही अकिंचन भाव से। तब वह इस सृष्टि को नई गढ़त दे सकता है। तो इस तरह-तरह की एक ट्यूटरिंग के साथ और इस तरह की एक दीक्षा के साथ कार्तिक के व्यक्तित्व का विकास होता है और मेरी अपेक्षा इससे बहुत बढ़ जाती है।

उन अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए प्रकिया और अधिक बढ़ावा देती है। अब उसकी अंतश्चेतना का प्रतीक उभर कर आता है उपन्यास में। केदार मृत है। उसकी मेमरीज हैं, जिनसे वह रूबरू होता है एकान्त में जाकर और वो कहता है कि अपने आप अपने अनुभवों के आधार पर तुम लिखो, लिखे हुए में खुद को तलाशो और तब अपने आपको पाओ।

यह अपने पूरे के पूरे जीवन के साथ इंट्रोस्पेक्शन करना, आत्म-साक्षात्कार करना एक बहुत बड़ी गुणवत्ता है, जो आज के युग में प्रायः लुप्त हो गयी है। और यही ऐसी चीज है जो विचारधारा को आत्मसाक्षात्कार करने से बचाती है।

संतोष चौबे जी ने यहाँ व्यंग्य का सहारा नहीं लिया लेकिन वो सारा प्रकरण मेरे पास व्यंग्य की तरह आता है, जब रामनारायण कार्तिक से

कहता है कि हमारे आत्मालोचन का मतलब दूसरे की आलोचना करना होता है। तो यहाँ अंतश्चेतना के प्रतीक के रूप मे केदार विचारधारा के उन नायकों के विरोध मे अपना एक बहुत बड़ा चांस लेकर अपना पक्ष यहाँ प्रस्तुत कर रहा है और कार्तिक के व्यक्तित्व के बुनियाद में कहीं बार-बार अपने आपको समय के साथ, समाज के साथ, संदर्भों के साथ, संबंधों के साथ और हर गतिविधि के साथ, पहचानने, जानने और निखारने की एक वृत्ति है जो उसको गतिशील पात्र बनाती है।

लेखक की बहुत बड़ी खासियत ये है– चैप्टराइजेशन। मुझे लगता है, इस उपन्यास में उन्होंने कार्तिक को नहीं, कार्तिक के अलावा और भी बहुत से पात्रों को जगह देने की कोशिश की है। किसी भी उपन्यास का शीर्षक देखें। कार्तिक और उमा, नताशा कार्तिक और उमा, नताशा कार्तिक और रामनारायण, कार्तिक और लक्ष्मण– यानी जितने भी उपन्यास के पात्र हैं, उन सबको देखा गया है, उन सब पर अलग-अलग फोकस करने की कोशिश की है। लेकिन यहाँ मेरे पास, मेरे हाथ मायूसी लगती है। मेरे पास पात्रों की लिस्ट है– सरफराज, लक्ष्मण, नताशा, विजय सक्सेना, कामरेड मोहन, कामरेड श्याम। इनके चरित्र की कुछ रेखाएँ मेरे पास नहीं हैं। क्यूँ नहीं हैं? क्यूँ लेखकीय फतवे इन पात्रों के बारे मे मुझे अपनी राय बनाने के लिए विवश कर रहे हैं।

लक्ष्मण सिंह भ्रष्ट है, यह स्वीकार करना है। सरफराज एजेंट है, सत्ता का है, वह कार्तिक को बैलेंस करने के लिए बनाया गया है और ऐसे ही एजेंट, ऐसे जासूसी करने वाले लोगों के सहारे ही संगठन चलता है। ये सूचना है, नताशा उमा के बारे में सूचना है, कामरेड मोहन के बारे में सूचना है। निर्णय नहीं लिये जाते कमेटी में। इन्क्वायरी के बाद निर्णय नहीं लिये जाते। निर्णय पहले से ही लिये जाते हैं। भाषण में उन्हें सुनाने की औपचारिकता की जाती है। ये पात्र इस रूप में क्यों आये हैं?

मैं स्पष्ट सोचती हूँ और जब मैं सोचती हूँ तो मुझे अपने उपन्यास पढ़ने का नजरिया पूरे का पूरे बदल लेना पड़ता है। मुझे लगता है कि यह उपन्यास एक परंपरागत उपन्यास की तरह नहीं रचा गया है, जहाँ लेखक और पात्रों के साथ टकराते हुए घटना को याद करते हुए मैं अपनी

अपेक्षाओं के अनुरूप कथा को आगे लेकर जाऊँ।

लेखक बार-बार मुझे बरज रहा है कि नहीं, यह मोहभंग का उपन्यास है। यह कार्तिक को आगे बढ़ने से रोकने के लिए सोची-समझी साजिशों का उपन्यास है। इस आग्रह के साथ रचा गया उपन्यास इसलिए किसी भी पात्र चरित्र का चित्रण, सही-सही चरित्र का विकास नहीं कर पा रहा है।

मैं यहाँ से आगे चलती हूँ। देखती हूँ उपन्यास में ये दो विषय, मुद्दे महत्त्वपूर्ण हैं, भोपाल गैस ट्रेजडी और दूसरा वर्तमान शिक्षा पद्धति की समीक्षा और तीसरा इसी के साथ जोड़ने की बजाय अलग कर सकते हैं, साक्षरता अभियान।

भोपाल गैस ट्रेजडी की जब बात करती हूँ। मेरे सामने तीन साढ़े तीन पृष्ठ की छोटी-सी कहानी 'विनाशदूत' आ जाती है। मृदुला गर्ग की ये कहानी है। उस कहानी को पढ़ने के बाद मुझे लगता है कि वह कलाकार जो गैस ट्रेजडी का शिकार हुआ, उसे पता ही नहीं– आ रहे हैं मेघ, आ रहे हैं, मेघदूत की परंपरा में लिखी गयी मेघदूत परंपरा के विरोध में जाकर एक बहुत बड़े सांस्कृतिक सामाजिक हस्तक्षेप की कथा कहती हुई वह एक छोटी कहानी। गैस ट्रेजडी की विभीषिका को जिस रूप में मेरे सामने विन्यस्त करती है, इस उपन्यास में मुझे वह डाटा के रूप में मिलता है।

बहुत सारी रिपोर्टें, त्रासदी, पीयूष, कार्तिक की बहन उसका परिवार और बहुत से लोगों के परिवार किस तरह से जैसे कार्तिक, रामनारायण, सरफराज कई डॉक्टर्स मिलकर पीड़ितों की मदद कर रहे हैं। किस तरह से फंड रेज किया जा रहा है! किस तरह से क्लिनिक्स चलाये जा रहे हैं! किस तरह से रिपोर्टर्स आ रहे हैं! लोगों की मदद हो रही है! किस-किस तरह के कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं! यह बहुत ही ज्यादा प्रामाणिक जानकारियाँ मैं इस उपन्यास में बटोर लेती हूँ।

लेकिन क्या तथ्यों को पात्रों के साथ जोड़े बिना उन्हे असंबद्ध तैरा देना, क्या ये कला है? यह प्रश्न मेरे सामने खड़ा है? कला ऐसीमिलेशन है, कला में समन्वयात्मकता है, कला विचार को जिन्दगी मे ढालने का एक गुण है और जिन्दगी मे ढालने के लिये हमे मनुष्य दिखना चाहिए, मनुष्य अपनी पूर्णता में। वह मनुष्य अपने नाम को, अपने लिंग को, अपने

प्रवृतिगत् वैशिष्ट को सब भुलाकर वह बढ़ते हुए मैं बन जाऊँ।

गैस ट्रेजडी के दौरान कार्तिक की दौड़-धूप के साथ, मैं दौड़-धूप करती हूँ लेकिन मैं गैस ट्रेजेडी को मन के तौर पर, दिमाग के तौर पर, एक भावनात्मक अघात के तौर और सत्ता के एक बहुत बड़े फेलियर और षडयंत्र के तौर पर नहीं ले पाती हूँ।

मै साक्षरता अभियान की बात करती हूँ और मुझे फिर उसी तरह के तथ्य मिलते हैं हालाँकि यहाँ मुझे लगता है कि जब मैं अपना स्टाईल बदलती हूँ उपन्यास पढ़ने का, तो मुझे लगता है कि यहाँ लेखक जानबूझकर पाठक के मन मे विक्षोभ पैदा कर रहा है, प्रश्न पैदा कर रहा है? क्योंकि वह चाहता है कि ये सब चीजें ना हों और शायद यह कार्तिक की शिनाख्त की कहानी है।

कार्तिक की अपनी क्षमताओं के शिनाख्त की ये कहानी है। यह संगठन के यांत्रिक स्वरूप की पहचान तो है ही लेकिन उसके साथ-साथ कार्तिक जुड़ा हुआ क्यों है? क्या मजबूरियाँ हैं कार्तिक की? क्या कार्तिक एक बड़ी उछाल लेगा? एक बड़ी फ्लाईट लेगा और यहाँ से निकलेगा? यह प्रश्न बना रहता है?

और मुझे लगता है कि हाँ कार्तिक में वह उद्विग्नता है जब वो आईएएस छोड़कर आया है। हालाँकि प्रश्न यहाँ पर भी एक मौजूद है कि आईएएस इसीलिए छोड़कर आया है कि वह कहता है कि जमीनी तथ्यों को जानने के लिए मुझे जमीन पर उतरना होगा। मेरा भी एक पक्ष होगा लेकिन क्या आईएएस की परिवेश के बीच मे वह यथार्थ के साथ मुठभेड़ करते हुए ब्यूरोकेसी को एक नया रूप नहीं दे सकता था? जैसे अशोक खेमका या संजीव चतुर्वेदी दे रहे हैं।

तो यह कार्तिक का आदर्शवाद है उसके व्यक्तित्व में औदात्त भरने की चेष्टा है या ये उसका पलायन है। मुझे इन सब पर विचार करना है। साक्षरता अभियान के लिए बहुत ही रिर्पोटें बहुत से कांफरेंसेस, बहुत ही नुक्कड़ नाटक, जुलूस-धरने, बहुत से अभियान चलाये जा रहे हैं लेकिन मैं एक पाठक के तौर पर उपन्यास में अपने आपसे पूछती रही? वह साक्षरता अभियान जो अस्सी के दशक में चला, अब हमारे सामने

पढ़े-लिखे अनपढ़ों की एक बड़ी जमात क्यों पैदा कर रहा है?

क्यों ये साक्षरता अभियान आज आँकड़ों मे सफल हो गया है? लेकिन वैचारिक तौर पर यह हमारी आने वाली पीढ़ी को हमारी पीढ़ी को हमें हमारी छोटी पीढ़ी के बीच में उनकी इतनी मेंटल फेकल्टीज को तीव्र नहीं कर पाया है? कि वह अपनी कट्टरता पर, कठमुल्लेपन पर, साम्प्रदायिकता पर, द्वेष और नफरत की राजनीति पर अपने विचार रख सकें। क्यों वह बेजान चीजों की तरह उस लहर में बह जाता है?

अभी राहुल ने कहा कि मैं नहीं, राहुल की मान्यता है कि आलोचक और कुछ नहीं है, रचना का पाठक है कि उसे अपने लेखक से अपनी अपेक्षाओं को कहने का अधिकार नहीं है। उसे नहीं कहना चाहिए।

मैं ये मानती हूँ कि जब पाठक रचना को पढ़ता है तो वह रचना की पुनर्सजन करने की प्रकिया में कदम बढ़ा चुका है। वह उसका पाठ करता है और उसके भीतर जो प्रश्न उठ रहे हैं उन तथ्यों का जवाब वह तलाश रहा है क्योंकि उसका एक अपना आदर्शवाद या उसकी अपनी विचारधारा उसे प्रेरित कर रही है और मुझे ये लगता है कि क्योंकि मेरी अपेक्षा कार्तिक से बहुत ज्यादा हो गयी है तो मुझे यह लग रहा था कि कार्तिक कामरेड मोहन की यान्त्रिक और बंद शैली को यानी संगठन की उस बंद शैली को ध्वस्त करके, कहीं न कहीं एक खिड़की खोलने का काम करे।

पूरा उपन्यास पढ़ने के बाद मुझे ये लगा कि हाँ ये अपेक्षाएँ मेरी पूरी हो सकती हैं, होंगी। अभी तो कार्तिक अपनी अंतश्चेतना यानी केदार की बात मानकर अपने आपको तौल रहा है, अपने जीवनानुभव को, वह आधे से ज्यादा तो गुजार रहा है कि क्या क्या हुआ लिखने के क्रम में वह विश्लेषण करेगा और विश्लेषण करने के क्रम में उसे अपनी उत्तरदायित्व को अपने एकाउन्टबिलीटी को भी समझेगा। क्या वो पलायन कर गया? क्या वह कमजोर पड़ गया? उसने समझौता किया क्या? उसने भी संवादहीनता की सरफराज को बहुत बड़ी चिट्ठी लिखता है पाँच पेज की कि तुम क्यों पार्टी को सेबोटाज कर रहे हो? क्यों पार्टी कार्यक्रम को नष्ट और ध्वस्त कर रहे हो?

उस पर यह आरोप लगाता है कि संवादहीनता क्यों है? लेकिन यही

प्रश्न कार्तिक को पलटकर अपने आपसे पूछना होगा कि वह भी तो सरफराज से संवादहीनता ही कर रहा है। वह भी तो उस पर दोष लगा रहा है। वह बात पत्र के तौर पर औपचारिक ढंग से कही गयी बात अपना प्रभाव नहीं डालती जो इस आमने-सामने के संवाद के साथ संबंध स्थापित करने की सफल या असफल कोशिश में की जाती है।

शिक्षा पर, यानी बहुत से मुद्दे हैं, यानी बहुत से मुद्दे उठाये गये हैं, इस उपन्यास में, मुझे हर बार यह लगता है कि इतनी ज्यादा छटपटाहट पाठक के भीतर इसीलिए भरी गयी है ताकि हम कार्तिक की छटपटाहट को कार्तिक की दिशाओं को अवरुद्ध कर देने वाले मेकेनिज्म को पकड़ सकें और विचारधारा को एक व्हिप के तौर पर ना समझें।

विचारधारा जब फतवा बन जाये, जब चाबुक बन जाये, तब हमारे लिए दिशाएँ नहीं रहतीं। मनुष्य भेड़ या जानवर बन जाया करता है, जिसे हाँककर ले जाया जाता है। इसके लिए एक संवाद की आवश्यकता है, इन्ट्रोस्पेक्शन की आवश्यकता है, आलोचना की नहीं, आत्मलोचन की।

मुझे लगता है कि अभी उपन्यास को वास्तव मे लिखा जाना शेष है दो उपन्यास लिखे गये हैं ट्रिलाजी। यह तो उपन्यास की वृहतत्रयी, कई मान्यताएँ हैं। एक तीसरा उपन्यास कि कामरेड मोहन के एक्सप्लेनेशन के बाद, पार्टी संगठन से निकाले जाने के बाद, कार्तिक ने अपनी किन दिशाओं को खोजा? कहाँ से अपनी यात्रा शुरू की? कि उसे अपनी इन यात्राओं को अपनी पत्नी के बिना शुरू नहीं करना है? आखिर में लेखक हिंट्स ही शायद इसीलिए दे रहा है। आखिर में माँ और नीति का आगमन अनायास नहीं हुआ है। पूरे उपन्यास मे माँ कहीं नहीं हैं।

माँ के माध्यम से हमारे परिवारों की सांस्कृतिक संरचना को, एक भावनात्मक संबंधों को दर्शाया गया है। और नीति इस उपन्यास में ये कहती है, हयवदन के नाटक को देखते हुए शुरू में यह कहती है, कि मैं अपने पुरुष को उसकी तमाम दुर्बलताओं के साथ स्वीकार करना चाहती हूँ।

और अंत में वह कार्तिक से कहती है कि तुमने कभी मुझे समझा नहीं, मैं तुमसे तुम्हारे इस काम में तुम्हारी संगी होकर चलना चाहती थी। तुमने

मुझे मौका नहीं दिया।

मुझे लगता है कि बहुत-सी दिशाएँ खुली हैं और इन पर आने वाला तीसरा उपन्यास एक बहुत बेहतर उपन्यास होगा। कला और विचारधारा दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं जो शुरू में मैंने कहा था। लेकिन मुझे एक लोभ हो रहा है, एक ही मिनट के लिए एक कलावादी कवि की कविता मैं पढ़ना चाहती हूँ, हम अपने-अपने ढंग से उसकी व्याख्या कर सकते हैं। विचारधारा वाले लोगों को किस तरह से कला को साथ लेकर चलना जरूरी है और कलावादी लोग विचारधारा से परहेज न करके उसे साथ में लें। विनोदकुमार शुक्ल की कविता– 'जो मेरे घर कभी नहीं आयेंगे/ मैं उनसे मिलने उनके पास चला जाऊँगा/ एक उफनती नदी कभी नहीं आयेगी मेरे घर/ नदी जैसे लोगों से मिलने नदी किनारे जाऊँगा/ कुछ तैरूँगा और डूब जाऊँगा/ पहाड़, टीले, चट्टानें, तालाब, असंख्य पेड़, खेत, कभी नहीं आयेंगे मेरे घर/ खेत-खलिहानों वाले लोगों से मिलने गाँव-गाँव, जंगल-जंगल जाऊँगा/ जो लगातार काम में लगी हैं, मै फुरसत से नहीं/ उनसे जरूरी काम की तरह मिलता रहूँगा/ इसे मैं अकेली आखिरी इच्छा की तरह, सबसे पहली इच्छा रखना चाहूँगा।'

तो मेरा यही निवेदन है कि साहित्य समन्वय स्थल है, कला और विचारधारा का। इनके बीच की बहसें इनकी आपसी प्रतिद्वन्दिता को बढ़ाकर कहीं न कहीं गुमराह करती हैं। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

रोहिणी जी बहुत-बहुत धन्यवाद!

पूरा हाल आपको मंत्रमुग्ध होकर सुन रहा था, लेकिन मुझे क्षमा करें थोड़ा समय की बाधा रही। बहरहाल, बहुत ही आदर से इस सत्र की अध्यक्ष सुश्री चित्रा मुद्‌गल जी को आमंत्रित कर रहा हूँ। उनका परिचय देने की जरूरत नहीं है। वो श्रेष्ठ उपन्यासकार और महत्त्वपूर्ण कहानीकार रही हैं। वे संस्कृतिकर्मी और समाजकर्मी हैं और कथालेखन में और उपन्यास लेखन में कई वर्षों से सतत सकिय रही हैं। बहुत से सम्मान पाये हैं। मैं बहुत आदर से सुश्री चित्रा जी को आमंत्रित करता हूँ।

चित्रा मुदगल

सम्मानीय मंच और मित्रो,

इस विषय के बहाने मुझे लगता है, जहाँ इस विषय से लेकर के कभी कभी लोग हिम्मत जुटाते रहे हैं कि वो अपनी असहमतियों को सांगठनिक शक्तियों के सामने दर्ज करें और कहीं उसे आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित करें और स्वयं अपने आत्मविश्लेषण को भी देखें और अलग-अलग संदर्भ में देखें। जो चौखटे हैं, उससे खुलें। निश्चय ही विचारधारा और कला, विचारधारा कला और जीवन, मनुष्य का जीवन।

कभी शायद मार्क्स ने नहीं सोचा होगा कि वो जिन बातों को विश्व समाज के व्यापक हक में उठा रहे हैं, उसके ठेकेदार पैदा हो जायेंगे और जब-जब चाहे धर्म के, बुद्ध के, अहिंसा के ठेकेदार पैदा हुए उन्होंने उसका नुकसान ही किया। और विचारधारा के ठेकेदारों ने भी उसके लिए जिस तरह से बंदिशें कायम कीं, उसके साथ वो भूल गये कि गंगा का स्रोत क्या था। और जब गंगा आगे बढ़ी तो गंगा वही नहीं थी जो अपने स्रोत से निकली थी। अपने समयकाल के तमाम नदियों का पानी कहीं कहीं गंगा को परिष्कृत करता और विस्तार देता रहा। और एक खुलेपन के साथ उसे गंगा का जल ही बनाता रहा।

मुझे लगता है कि आज जिस तरह से खुलकर बातचीत हुई है, हालाँकि कहीं मुझे लगता है, कुछ लोगों ने बड़ी सतर्कता से मन की बात कही और शपथ लेने के साथ बड़ी सतर्कता से अपनी सीमाओं में ही बँधे रहकर उस चौखट से ही इंकार किया जिस चौखट से निकलने का वायदा किया गया था।

ये सतर्कता क्यूँ? किसके लिए? कार्तिक के जो संकोच हैं, वो अपने संकोचों को तोड़कर जहाँ अपने मत को रखना चाहता है, वहीं मुझे लगता है पार्टी सुप्रीमो या कामरेड मोहन इस तरह की किसी चीज को सुनना ही नहीं चाहते। ये जब भी जहाँ भी अपने छोटे-बड़े स्वरूप मे पैदा होता है, हम ये मान लें कि ये सांगठनिक शक्तियों का कहीं अपहरण करता है, उसे तोड़ता है।

उपन्यास के संदर्भ में, उपन्यास एक ऐसी गुफा में हमें प्रवेश कराता

है कि जहाँ हलचल हैं, जहा विनाश है, जहाँ जीवन है, जहाँ प्रेम है, जहाँ ऐतिहासिकता है, शहरों के बनने-बिगड़ने की जन्मपत्रियाँ हैं, और उसके साथ-साथ, एक साझी संस्कृति का उद्भव है और वो साँझापन कहाँ तक चल पाता है? किस तरह चल पाता है? उन सबकी अपनी तरह से व्याख्या और द्वंद्व है? क्या चाहता है कार्तिक?

कार्तिक कोई बड़ा विचारक बन के पैदा नहीं हुआ है। अपने समय की गढ़न में गढ़ता हुआ अपने उस चयन को। तो इस गढ़ने को, अपने को गढ़ते हुए, युवक के सामने जो इस तरह कि बातें आती हैं, वो 'क्या पता कामरेड मोहन' के बहाने एक बहुत बड़े स्तर पर कहीं न कहीं हमें बाध्य करता है कि हम सोचें।

हमें सुरंग में दाखिल होते ही और सुरंगें बनाते चले जाते हैं। उन सुरंगों को ऐसी-ऐसी चौखटे देनी हैं जहाँ हमें भरपूर प्रकाश मिलें और हम सच देख सकें और सच के निदानों को भी अन्वेषित कर सकें और उसके साथ जीवन को क्या चाहिए, क्या नहीं चाहिए?

भूमंडलीकरण का दौर तो पहले नहीं आया था लेकिन जिस तरह से हमारी राजनीति में, आर्थिकता को एक व्यापकता देने के लिए विश्व से जोड़ने के लिए, जिस तरह की चीजों को भरी बस्ती में स्थापित करने के लिए, जिस तरह गैस त्रासदी के अपराधी को सुविधा दी और फिर अपनी ही आत्मकथा में उसे उद्घाटित भी किया, यहाँ की राजनीति के शीर्ष पर बैठे हुए एक मुख्यमंत्री ने, उसे हम सब जानते हैं।

आप देखिये क्या कहता है? वो कहीं कार्तिक से नहीं जुड़ता है, जाकर के? वो क्या कहता है? किस तरह से वो रातोंरात इन चीजों को ढँकने की कोशिश करता है? अगर वो प्रश्न भी एक सामान्य जन के लिए न सही एक प्रतिबद्ध युवा के लिए विषय बनता है तो मुझे लगता है कि वह विषय कहीं आम व्यक्ति की जिज्ञासा के साथ भी जुड़ता है।

जो मर गये वो कौन थे? किसकी थी वह जिन्दगी? फिर भी जीवन साँसें ले रहा है, जीवन इस शहर में जिन्दा है, वे लोग कौन है? केवल एक दृष्टि से ही उनके समाधान को आप सोचेंगे और वो है राजनीतिक चश्मे से, तो उनके चश्मों के तो रंग बदलते रहते हैं।

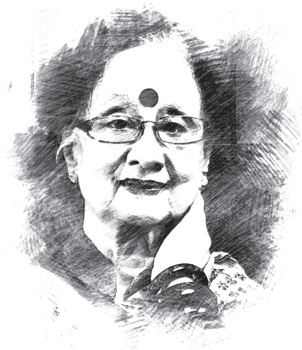

उपन्यास एक ऐसी गुफा में हमें प्रवेश कराता है कि जहाँ हलचल है, विनाश है, जहाँ जीवन है, जहाँ प्रेम है, जहाँ ऐतिहासिकता है, शहरों के बनने-बिगड़ने की जन्मपत्रियाँ हैं, और उसके साथ-साथ एक साझी संस्कृति का उद्‌भव है और वो साझापन कहाँ तक चल पाता है? किस तरह चल पाता है? कार्तिक कोई बड़ा विचारक बन के पैदा नहीं हुआ है। अपने समय की गढ़न में गढ़ता हुआ अपने उस चयन को। तो इस गढ़ने को, अपने को गढ़ते हुए, युवक के सामने जो इस तरह की बातें आती हैं, वो 'क्या पता कामरेड मोहन' के बहाने एक बहुत बड़े स्तर पर कहीं न कहीं हमें बाध्य करता है कि हम सोचें।

एक ऐसी सार्थक बहस यह उपन्यास करता है, 'क्या पता कामरेड मोहन' करता है। मुझे लगता है कि उपन्यास के अन्दर से ये बहस उभरती है। मुझे एक बात की पीड़ा भी है कि किसी ने इसे पहले क्यों नहीं पढ़ा? पहले क्यों नहीं पढ़ा? जो बात अभी यहाँ आयी कि 'मैला आँचल' में रेणु ने भी, कहीं न कहीं इस बात को उठाया है और उसी जन सामान्य के बीच से उठाया है। उसी संघर्ष और पीड़ा के बीच उठाया है। 'रागदरबारी' में भी जिस तंज के साथ इसको उठाया है। लेकिन क्या ऐसा हुआ कि इस उपन्यास को हाशिये पर जाने के लिए मजबूर किया गया? मैं बहुत पढ़ती हूँ, और ये प्रश्न जो कहीं कार्तिक के द्वंद्व हैं? ये बहुत-बहुत पहले कहीं मेरे भीतर भी थे। उन द्वंद्वों को न देखकर उसकी अवहेलना करना एक अपराध जैसा लगता है। मेरे जैसे बहुत से लोग थे, बहुत से लोगों के मन में वो प्रश्न होता है। लेकिन कहता कौन है? कहने की हिम्मत करता कौन है? जवाब देने की बात तो छोड़ ही दीजिये।

तो आज मुझे लगता है कि इस उपन्यास को इसीलिए सबको पढ़ने की जरूरत है कि जो कार्तिक के भीतर के अपने द्वंद्व हैं और जो उसे उत्तर पाने के लिए कहीं बाध्य करते हैं, वह उन्हें पढ़ने की हिम्मत करता है।

पलायन वो करता है, मैं नहीं मानती हूँ। पलायन का संजाल रचना या उसका हिस्सा बनना भी वो नहीं चाहता।

ये इतना जरूरी प्रश्न है। ये जरूरी प्रश्न जब तक नहीं उठता है, नहीं उठाया जाता है, एक अनुसरण की कामना, अनुयायी बने और बनाये रखने की कामना बनी रहती है। हम एक ऐसे मोहभंग से गुजर चुके हैं या गुजर रहे हैं जो हमे नहीं होना चाहिए। ऐसा करना हमें एक बहुत बड़े सामाजिक प्रश्न से अलग कर देता है।

द्वंद्व ये है कि किस तरह हम उन्हीं आंदोलनो को एक व्यापक रूप से जनान्दोलन बना सकते हैं, लोगों को समर्थ बनाते हुए, जिनकी बात कार्तिक कर रहा है।

वो कैसे हो सकता है? इस तरह से हो सकता है या उस तरह से हो सकता है या उसका और भी कोई रास्ता है? या कुछ और दरवाजे हैं जिन्हें खोलना है? या विकल्प समाप्त होने के बाद भी हम उसका रोना रोकर बैठे हैं? हम बाते करेंगे रूस की। रूस में जो कछ हुआ, उस टूटते रूस की कभी हमने कल्पना नहीं की थी।

हम जानते हैं कि हम दूसरे रास्ते से कुछ नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि वहाँ पे ठेकेदार, कितने भयानक ठेकेदार हैं। वो तो समस्या का समाधान नहीं, समस्या को ही खत्म कर देने में विश्वास करते हैं। तब हम लेखक वर्ग में उसको देखें। जिस विचार ने या विचारधारा ने आपको छुआ–छूत और अस्पृश्यता की सौगात सौंपी है, हम उससे कहा अलग हैं भाई? किसी के मन में कोई द्वंद्व या कोई सोच आई कि गुरील्ला वार की तरह सही चीजों के लिए लड़ा जाना चाहिए और उसके लिए खुद को तैयार हमको करना चाहिए ताकि हम अपने आपको ही जी सकें? अपने आपको ही जीने का अर्थ है कि ये न कहें कि विचारधारा और कला और जीवन इन तीनों के एक साथ में समाहित साझा मंच हम अपने भीतर में पैदा नहीं कर सकते हैं। मेरे अनुभव में ऐसा गुजरता रहा है।

तो भाई मुझे ये कहना है कि ये वक्त काम करने का है। अब वो समय गया जब हम सब बातें करने के लिए थे। आप बातें ही करते रहे, बातें ही करते रहे हैं, और बाते ही करते रहेंगे। वहाँ भी जहाँ काम की जरूरत

थी, वहाँ पर भी सिर्फ बातें ही जाकर की हैं।

उन बातों को उठाना भी बहुत जरूरी था। आवाज उठाना भी बहुत जरूरी था लेकिन केवल आवाज से ही काम नहीं चलता है। लेकिन ये जो कुछ प्रश्न उठे हैं, उन पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। मुझे लगता है कि अब किसी भी कृति को हाशिये पर, तमाम उपन्यासिक कलाओं के विरोध में खड़ा कर उसको किनारे फेंककर अपनी मंशा तो पर्ण कर सकते हैं लेकिन आप बहुतों के इस द्वंद्व को कोने में फेंककर नही जिंदा रह सकते हैं। इसलिए हमको इन आत्मघाती स्थितियों से बचने की जरूरत है। अगर हम कहते हैं कि हम काम करना चाहते थे तो सचमुच हम कर सकते थे, क्योंकि जब काम करना होता है तो किसी भी गैस त्रासदी से मर रहे लोगों से कभी मोहन भी नहीं पूछ सकते थे और कार्तिक भी नहीं पूछ सकता था कि भाई मैं तुम्हारी मरणासन्न हालत को लेकर अस्पताल दौड़ सकता हूँ या नहीं? तुम पिछली बार किसको वोट देने गये थे? किस विचारधारा से? जब आप लोगों के लिए दौड़ते हैं तो यह नहीं सोचते कि भइया उन लोगों को छोड़ो और इन बस्तियों, दस घर के इन लोगों को तो, उनके साथ जुड़िये क्योंकि यह हमारे लिए खड़े होने वालो में से हैं। हमारे लिए वोट करने वालो में से हैं। वोट की राजनीति जिस तरह से यहाँ पर भी समा गयी है, उसे तोड़ना होगा।

और अब जितनी जनता जनार्दन है अब उस वोट के लिए सूप की राई की तरह ढरकते और ढरगाते हुए नजर आते हैं और ढरगते हैं। सत्य, अर्धसत्य और मन की बात और सतर्कता से चीजों के कपाट खोलने के बाद और उद्धरणों से चीजों को बार-बार स्पष्ट करने की बात, मन की बात नहीं होती है।

मित्रो, इसे जरा-सा सोचने की जरूरत है। क्योंकि जो कहा गया वो आज और इतना कहने वालों का सत्य है। सत्य से सत्य जुड़ता है लेकिन सत्य, अपने समय में चाहे वो विचार का हो, चाहे वो काम का हो, कहने से अन्य समस्याएँ उपजती हैं। अन्य संक्रमण उपजते हैं और उन अन्य में हम पिछले संक्रमणों से तो ठीक से लड़ नहीं पाते हैं, और नये संक्रमणों की चुनौती हमारे सामने होती है। और हमें लड़ना होता है जो आज का

सबक है। तो ये जो ये विचार उत्तेजकता आज इस सत्र में पैदा हुई है, मुझे लगता है दूर तलक उसकी ध्वनि जायेगी।

कार्तिक अपनी तरह से चीजों की जो पड़ताल कर रहे हैं, उसमें उनकी अपनी कमजोरियाँ भी नजर आती हैं। लेकिन एक जो ऐसी ख्वाहिश है उसकी लड़ने की संतोष, वो किसी भी युवा के मन में होती है। हम वह ख्वाहिश समझ सकते हैं, सपना समझ सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि की बात करते हैं, उसको अपने उपन्यास में व्यक्त करते हैं। उसको देखने की कोशिश भी है। पर आज अगर इस संदर्भ में इस तरह से कहने पर एक चर्चा उठी है तो कहीं से सब तरह की अस्पृश्यता को तो दूर करिये। फिर एक साझा मंच बना कर संवाद कायम कीजिये। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

चित्रा जी, बहुत-बहुत धन्यवाद।

ये सत्र अपनी समाप्ति पर है। मैं हमारे इस सत्र में जितने भी आमंत्रित वक्तागण हैं, उनसे अनुरोध करूँगा कि एक ग्रुप फोटो के लिए कृपया मंच पर पधारें। हमारे लिए ये स्मृति रहेगी और आपके लिए भी। महेश जी, विनोद जी और 'पहले पहल' के प्रबंध संचालक महेन्द्र गगन जी से निवेदन करूँगा, वो भी आयें।

संतोष चौबे

मित्रो, कृपया अपना स्थान ग्रहण करें। एक मिनट में एक बात कहना चाह रहा था। महेश जी भी आ जायें। अपने जितने भी वक्ता हैं, सभी आ जायें। ये जितनी चर्चा हुई है, ये मेरे लिए भी उतनी ही उत्तेजक थी, जैसे कि आपके लिए रही होगी।

और मैं ये बताऊँ कि पहले साल में इस उपन्यास का दूसरा संस्करण आया था, उस पर भी बड़ी चर्चा हुई थी। उसमें उस समय के कई प्रख्यात लेखक और आलोचक और संपादक थे। राजेन्द्र यादव खुद उसमें आये थे। कुँवरपाल सिंह उसमें आये थे। शायद नमिता जी भी थीं, रमेश दवे जी थे और बहुत सारे लोगो की मुझे याद आती है, जो उसमें आये

थे। और रोहिणी जी ने जो कहा वो राजेन्द्र यादव ने भी कहा था कि ये उपन्यास तीसरे उपन्यास की माँग करता है।

और हालाँकि मैं सहमत हूँ इस बात से, पर बात ये है, कि आप सब लोग रचनाकार हैं और समझ सकते हैं कि कोई तीसरा उपन्यास तभी बनेगा जब रास्ता थोड़ा साफ होगा। मेरी दिक्कत ये है कि, मैंने जैसे कल कहा, कि मैं साइन्टिस्ट को भी सोशल एक्टिविस्ट मानता हूँ और राइटर को भी सोशल एक्टिविस्ट मानता हूँ। रास्ता लगातार खोजने की प्रयास में भी रहता हूँ। कुछ जगहों पर मै पहुँचा हूँ। सामाजिक उद्यमिता एक स्थान है। समावेशी संस्कृति एक स्थान है। इसमें बहुत सारी और भी चीजें हो सकती हैं। और वो तलाश जारी है। इस बीच में मैंने दो उपन्यास किये हैं जो उस ट्रायोलाजी में नहीं है।

उनमें से एक उपन्यास संगीत के ऊपर है और एक उपन्यास शिक्षा के ऊपर है। इन दो थीम्स पर है। इनके भीतर वो सारी चीजें हैं जिन पर मैं बात कर रहा हूँ। तीसरे उपन्यास का जिसको कि ट्रायोलाजी का उपन्यास कहा जा रहा है मैं बहुत शिद्दत से महसूस करता हूँ कि मुझे लिखना है और वो एक वृहद उपन्यास होगा। पर उसके बीच में जो चीजें हो रही हैं, वो हो रही हैं और मैं आपके इस निष्कर्ष से सहमत हूँ। बाकी जो बहुत सारी बातें आपने कही, उनके लिए मै बहुत आभारी हूँ। मेरे लिए बहुत-सी अंतर्दृष्टि उससे निकलती है। बस इतना ही। मैं काम कर रहा हूँ उसे जरूर आपके सामने लाऊँगा। बहुत अच्छी जो एक बात महेश जी ने कही, कि संगीत मेरा आधार है। संगीत पर जो उपन्यास मेरा है, गद्य के भीतर ताल, गद्य के भीतर ख्याल, गद्य के भीतर ध्रुपद और गद्य के भीतर बहुत सारे संगीत के प्रयोगों पर काम करता है। तो आपको जरूर मजा आयेगा। उसके बाद आगे भी देखेंगे। बहुत बढ़िया, बहुत अच्छा लगा। मैं बहुत आभारी हूँ। धन्यवाद। अब अपने सभी आमंत्रित वक्ताओं को स्मृति चिन्ह महेन्द्र जी दे रहे हैं।

(समूह चित्र के साथ सत्र समाप्त)

2

समकालीन कहानी और नव-यथार्थ

साहित्य-पर्व के अवसर पर आयोजित कहानी पर केन्द्रित विमर्श

22 सितम्बर 2015 को संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति के अवसर पर साहित्य पर्व 24-26 अक्टूबर के बीच सम्पन्न हुआ। जहाँ पहला दिन उपन्यास पर केन्द्रित था वहीं दूसरे दिन 'समकालीन कहानी और नव-यथार्थ' विषय पर विमर्श हुआ जिसमें वरिष्ठ कथाकार ममता कालिया, मुकेश वर्मा, प्रभु जोशी, रमाकांत श्रीवास्तव, हरि भटनागर, भालचंद जोशी, पंकज सुबीर, राकेश बिहारी, आशुतोष मिश्रा और मनोज पांडे ने प्रतिभागिता की।

पंकज सुबीर

साहित्य–पर्व जो कि श्री संतोष चौबे जी की षष्टिपूर्ति के अवसर पर आयोजित किया जा रहा है, उसके दूसरे दिवस के दूसरे सत्र में आप सबका स्वागत है। यह द्वितीय सत्र 'समकालीन कहानी और नव–यथार्थ– संतोष चौबे की कहानियों के संदर्भ में' इस विषय पर है। इस पर चर्चा हेतु हमारे पास अपने समय के, वर्तमान समय के बहुत ही महत्त्वपूर्ण कथाकार–आलोचक यहाँ उपस्थित हैं, जो इस विषय पर चर्चा करेंगे।

मैं श्री मुकेश वर्मा जी से अनुरोध करूँगा कि वो सबसे पहले इस कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहीं महत्त्वपूर्ण कथाकारा, वरिष्ठ कथाकारा, आदरणीया ममता कालिया जी को इस मंच पर सादर लेकर आने का कष्ट करें। आपसे अनुरोध है कि जोरदार तालियों से ममता कालिया जी का स्वागत करें।

इस सत्र में वक्ता के रूप मे हमारे साथ हैं, बहुत महत्त्वपूर्ण कथाकार, जो इन्दौर से हमारे बीच हैं, और उतने ही अच्छे चित्रकार भी, आदरणीय प्रभु जोशी जी से मैं अनुरोध करूँगा कि वो मंच पर पधारने का कष्ट करें।

मूलतः छत्तीसगढ़ के कथाकार लेकिन अब भोपाल में निवासरत आदरणीय रमाकांत श्रीवास्तव जी से भी अनुरोध है कि वे भी मंच पर पधारने का कष्ट करें।

'रचना समय' के सम्पादक बाद में, उससे पहले बहुत अच्छे कहानीकार, मेरे बहुत प्रिय कहानीकार भाई हरि भटनागर जी से भी अनुरोध है कि मंच पर पधारने का कष्ट करें।

'पालवा' जैसी कहानियों के रचनाकार अब उपन्यासकार भी जल्द हो रहे हैं, आदरणीय भालचंद्र जोशी जी, जो फिलहाल इन्दौर से आये हैं, पहले वो खरगोन से आया करते थे, उनका भी स्वागत है। पिछले सत्र में

बड़े दिग्गज आलोचक थे। इस सत्र में हमारे कहानीकार भी यहाँ आलोचक के रूप में हमारे बीच मे उपस्थित हुए है, इन दिनों उनकी कहानियों पर केंद्रित 'एक कहानी पर केंद्रित' सीरीज बहुत चर्चित हो चुकी है। भाई राकेश बिहारी कहानीकार भी हैं, लेकिन आज हम उन्हें आलोचक के रूप मे आवाज दे रहे हैं यहाँ आयें।

इस सत्र में हस्तक्षेप के लिए दो बहुत महत्त्वपूर्ण नाम हैं अपने समय के बहुत महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं, मेरे समकालीन हैं, भाई मनोज पांडेय और भाई आशुतोष। आप दोनों से भी मैं अनुरोध करना चाहूँगा कि आप भी मंच पर पधारने का कष्ट करें।

सबसे पहले मैं अनुरोध करना चाहूँगा वनमाली सृजनपीठ के विनय उपाध्याय जी से कि वे मंचासीन सभी अतिथियों का स्वागत करें। सबसे पहले कार्यक्रम की अध्यक्ष वरिष्ठ कथाकारा आदरणीया ममता कालिया जी का वो स्वागत करें। तत्पश्चात् सभी अतिथियों का पुष्प-गुच्छ से स्वागत करें। आदरणीय प्रभु जोशी जी का, भाई हरि भटनागर, रमाकांत श्रीवास्तव जी, भाई भालचंद्र जोशी जी, राकेश बिहारी जी, मनोज पांडेय जी और आशुतोष जी।

मित्रो, इस सत्र का अपना एक महत्त्व है क्योंकि इस सत्र में कहानीकारों कि एक पूरी गैलेक्सी यहाँ है, जो अलग-अलग पीढ़ियों का यहाँ पर प्रतिनिधित्व कर रही हैं। इसलिए यह जानना बहुत रोचक होगा कि इस विषय 'नवयथार्थ और समकालीन कहानी' पर ये अलग-अलग पीढ़ियाँ किस तरह से सोचती हैं? किस तरह से देखती हैं? और जब हम संतोष चौबे जी की कहानियों के संदर्भ में बात करते हैं तो फिर वो नवयथार्थ वहाँ किस प्रकार दिखाई देता है, क्योंकि बहुत छोटी-छोटी-सी चीजें हैं, कहानी के फार्मेट को लेकर इन दिनों बहुत चर्चा हो रही है।

मैं इस चर्चा को शुरू करूँ इससे पहले हरिशंकर परसाई जी ने 1955 में कहीं कहा था, उसके साथ मैं शुरू करना चाहूँगा कि 'जीवन का कोई भी खंड, मार्मिक क्षण, अपने आपमें अर्थपूर्ण कोई भी घटना या प्रसंग कहानी के तंत्र मे बँध सकता है। जीवन का अंश लिये हर गद्य रूप में जिसमें कथा तत्त्व है, वो कहानी ही कहलायेगा।' इन दिनों बहुत चर्चा हुई

कहानीकारों कि एक पूरी गैलेक्सी यहाँ है, जो अलग-अलग पीढ़ियों का यहाँ पर प्रतिनिधित्व कर रही हैं। इसलिए यह जानना बहुत रोचक होगा कि इस विषय 'नवयथार्थ और समकालीन कहानी' पर ये अलग-अलग पीढ़ियाँ किस तरह से सोचती हैं? किस तरह से देखती हैं? और जब हम संतोष चौबे जी की कहानियों के संदर्भ में बात करते हैं तो फिर वो नवयथार्थ वहाँ किस प्रकार दिखाई देता है,

है कि ये तो घटना है, ये कहानी नहीं है, या ये प्रसंग है, ये कहानी नहीं है, तब आपकी ये चर्चा का बहुत महत्त्व होता है क्योंकि ये चर्चा उन्हीं बिन्दुओं पर जाकर तलाशने की कोशिश करेगी कि कहानी क्या है?

मैं इस चर्चा के शुभारंभ के लिए हमारे समय के एक बहुत महत्त्वपूर्ण कथाकार को बुलाना चाहूँगा जो अपनी कहानी और अपनी कहानियों को लेकर बहुत लापरवाह तरह के कथाकार हैं। भोपाल के ही मुकेश वर्मा जी, मैं लापरवाह इसलिए कह रहा हूँ कि वो अपनी रचनाओं के प्रति बहुत चिंतित नहीं दिखते कि मेरी कहानियाँ पढ़ ली गयीं या नहीं पढ़ी गयीं। पर जब वे पढ़ते और बोलते हैं तो एक अलग ही बात होती है।

मुकेश वर्मा जी यहाँ आयें और अपने आधार वक्तव्य से आज की इस संगोष्ठी का, आज के इस विचार सत्र का शुभारंभ करें। आदरणीय मुकेश वर्मा जी।

मुकेश वर्मा

आदरणीय ममता जी, रमाकांत जी, प्रभु जी और मेरे सभी मित्रो।

बीसवीं सदी का अन्तिम दशक और इक्कीसवीं सदी का प्रथम दशक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक गतिविधियों के कारण काफी उथल-पुथल भरा और उत्तेजनामय रहा– जब भारतीय जीवन में कुछ बेहद महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, गतिशील स्थितियाँ बनीं और उनके दबावों और प्रभावों का

व्यापक विस्तार और असर हुआ।

स्वाभाविक रूप से इन परिस्थितियों ने साहित्य की रचनात्मकता को भी प्रभावित किया। तेजी से होते जा रहे इन परिवर्तनों के कारण लेखक का साहित्य से जो रिश्ता था, उसमें भी बदलाव आये, साहित्य के मुहावरे बदले। अभी तक प्रचलन में रहे जुमले यथा भोगा हुआ यथार्थ, संताप, मोहभंग, बुर्जुआ आदि पीछे छूटे और उनकी जगह नये सवालों, स्थितियों और चुनौतियों की चेतना ने ली। उसे ही आलोचकों ने नवयथार्थवाद का नाम दिया। यह माना जा सकता है कि नवयथार्थवाद अपने इस समय के ताजे यथार्थ को देखने की, जाँचने, समझने की प्रविधि है जो समकालीन लेखकों के निहितार्थों को उजागर करता है और प्रगतिशील मूल्यों को पुनर्स्थापित करता है। इस दृष्टि से इस दौर में हुए कुछ मुख्य परिवर्तनों और उनकी विशेषताओं का उल्लेख जरूरी है।

टेक्नोलाजी के तेज और विस्मयकारी अनुसंधानों से और उनके सुरसा जैसे फैलावे के बाजारी उद्देश्यों से उपभोक्तावाद को आराम से पसरने की सम्मानपूर्ण जगह मिली। अभी तक मध्यवर्ग सीमित था लेकिन तथाकथित सम्पन्नता के चलते उसकी हैसियत बाजार मे एक बड़े शिकार के रूप में पहचानी जाने लगी।

भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारवाद, खुले बाजार की नीति ने मनुष्य को एक प्रोडक्ट के रूप मे परिणित करने या सिर्फ ग्राहक तक सीमित रखने का वातावरण रचा, कि मनुष्य के प्रकृति परम्परा जीवन मूल्यों, समाज और संस्कृति से सम्बन्धित यहाँ तक कि मनुष्य के मनुष्य से संबंध उसके परिवार से आत्मिक संबंध बुरी तरह प्रभावित हुए। समाज में संबंधों की विक्षिप्तता की स्थिति निर्मित होने से आईडेंटीडी क्राइसिस तेजी से बढ़ी जिससे समाज में बिखराव को उत्साहपूर्वक स्वीकार्यता मिली।

सोवियत रूस की शासन व्यवस्था के पतन के बाद वामपंथी विचारधारा को गहरा धक्का लगा। भारत के मोहभंगों के इतिहास में सन् 1963-64 के बाद यह एक दूसरा मोहभंग था। अधिकांश साहित्यकार दिवास्वप्न में जी रहे थे। उनके पास समस्याओं के समाधान, कठनाइयों के निदान और वैचारिक प्रगतिशीलता की पहचान के लिए एक बड़ा और आक्रामक

हथियार वामपंथी विचारधारा के रूप मे था और आज वही प्रमुख आधार टूट गया, जिसके बल पर वे व्यवस्था का विरोध कर पाते थे। जबकि पूँजीवादी, प्रतिक्रियावादी ताकतें जोर-शोर से अपने पंख फैला रही हैं।

भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारवाद के साथ पूँजीवाद की प्रकिया के तहत विकास की आधुनिकता की आँधी आई। इस व्यवस्था की चुनौतियों का प्रतिकार दो ही प्रकार से किया जाना समझ में आता है। एक वामपंथी विचारधारा और शुद्ध साम्यवादी व्यवस्था या गाँधीवादी विचार।

बीसवीं सदी ने यह दो तरीके पेश किये। समय की कसौटी पर पहला अस्त्र असफल हो गया। दूसरा गाँधीवाद का रास्ता कठिन है। हालाँकि आदमी के लालच को काबू में रखने, प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने और समाज को शांति के मार्ग पर प्रशस्त रहने के लिए गाँधीवाद ही एक मात्र प्राकृतिक मार्ग दिखाई देता है, लेकिन मुश्किल यह है कि गाँधीवाद के सिद्धांत कठोर और आचरण कठिन है।

बरसों के मतिभ्रम के अभ्यास के बाद गाँधीवाद को अपनाने की ग्रहणशीलता ही समाज मे नहीं है बल्कि वह उपभोक्तावाद से अभिभूत है। ऐसे विरोधाभास सामने आये हैं जो किसी विचार को विमर्श ही नहीं बनने देते। उदाहरण के लिए एक तरफ बिजली के अनियंत्रित उपयोग की जबरदस्त इच्छा और दूसरी ओर परमाणु बिजली घरों का विरोध दोनों एक साथ कैसे चल सकते हैं? जो इन बिजली घरों का विरोध व्यापक मानवहित में करते हैं, वे जनता को उनकी उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों पर रोक लगाने का शिक्षण देने से बचते हैं क्योंकि राजनैतिक निहितार्थ ऐसे हैं। जनता को किसी भी कीमत पर नाखुश और नाराज नहीं किया जा सकता।

बेहतर है कि मतिभ्रम फैलता रहे, यह सुविधा का रास्ता है। राजनैतिक लोगों की इन चालाकियों को लेखकों ने भी अपने उदात्त भाव से स्वीकार किया क्योंकि बिना राजनैतिक आश्रय के उन्हें अपना नजारा नहीं दिखता। यह विडम्बना ही है कि प्रगतिशील मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध लेखक भी आधनिक तकनीक के नये-नये उपकरणों का व्यक्तिगत तौर पर बहुत इस्तेमाल करता है और जब लिखने बैठता है तब उसकी लेखनी में विरोध के स्वर फूटने लगते हैं। यह पाखंड जीवन से छनकर साहित्य में गिरता

है तो ना साहित्य प्रभावित करता है और ना ही प्रेरित कर सकता है।

यह वैचारिक बिखराव और उससे उपजे संकट में विकास के माडल को लेकर सबसे बड़ी दुविधा है। हम अपने समय में देश और समाज को कैसा बनाना चाहते हैं? यह ना तो बुद्धिजीवियों के वैचारिक स्तर पर तय हो पा रहा है और ना ही सामाजिक सांस्कृतिक स्तर पर।

बीसवीं सदी में साहित्य को राजनैतिक परिवर्तन का औजार मान लिया गया था लेकिन अब वह खुद अपने विग्रह में फँस चुकी है। उससे बदलाव की कोई उम्मीद नजर नहीं आती। आजादी के बाद, आजादी के दौरान हासिल किये गये आदर्शों के और मूल्यों की बातें खुलेआम हास्य कविताओं के विषय हो गये हैं। जिन्हें निंदनीय प्रवृत्ति कहा जाता था उन्हें उतने ही गर्व भाव और ईर्ष्या से निहारा जाता है। अजब समय है जब सब समाजवादी जातिवादी हो गये, वामपंथी पूँजीवादी हो गये, राष्ट्रवादी साम्प्रदायिकता के समर्थक क्षेत्रीयताग्रस्त, संत लोग राजनैतिक और सेवक शासक हो गये। जातिगत द्वेष और धार्मिक उन्माद तेजी से बढ़ रहा है। इसके परिणाम सुनिश्चित हैं। देश और समाज बिखर रहा है, आमजन निराश हो रहे हैं और लेखक अवाक् और किंकर्तव्यविमूढ़ है।

पिछले वर्षों में बदलाव के लिए दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं– एक अन्ना हजारे का आंदोलन और आम आदमी पार्टी का उदय। दूसरी सत्ता मे परिवर्तन और गठबंधनों की जगह एक मजबूत पार्टी का शासन। लेकिन आम आदमी दोनों को संशय से देख रहा है क्योंकि किये गये वायदों के बरक्स किसी भी परिवर्तन के लक्षण नजर नहीं आ रहे हैं।

अन्ना के आंदोलन को लेकर जो उम्मीद और आस्था जाग रही थी, जल्द ही उसका स्वाहा हो गया। गाँधी बनने के बुलबुलाते उत्साह ने देश को फैशन का रंगमंच बना लिया। फिर आम आदमी पार्टी के सामने आने के बाद रही–सही जो कसर बाकी थी, वह भी पूरी हुई। मजबूत सरकार भी कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठा पा रही है, बल्कि जनविरोधी साम्प्रदायिक और जातिगत हिंसक कदमों की आहटें करीब से करीबतर होती नजर आ रही हैं। शायद ये तीसरा मोहभंग है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का यह हाल है कि कॉर्पोरेट जगत ने पूरे मीडिया को कब्जे में

कर रखा है। पत्र-पत्रिकाओं की नकेल पूँजीपतियों के हाथ में है। थोड़ा बहुत विरोध छोटी पत्र-पत्रिकाएँ कर पाती हैं लेकिन उनके पाठकों का दायरा सीमित है।

टीवी चैनल्स ने लोगों के पढ़ने की रुचि खत्म कर दी है और अब केवल सस्ते और फूहड मनोरंजन के और उपभोग की अतिरिक्त और अनावश्यक वस्तुओं की बिक्री की आवाजों से हमारे घर भरे जा रहे हैं। साहित्यकारों में राजाश्रय, सम्मान और पैसे की खींचतान है। वे बोलते बड़ी-बड़ी बातें हैं लेकिन आवाज और आचरण में दम ना होने के कारण अपेक्षित प्रभाव ही पैदा नहीं होता।

बीसवीं सदी में मूल्य के रूप में अर्जित स्त्री-विमर्श में एक स्त्री की अस्मिता और अधिकारों को केंद्र मे रखकर कर उसको बराबरी का दर्जा देने तथा समाज में सम्मानजनक सहभागिता पर जोर दिया गया था। उसको केवल देह के स्वामित्व और स्वतत्रंता के मुद्दों तक सीमित कर दिया गया। कुछ महिला कथाकारों ने देह के धर्म को इतनी वीभत्सता से उछाला है जितना डिस्को में भी नहीं उछाला जाता।

साफ तौर पर एक बार फिर स्त्री को रसरंजन का सामान बना दिया गया है। एक हादसा ये कि दलित विमर्श ने समाज में अपने सम्मानित स्थान और हक को पाने के लिए जो अभियान छेड़ा था, वह कुछ महत्त्वपूर्ण आत्मकथाओं तक सीमित रह गया। उसकी संभावनाओं को सुविधाभोगी वर्ग ने हथिया लिया जो इस माध्यम से अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सिद्ध करने में जुटा है।

एक छोटे से दौर के बाद अधिकांश रचनाएँ ऐसी आईं, जिसमें वही पुराना पिष्टपेषण और सालों पुराने कथानक प्रमुख हुए। आधुनिक समय में दलित वर्ग ने अपनी क्षमता और मेधा के बल पर विपरीत परिस्थितियों में अपने असाधारण संघर्ष कर जो हक और हकूक हासिल किये और वर्ण व्यवस्था पर करारी चोट कर उभरे, उन रचनात्मक तथ्यों से शक्ति ग्रहण करने की बजाय उनके मन से समाज का ध्यान वास्तविक मूल समस्याओं से उन्हें भटकाये जाकर उन्हें राजनीतिक शतरंज की बिसात में सजाने में अब राजनीति के साथ साहित्य भी शामिल हो गया है।

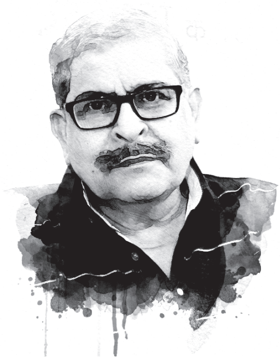

संतोष चौबे ने इस विचारोत्तेजक कहानी के माध्यम से उद्योगपतियों और सरकारों के संयुक्त तत्त्वाधान मे प्रायोजित देश में चल रहे तथाकथित औद्योगिक विकास के जाल-जंजाल का जीता-जागता खाका खींचा है और उस असलियत से परदा उठाया है जिसकी आड़ में जनता की आँखों में धूल झोंककर देश के खजाने की खुली लूट की जा रही है।

भूमिहीन मजदूरों, बेरोजगारों की कथा-व्यथा हाशिये पर है। लाखों की संख्या में आत्महत्या कर रहे किसानों और परम्परागत व्यवसायों से बेदखल कर दिये गये कारीगरों को फोकस में नहीं लिया जा रहा। अधिकतर लेखक नगर या महानगरों से आते हैं। नये विमर्श के अभाव में उनके जीवन में सपाटता, दोहराव और ताजगी का अभाव है। एक ही रचना अनुभव के रावण के दस मुखों से सुना जाना कितना यातना दायक है। इसलिए साहित्यकार का असर कम, सम्मान और भी कम हो रहा है। साहित्य के बाजार में सच्चे सिक्के चलन से बाहर हो गये हैं लेकिन इन विपरीत स्थितियों में अपने समय की नब्ज पर धैर्य और तल्लीनता से हाथ रखकर जिन लेखको ने नये यथार्थ को पहचानने की कोशिश की, उनकी भी एक सुखद फेहरिस्त है।

आज के कथा साहित्य की समृद्धि और सार्थकता का श्रेय भी उन्हीं को है, लेकिन यथार्थ की पहचान की हड़बड़ी और नारेबाजी के प्रभाव में लिखी गयी रचना प्राय: मूल विचार के प्रति भी कभी-कभी वितृष्णा भी पैदा कर देती है। जैसे एक मामूली कॉलेज से जैसे-तैसे पढ़े-लिखे लड़के के टाई लगाकर घर-घर तेल-साबुन बेचने पर उसे बाजारवाद का प्रतीक माना जाकर निशाना बना दिया जाता है, जबकि वह खुद बाजार के शोषण और कुचक्र से उपजे दयनीयता का नमूना-भर है।

समकालीन कहानी की सबसे बड़ी समस्या और विशेषता अपने समय

के नये यथार्थ की पहचान भी है। इस परिप्रेक्ष्य में जब कोई कहानी नव–यथार्थवाद से मुठभेड़ करती हुई मिलती है तो लेखन के प्रति भरोसा उपजता है।

संतोष चौबे की कहानी 'नौ बिन्दुओ का खेल' ऐसी ही एक कहानी है जो घिसी–पिटी कहानियों के फारमूलों से अलग नव–यथार्थ की प्रतिनिधि रचना है।

संतोष ने इस विचारोत्तेजक कहानी के माध्यम से उद्योगपतियों और सरकारों के संयुक्त तत्त्वाधान मे प्रायोजित देश में चल रहे तथाकथित औद्योगिक विकास के जाल–जंजाल का जीता–जागता खाका खींचा है और उस असलियत से परदा उठाया है जिसकी आड़ में जनता की आँखों में धूल झोंककर देश के खजाने की खुली लूट की जा रही है।

यह उस देशद्रोही विकास की तथाकथा है जिसकी प्रेतछाया के महिमा–मंडित बयान मीडिया, अखबारों और उद्‌भाषणों में छाये हुए हैं। संतोष इस षडयंत्र को सपाट नहीं कहते बल्कि वे नौ बिन्दुओ का एक दिलचस्प खेल रचते हैं। यदि किसी स्केंडल के तौर पर इसे लिखते तो यह कोई बात नहीं होती क्योंकि लोग घोटालों के धारावाहिक आख्यानों से इम्यून हो गये हैं। संतोष इस घटिया घटनाक्रम में जरूरी हस्तक्षेप करते हैं और नौ बिन्दुओं के खेल से उसको उलटपलट कर देते हैं।

विकास के इस महानायक के महानायकों के प्रतिकार में संतोष एक प्रतिनायक रचते हैं जो कार्तिक त्रिवेदी है। ना केवल नये विचारों बल्कि नये कर्मशैली वाली आज की नई पीढ़ी का सच्चा प्रतिनिधि है जो अपने देश के प्रति निष्ठा रखते हुए, नये उत्साह, उर्जा तकनीकी ज्ञान और कर्म कौशल से दिनों–दिन फैलती दुनिया में अपने मुनासिब जगह बनाना चाहता है।

उसके टूल्स स्पष्ट और खरे है। पैसा कमाना वह भी चाहता है लेकिन इस उद्यम में उसके तौर–तरीकों में चोरी और बेईमानी नहीं है, बल्कि अपनी बुद्धि–बल और मेहनत के दम पर लक्ष्य तक पहुँचने की हिम्मत और हौसला है। हमेशा की तरह पूँजीवादी व्यवस्था उसका भी इस्तेमाल कर दूध में से मक्खी की तरह निकाल बाहर फेंक देती है लेकिन वह

घुटने नहीं टेकता।

वह एक नई राह का अन्वेषण करता है और प्रतिभा तथा परिश्रम से खुद को प्रमाणित करने में सक्षम भी होता है। इस तरह वह देश की युवा पीढ़ी के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। यह कहानी मूलतः विकास की दो अवधारणाओं के टकराव को व्यक्त करती है। एक का लक्ष्य चंद लोगों की येन केन प्रकारेण सम्पन्नता है और दूसरे का उद्देश्य बहुसंख्यक लोगों को समृद्धि की ओर ले जाना है। एक का मन्तव्य विकास के खेल का पाखंड रच लूट मचाना है और दूसरे की दिशा वास्तविक विकास के मार्ग को प्रशस्त करना है। निश्चय ही दोनों तकनीक का उपयोग करते हैं और धनोपार्जन को ध्यान में रखते हैं लेकिन एक स्वजन हिताय है और दूसरा बहुजन हिताय है।

फर्क यहीं पैदा होता है, एक बड़ा फर्क जो किसी भी देश और समाज में सभी पक्षों और उन पहलुओं पर प्रभावी रूप से असर डालता है और यहीं नौ बिंदुओ के खेल का स्वरूप बदल जाता है। एक खेल में जिन बिन्दुओं को देखता है दूसरे के लिए वह बिन्दु बदल जाते हैं और नकारात्मकता छल-पाखंड की जगह सच्चाई, मेहनत, प्रतिभा, मुखर और प्रखर होकर के सामने आती है। इसलिए कार्तिक एक बड़े और आकर्षक आर्थिक प्रस्ताव को ठुकराने की हिम्मत आसानी से कर लेता है क्योंकि वह अपने भीतर उठती मनुष्यता की आवाज को नकार नहीं सकता।

संतोष जी ने यहीं कहानी का अंत किया है और बहुत रंजक काव्यात्मकता से। उस प्रस्ताव को ठुकराने का कारण मन का नुकसान बताते हुए कार्तिक कहता है कि मन ही मेरी सबसे बड़ी पूँजी है और म्यूजिक सिस्टम पर सीडी लगा देता है। मनुष्यता का यह संगीत जीवन का आधार है। संतोष ने इस कलात्मक अंत के द्वारा, जो बोला नहीं जा रहा था, उसके अनगिनत अर्थ और आशय दूर दूरान्त तक बिखेर दिये।

कवि विनोद कुमार शुक्ल कहते हैं कि विचार को रचना के अंत में रुक नहीं जाना चाहिए बल्कि उसे इस तरह रचे जाना चाहिए कि विचारों के प्रति अनेक दिशाओं मे निरंतर बढ़ती रहे। रचना विचार का विराम नहीं विचार का आरम्भ है। संतोष ने लेखन की इस शर्त को कलात्मक ढंग से

निभाया है और विचार के स्तर पर रचनात्मकता को सार्थक बनाया है।

इस नजरिये से देखा जाये तो संतोष चौबे अपनी कहानियों मे ऐसा सन्तुलन अक्सर साधने की लगातार कोशिश करते हैं और अधिकतर सफल भी होते हैं। उनकी कहानियों मे जहाँ एक ओर भाषा की समायोजित अनुकूलता और सम्प्रेषणीयता को लेकर पर्याप्त सतर्कता और सजगता है, वहीं कथ्य गहरे सामाजिक नवयथार्थ का बोध कराते हुए चलते हैं। इसके साथ ही मानवीय सरोकारों और प्रगतिशील मूल्यों के प्रति अपने आग्रह को भी वे नहीं छुपाते हैं और ना ही झंडे की तरह लहराते हैं, बल्कि अपनी रचना के विन्यास में दृढ़तापूर्वक संयोजित कर उसे रेशे-रेशे में समाहित करते हैं।

संतोष के शिल्पगत रहस्यों को समझने के लिए उनकी कहानी 'सूर्यास्त' को लिया जाये। ये पचमढ़ी से रोजमर्रा के पर्यटन के एक सामान्य प्रसंग को उठाते हैं लेकिन अंत का सिर्फ एक वाक्य वृत्तान्त को कथा में बदल देता है और प्रकृति की मनोरमता के ऐन बीचों-बीच हमारा साक्षात्कार धीरे-धीरे संवेदनशून्य और कलाहीन होते जा रहे उस समाज से होता है जिसके मूल्यबोध और सोच अलग हो गये हैं और प्रकृति से विमुख होते हुए बाजार के गर्त मे तेजी से समा रहे हैं। यह कथा का खेल है कि एक वाक्य ही वह सबकुछ बता देता है जो अब तक वातावरण में दमघोंटू धीमे-धीमे फैलने लगा था। यहाँ कहानी खत्म हो जाती है क्योंकि इसके आगे दुनिया की कोई कहानी कुछ नहीं कर पायेगी। एक मामूली प्रसंग में से एक सामाजिक बड़ी सच्चाई को व्यक्त कर देना निश्चय ही विचार और कला की समझदार जुगलबंदी है।

इस प्रवधि की और भी कहानियाँ हैं जैसे मुहूर्त, ताला, बीच प्रेम में गाँधी, मुश्किल, एक विचित्र प्रेम कथा। कहते हैं कि कथा का रस कहानी की शुरुआत में ही बूँद-बूँद टपकना चाहिए और अंत मे एक बूँद की लालसा पाठकों के मन में ठहर जाये तो कथा बनती है। रस की यह एक अतिरिक्त बूँद की चाह ही कथा का सार और प्रयोजन है।

संतोष कथारस को पहचानते हैं। उसका निर्वाह भी करते हैं। इनके अलावा कुछ और कहानियाँ भी हैं जैसे रेस्त्राँ में दोपहर, रामकुमार के

जीवन का एक दिन, बच्चे, लेखक बनाने वाले, जो संतोष की कथा की विशेषताओं में किस्सागोई के फन को रेखांकित करती हैं।

अंत में एक कहानी का जिक्र कर आलेख समाप्त करूँगा। संतोष के रचना संसार और सृजन की प्रक्रिया को समझने के लिए इस कहानी से गुजरना निहायत लाजमी हो जाता है। संतोष अपनी कहानियों में शब्दों और उनसे निर्मित बिंबों से दृश्य बनाते चलते हैं कि वे कहानी कहते नहीं, उसे विजुलाइज करते हैं।

यथार्थ को दिखाने का यह एक अनूठा शिल्प है। जिस प्रकार किसी चित्र में जो दिख रहा है उससे अधिक वह संप्रेषित होना चाहिए। जो चित्र में प्रत्यक्षतया तो नहीं दिख रहा है लेकिन भीतर बहुत-बहुत ज्यादा है। संतोष इस विद्या का इस्तेमाल कहानी में करते हैं। उनका तकाजा होता है कि देखे हुए के भीतर फिर-फिर से झाँक कर देखा जाये क्योंकि जो दिख रहा है वह पूर्ण नहीं है, अभी भी बहुत कुछ बाकी है जो देखा जाना चाहिए। क्योंकि वही वास्तविक और अमूल्य है। 'मगर शेक्सपियर को याद रखना' इसी आशय से लिखी एक उदाहरणीय कहानी है।

कहानी में नरेटर के माध्यम से जो दिख रहा है या दिखाई दे रहा है वह कोफ्त, गुस्सा और रंज पैदा करता है, लेकिन मानवीय संवेदना का एक कोण ऐसा भी है जहाँ से मनुष्य के स्वभाव और व्यवहारों की जटिलताओं को उनके बीच से गुजरते हुए मनुष्य की अंतरात्मा का सच भी बेतार-तार दिख जाता है।

इस कहानी में शेक्सपियर के नाटक और समरसेट मॉम की कहानी के कुछ दृश्यबंधों का अनुपम प्रयोग किया गया है जो कहानी के यथार्थ और उसके आशय को खोलने के लिए जरूरी है।

समकालीन कहानी में इस तरह की प्रयोगधर्मिता से ही अपने प्रयोजनों को बेहतर सिद्ध किया जा सकता है। धन्यवाद।

पंकज सुबीर

धन्यवाद, मुकेश जी, बहुत सुचितिंत आधार-वक्तव्य हेतु।

जिन प्रश्नों को आपने उठाया है, निश्चित रूप से उन प्रश्नों की चर्चा

आज यहाँ हम इस सत्र में करेंगे। विशेषकर संतोष चौबे जी की कहानियों के संदर्भ में। 'नौ बिन्दुओं का खेल', जिस कहानी की आपने चर्चा की वो सम्भवतः 'क्या पता कामरेड मोहन' की तरह से कई बार पढ़े जाने वाली कहानी है। बावजूद इसके कि वो एक ऐसा लेखक लिख रहा है जो स्वयं एक कार्पोरेट घराने के मालिक हैं।

उसके बावजूद उनकी नजर उस तलछट पर बनी हुई है जो बहुत गहरे में दिखाई दे रही है। यह लेखक की सबसे बड़ी सफलता है और आज जैसा मैंने कहा कि इस सत्र में हमारे साथ कहानीकार हैं और वो सारे कहानीकार इन प्रश्नों का उत्तर तलाशेंगे।

हमारे समय की बहुत महत्त्वपूर्ण कहानीकार हमारे साथ हैं, उनकी विशेषता यह है कि उनकी एक कहानी ने एक साहित्यक पत्रिका की शरुआत करवा दी। अपूर्व जोशी ने कहीं ये कहा था कि 'पाखी' पत्रिका मैंने शुरू ही इसलिये की क्योंकि मैने भालचंद्र जोशी की 'पालवा' कहानी पढ़ी थी और मुझे ऐसा लगा कि साहित्य अगर ऐसा होता है तो मुझे साहित्य पत्रिका भी शुरू करनी चाहिए।

ये किसी भी कहानीकार के लिए बहुत बड़ी सफलता है। मैं चाहूँगा कि आज के वक्तव्यों की शुरुआत भालचंद्र जोशी जी से करें। मेरे पास पर्ची नहीं है मुकेश जी की तरह। एक दस मिनिट की समय सीमा हम लोग अगर बाँधकर चलें तो हम लंच तक ठीक तरह से पहुँच पायेंगे। तो दस मिनिट के समय सीमा में हम लोग अपना वक्तव्य दें। आदरणीय भालचंद्र जोशी जी...

भालचंद्र जोशी

मंच पर उपस्थित सभी आदरणीय सज्जन और हॉल में उपस्थित सभी महानुभाव! मैंने पहले जो आलेख लिखा है उसको एडिट कर लिया है। काफी छोटा कर लिया है। तो कभी कहीं ऐसा लगे आपको पढ़ते वक्त कि मैंने थोड़ी छलाँग लगायी है या दचका लगा है, कभी ऐसा लगे बोलते समय तो सम्हाल लीजियेगा। मैंने उसे अभी इसी समय गोले लगाकर कम किया है।

मैं लिखकर इसलिए लाया कि बोलने में तकलीफ जाती है और जो मेरी डॉक्टर्स हैं। उन्होंने मुझे बोलने के लिए मना किया हुआ है। तो मुझे उसका भी ध्यान रखना है।

इन दिनों कहानी को लेकर साहित्य में तय की हुई उदासी देखी जाती है और अबोध उतावली भी है। इस समय लेखक के पक्ष में एक भारी बात यह है कि वह विचार, प्रतिबद्धता या संवेदन आदि के द्वंद्व में नहीं है हालाँकि कोई भी कहानी अपनी सम्पूर्णता संवेदना के आश्रय में ही पाती है।

जीवनानुभवों को किसी प्रतिबद्धता की तरफ श्रमपूर्वक ले जाने से कई बार कहानी अपने कहानीपन का हाथ छोड़ देती है। संतोष चौबे जी की अधिकांश कहानियाँ मानवीय अनुभवों या निजी अनुभवों से निथरे गद्यात्मक रूपांतर नहीं हैं। इसी के साथ एक बात और उनकी कहानी की अभिरक्षा में है कि वे कहानी को अनावश्यक लिरिकलनेस से बचाते हैं जहाँ कि उसकी ऐसी संभावना भी रहती है, वहाँ उसे एक संयमित ड्रामेटिक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

उनकी कहानी की संरचना ऐसी है कि इस तरह की कोशिश से कहानी को क्षति नहीं पहुँचती। 'रेस्त्राँ में दोपहर' उनकी ऐसी ही कहानी है जो शुरुआत में प्रकृति की सजग उपस्थिति कायम करके उनके पात्रों को आमंत्रण देती-सी लगती है।

संतोष चौबे कहानी को एक ठंडी उदासी या अन्यमनस्कता से तो बचाते ही हैं, दूसरी ओर उसे रिश्तों की सघनता के आग्रह से भी बचाते हैं। इसलिए उनकी कहानियाँ जीवनानुभवों को विचार की अपेक्षा विजन पर केंद्रित करती है। ऐसा विजन जो पारदर्शी चेतना के लिए रचना की आंतरिक सरंचना के स्थापत्य आत्मसंघर्ष की भूमि पर तैयार करते हैं।

यथार्थ के, नव-यथार्थ के लिए सर्वस्वीकार होना चाहिए कि कहानी के यथार्थ का प्रकटीकरण सम्प्रेषण के संवेदना तक पहुँचने का रास्ता है। जाहिर है कि ऐसे में कहानी का दायित्व यथार्थ का एक नव-सृजन है और दायित्व के बोध में यह स्वीकार भी शामिल है कि यथार्थ की कहानी में संवेदन की उपस्थिति जरूरी है।

संतोष चौबे कहानी को एक ठंडी उदासी या अन्यमनस्कता से तो बचाते ही हैं, दूसरी ओर उसे रिश्तों की सघनता के आग्रह से भी बचाते हैं। इसलिए उनकी कहानियाँ जीवनानुभवों को विचार की अपेक्षा विजन पर केंद्रित करती है। ऐसा विजन जो पारदर्शी चेतना के लिए रचना की आंतरिक सरंचना के स्थापत्य आत्मसंघर्ष की भूमि पर तैयार करते हैं।

कहानी का अस्तित्व एक दायित्वबोध से भरी चेतना का हिस्सा होता है जो रचना की प्रासंगिकता को स्पष्ट करता है। अब लेखक पर निर्भर है कि वो इन तमाम बातों को किस ढंग से अपनी रचना में प्रवेश देता है और उसकी अभिरक्षा की प्रतिक्रिया का निर्वहन भी स्पष्ट करता है।

स्पष्ट है कि जीवन यथार्थ का कहानी यथार्थ में रूपांतरण ठीक–ठीक यथार्थ की अनुकृति की अपेक्षा या निरपेक्ष यथार्थ की अपेक्षा हमारी कहानी चेतना और सामर्थ्य का रूपान्तरण भी है। यही बात कम या ज्यादा रचना की सफलता तय करती है।

चौबे जी की कहानी 'रेस्त्राँ में दोपहर' में भी इसी यथार्थ की आधार भूमि तैयार होती है। अंत में शुभ्रा के आगमन और बातचीत में हिस्सेदारी और अपने मित्र के प्रति नकारभाव ठीक उसी सोच और उसी शैली में प्रकट करना जिसमें कि सुकांत प्रवीण था– तुमने उसका निचला होंठ नहीं देखा कैसा मोटा और लटकता हुआ–सा है। कहानी लगभग इसी वाक्य के आसपास खत्म होती है। इसमें किसी चौंका देने वाले अंत का आभास तो है लेकिन परम्परागत कहानियों के अंत से कहीं भिन्न है जिसमें चौंका देने वाले अंत के लिए समूची कहानी की संरचना की जाती है। ऐसी कहानियाँ हिंदी में बहुतायत में हैं लेकिन इस कहानी में इस संवाद की प्रभावोत्पादक

उपस्थिति के बावजूद उसकी अनिवार्यता के लिए बड़ा स्पेस नहीं है।

इस कहानी मे प्रकृति की मोहकता और बड़े शहर की आपाधापी में थके ऊबे हुए मन का, उजड़े हुए मन का, उजाड़ भी वहीं स्थित है। यह संतुलन कहानी मे विस्मय देता है और कहानी में एक नये कथा-कौशल के दरवाजे भी खोलता है। इस कहानी मे प्रेम के लिए पर्याप्त स्पेस होते हुए भी लेखक ने इसको खाली ही रहने दिया, जिससे वह स्पेस भी जीवन यथार्थ के कहानी यथार्थ के रूपांतरण में मदद करता है। ऐसा कोई सप्रयास नहीं किया गया है। कुछ चीजें कहानी खुद ही तैयार कर लेती हैं। इस खाली स्पेस की निर्मिति में जितना लेखक का हाथ है, उतना खुद कहानी के रचाव की भागीदारी भी है।

इन सबके बीच इस नव-यथार्थ को प्रकट करने के लिए एक ऐसी भाषा की दरकार होती है जो जीवन यथार्थ और कहानी यथार्थ के रूपांतरण और संतुलन को कोई क्षति पहुँचाये बगैर सँभाल सके क्योंकि एक लेखक का कैसा भी यथार्थ हो, वह अन्ततः भाषा में ही प्रकट होता है। इसमें एक संकट यह भी है कि भाषा का अतिमोह कई बार उस यथार्थ को ध्वस्त कर देता है जिसके लिए उसमें श्रमपूर्वक उपक्रम किये गये हैं। इस तयशुदा यथार्थ के लिए भाषा की मदद उसी सीमा तक भली लगती है जब तक वह यथार्थ का अतिक्रमण करके अपनी ओर से कहानी मे कुछ जोड़ती है। हालाँकि कई बार ये जोड़ कहानी की मदद भी करता है, उसे ध्येय तक ले जाने में, और कई बार कहानी को आहत भी करता है।

इसलिए भाषा का उत्साह इतना संतुलित हो कि जिसमें यथार्थ को आहत किये बगैर लेखक की चेतना से बाहर छूटे रह गये यथार्थ को कथा में प्रवेश दे, उसे कहानी का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनायें।

इसी वजह से जीवन अनुभवों से यथार्थ के अतिमोह में घटना और ब्यौरों की अधिकता इतनी जगह घेर लेती है कि वे जीवन यथार्थ के कथारूपांतरण की सहजता हड़प लेते हैं और कहानी एक अच्छा रिपोर्ताज होकर रह जाती है।

इसी की सँभाल के लिए सृजन की घटना को फलाँग कर कहानी की

सजगता कथा की रक्षा करती है। इस कहानी में ऐसी पूरी-पूरी संभावना भी है और इसे सारी चीजों से बचाकर रखा भी गया है।

संतोष चौबे की कहानी 'बीच प्रेम में गाँधी' एक ऐसी कहानी है जिसमें अंतर्द्वन्द्व के सहारे भाषा में इजहार के ऐसे विचार की पूरी गुंजाइश थी जहाँ पर लेखक की मंशा संदिग्ध लगने लगती। यह छोटी सी कहानी पति-पत्नी के रिश्तों की ऊब या तात्कालिकता या लगाव की कहानी नहीं है। बल्कि पति-पत्नी के बीच के रिश्तों में ऊब की संभावना से डरे व्यक्ति का मार्मिक अंतर्द्वंद है। एक ऐसा अंतर्द्वंद्व जो क्षण भर में उसे वैराग्य के दरवाजे पर ले जाकर खड़ा कर देता है। उसका अंतर्द्वंद उसके भय को इतना विस्तारित करता है कि वह गाँधी के स्त्री संबंध के परित्याग तक पहुँच जाता है। वह दार्शनिक होता नहीं लेकिन दार्शनिक होने की कगार पर पहुँच जाता है ऐसी दार्शनिकता जिसमें यथार्थ के लिए कहीं भी जगह नहीं है, बल्कि मात्र अपनी उपेक्षा से उपजा क्रोध है। वह क्रोध तात्कालिक और इतने लघु समय के लिए है कि पत्नी का उसकी ओर करवट लेना ही उसकी वैराग्य की प्रतिज्ञा को खंडित कर देता है।

नायक समझ नहीं पाता कि गाँधी और सिद्धार्थ के वैराग्य में क्या फर्क है? इस कहानी का रचाव इतना सहज है कि कहानी के समाप्त होते तक पाठक हक्का-बक्का रह जाता है एक सामान्य गृहस्थ जो अपनी पत्नी के प्रेम में आकंठ डूबा होता है, किंचित-सी अवहेलना ही उसे क्षण-भर के लिए ही सही, वैराग्य की सोच मे अकेला छोड़ अचरज में छोड़ देती है। विशेष यह है कि इसमें उस नायक की उपेक्षा है जो दैहिक प्रेम में असुविधा महसूस करता है, वो प्रेम को दैहिकता तक लाने के लिए एक कोमल और तरल अनुभूति के बीच की धीमी गति को मुनासिब मानता है।

नायक के पास पत्नी के लिए, पत्नी के साथ बिताये क्षण-क्षण का हिसाब है, वो अतीत के हर उस क्षण को जीना चाहता है। पर पत्नी के कामकाज की थकान अपनी उपेक्षा से इतना आहत होता है कि वह न चाहते हुए भी उस निर्णय पर पहुँच जाता है जो किसी भी सामान्य गृहस्थ के लिए अस्वाभाविक है। कि अगर शादी में पति-पत्नी में ऊब पैदा होती

है तो उसे दूसरी जगह सहारा खोजने का अधिकार है, और अगर उसकी पत्नी ने ऐसा किया तो वो उसे रोकेगा नहीं, ऐसा नायक सोचता है। यह सोच हालाँकि तात्कालिक है, कुछ देर पहले पत्नी से मिली उपेक्षा से पैदा हुई है और अगले ही पल वह इसकी परिणति दृश्य की कल्पना से डर जाता है।

दरअसल, हर लेखक को दोहरे संघर्ष और पीड़ा से गुजरना पड़ता है। एक उसके अनुभव के घटित प्रकिया में और दूसरे उसके कथा रूपांतरण के समय। 'बीच प्रेम में गाँधी' में पत्नी का उसकी ओर करवट लेना ही तमाम भावुकता और त्याग से भरे निर्णय को ध्वस्त कर देता है।

इस कहानी मे एक मुझे यह बात भी भली लगी क्योंकि गाँधी को लोग जिस तरह से सामान्य ढंग से स्वीकार या अस्वीकार करते हैं, इसमें बौद्धिक असहमति से अधिक निरर्थक बहसों और धारणाओं का अधिक हाथ है। गाँधी अपने समय में ही नहीं, आज भी इतने सरल स्वभाव के लगते हैं लेकिन उनके सोच पर चलने के निर्णय बौद्धिक, जटिल और डरावने भी लगते हैं। क्या कोई व्यक्ति अपने आदर्शों को लेकर इतना हठी और जड़ हो सकता है? 'बीच प्रेम में गाँधी' कहानी में इसे बहुत सांकेतिक और बहुत दिलचस्प ढंग से प्रकट किया गया है। गाँधी को लेकर सामान्य गृहस्थ का अंतर्द्वंद्व बहुत मार्मिक यथार्थ है।

इन कहानियों के अतिरिक्त संतोष चौबे जी की 'नौ बिन्दुओं का खेल' को लेकर कहना चाहूँगा कि यह बहुत दिलचस्प कहानी है। वह अपने कथ्य में भिन्न और और भाषा में नवीन है। इसमें शिल्प और भाषा का खिलवाड़ भर नहीं है बल्कि पहले इस तथ्य का प्रमाणीकरण करने में बहुत विश्वसनीय आधार देती है कि यथार्थ महज संवेदना की निष्ठा से भरा हुआ ही ना हो, बल्कि उसका औचित्य उसके उस यथार्थ की खोज भी है जिसे वह थोड़ा कथा से बाहर छोड़ आया है।

संतोष चौबे जी की कथा यात्रा ऐसी ही खोज का परिणाम प्रस्तुत करती है। निरंतर खोज की बैचेनी ही संभवतया उनकी रचनात्मकता का उत्प्रेरक है। कहानियों की विषय विविधता शायद उन्हें और ज्यादा प्रभावी बनाती हैं। धन्यवाद।

पंकज सुबीर

धन्यवाद, भालचंद्र जी।

जिस कहानी का आपने जिक्र किया– 'बीच प्रेम में गाँधी', वो बड़ी दिलचस्प कहानी है और मैं उसको साथ में पढ़ता हूँ, 'सूर्यास्त' के साथ, क्योंकि वो दोनों ऊब की कहानियाँ हैं। एक जगह जीवन की ऊब है, एक जगह दाम्पत्य की ऊब है और उस ऊब और थकन से वो कहानी कुछ छटपटाहट लेकर बाहर निकलती है। बाहर से देखने में ऐसा लगता है कि बहुत सीधे कहानी गुजर रही है लेकिन जब उस कहानी में नीचे उतरते हैं, विशेषकर 'सूर्यास्त' में, जब खन्ना इंजीरियर को समझ में नहीं आता कि उसके मोहल्ले के सूर्यास्त में और पचमढ़ी के धपगढ़ के सूर्यास्त में अंतर क्या है? तब लगता है कि वहाँ कहानी अपनी बात कह जाती है।

इस तरीके की जो सीधी और सरल कहानियाँ हैं। इसको लेकर आलोचक पल्लव ने बहुत अच्छी बात लिखी है, एक कहानी के संदर्भ में। एक ये कहानी है 'आँख का नाम रोटी', उसे लेकर पल्लव ने लिखा है कि ऐसी कहानियाँ जो बहुत सीधी सी दिखती हैं और जो पाठक बहुत आसानी से स्वीकार कर लेता है, तो आलोचक के लिए बहुत कठिनाई हो जाती है। वे आलोचक के सामने बड़ी परेशानी पैदा कर देती है। 'आँख का नाम रोटी' लिखने वाले कथाकार हमारे सामने यहाँ मंच पर हैं और वो भोपाल के बहुत प्रतिष्ठित कथाकार हैं। मैं चाहूँगा कि वे इस चर्चा को आगे बढ़ायें, 'रचना समय' के सम्पादक, भाई हरि भटनागर जी।

हरि भटनागर

साथियो! मुझे मुकेश वर्मा जी ने फोन करके पहले सूचित किया था कि आप किसी एक कहानी पर केंद्रित हों और बहुत थोड़े शब्दों मे अपनी बात रखें।

तो मैं उनके आदेश का पालन करते हुए अपने विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ। बहुत पहले मैंने काशीनाथ जी की एक कहानी 'संकट' पढ़ी थी। कहानी बहुत छोटी थी जिसमें एक फौजी है जो लम्बे समय के बाद सरहद से घर लौटा है। घर आता है और पत्नी को प्यार करना चाहता है।

प्रश्न यह है कि यह कौन सा संकट और कौन सी मुश्किल है? क्या हमें इन संकटों और मुश्किलों को जीवन का केंद्रीय विषय बनाना चाहिए? गोर्की ने एंतोन चेखव की 'रोमांस' कहानी पढ़कर पत्र लिखा था कि आप कौन से यथार्थ की तरफ हमें ले जा रहे हैं। एक तरह से आप वक्त की जरूरत के विरुद्ध जगाने की बजाय सुलाने, मनुष्य की चेतना को भोथरा बनाने वाले यथार्थ को स्पेस दे रहे हैं।

पर दुखद पक्ष है कि घर बहुत छोटा है और वह प्यार इसलिए नहीं कर पाता क्योंकि उसकी नंगी आवाज घर वालों की नींद भंग कर देगी और अंततः वह पत्नी से प्यार नहीं कर पाता है। वह संकट में है, वह दुखी होता है।

कहानी निश्चित रूप से मंटो की 'नंगी आवाजें' की ओर ले जाती है। इसमें एक आदमी इंसान से चित होकर जानवर जैसी हालत में है। जाना नहीं चाहता जबकि आस पास का माहौल जानवर जैसी हालत में है।

ये कहानी काशीनाथ सिंह की 'संकट' किस यथार्थ की ओर इशारा करती है। यह कौन सा संकट है? मनुष्यता का संकट, उन परिस्थितियों का संकट, जिसमें हम नितांत जरूरी इच्छा को फलीभूत नहीं कर पाते अर्थात् आदम जरूरत का मानी अवशेष नहीं रहा, अर्थात् स्थितियाँ हमें हमेशा हर वक्त, एक दूसरे से दूर तन्हा रखने को विवश करती हैं, हम जुड़ नहीं सकते, एक नहीं हो सकते, आधुनिकता का यह कौन सा संकट है? हमें यह गहरे पर सोचने पर विवश करती है।

इसी के बरक्स संतोष चौबे की कहानी 'मुश्किल' को रखें तो कई सारे सवाल हमें घेर लेते हैं। कहानी यह है कि पति पत्नी अपनी आदिम जरूरत को पूरा तो कर लेते हैं, लेकिन यहाँ संकट बेटी है, संकट लाजमी है। पाँच वर्षीय बेटी संकट का सबब है क्योंकि पत्नी रजाई के अंदर निर्वस्त्र है। लड़की अर्थात् संकट जो किसी तरह टलने का नाम नहीं लेता,

किसी तरह यह संकट टलता है लेकिन यह टलना हमें पूरी तरह हमें नग्न कर देता है। अर्थात् पति पत्नी छोटी बच्ची को कई तरह के उपाय कर प्रयत्न प्रलोभन से अपने से दूर तो कर देते हैं, लेकिन बच्ची दोनों को निर्वस्त्र देख लेती है। बच्ची कहती है मम्मी से– शेम शेम। ऐसी स्थिति में देखना होगा कि कहानी का यथार्थ, कहानी का तर्क, आधुनिकता के किस अर्थ को रूप देता है? पति सोचता है कि उसने मनोविज्ञान की कई किताबों में पढ़ रखा था कि बच्चे अगर कभी माता-पिता को इस तरह देख भी लें तो इसमें कोई हर्ज नहीं, इससे उन्हें सामान्य बनने मे मदद मिलती है। लेकिन उसका दिल उस समय इसे स्वीकार करने से इनकार करता है।

प्रश्न यह है कि यह कौन सा संकट और कौन सी मुश्किल है? क्या हमें इन संकटों और मुश्किलों को जीवन का केंद्रीय विषय बनाना चाहिए? गोर्की ने एंतोन चेखव की 'रोमांस' कहानी पढ़कर पत्र लिखा था कि आप कौन से यथार्थ की तरफ हमें ले जा रहे हैं। एक तरह से आप वक्त की जरूरत के विरुद्ध जगाने की बजाय सुलाने, मनुष्य की चेतना को भोथरा बनाने वाले यथार्थ को स्पेस दे रहे हैं।

आज जब मार्क्स के शब्दों में कहे 'थॉट इज फाल्स एण्ड लाइफ इज ट्रू' अर्थात् अंतिम सत्य जीवन है। विचार अन्ततः अन्तिम सत्य नहीं है। तो लेखक की सोद्देश्यता के चलते प्रतिबद्ध दृष्टि के चलते, ऐसे यथार्थ को प्रस्तुत करना चाहिए जो वक्त की जरूरत हो।

मैं इन दो कहानियों को खारिज बिल्कुल नहीं कर रहा हूँ। संभवतया यह नव-यथार्थ का एक स्पेस है। मार्क्स की उपरोक्त पंक्तियाँ निश्चित तौर पर हमे गहरे सोचने पर विवश करती हैं। फिलहाल अभी इतना ही। धन्यवाद।

पंकज सुबीर

धन्यवाद, भटनागर जी।

जिस ओर आपने इंगित किया है, संतोष चौबे जी की कहानियों में देह कई बार आती है और वो कई सारे प्रश्नों के साथ आती है। जब कोई

कहानी के दौरान कथानायक अपनी तुलना जानवर से करता है कि शायद मैं जानवर जैसा दिखता होऊँगा तो कहानी खुद से भी सवाल पूछ रही होती है। इसलिए राजेश जोशी जी ने कहानी संग्रह के फ्लैप पर काफी अच्छा लिखा है।

तो ये जो प्रश्न हैं सच में कहानी संग्रह में मौजूद हैं और सवाल पूछने पर मजबूर करते हैं विशेषकर 'बीच प्रेम में गाँधी'। हमारे साथ एक कहानीकार ऐसे हैं जो मुझसे से अभी शिकायत कर रहे थे कि आप मुझे आलोचक के रूप में क्यों ले रहे हैं। क्या मुझे कहानीकार नहीं मानते हैं? तो मैं ये ही कहूँगा। ऐसा करना मेरी मजबूरी है क्योंकि इस सत्र में आलोचक आप एक ही हैं और बाकी सब कहानीकार ही हैं। तो मैं आपका दूसरा पक्ष भी यहाँ रखना चाहूँगा। हालाँकि वो बहुत अच्छे कहानीकार हैं 'खिला है जो यहाँ', 'बिजली का फूल हो', 'परिधि के पार' इत्यादि कहानियाँ हैं। ये सब बहुत-बहुत सुगठित कहानियाँ हैं लेकिन 'केन्द्र में कहानी' जैसी किताब रचकर अब मै सोचता हूँ कि वो आलोचकों की कतार में ज्यादा अच्छे नजर आते हैं। तो मैं चाहूँगा कि सारी वार्ता पर एक आलोचकीय दृष्टि इसी चर्चा के ठीक मध्य में प्राप्त करें। मेरी मुराद है भाई राकेश बिहारी जी से। वे यहाँ आयें और अपना वक्तव्य दें।

राकेश बिहारी

धन्यवाद! भाई पंकज सुबीर जी।

मंच पर और सभागार में उपस्थित वरिष्ठगण और मित्रो, मैं पेशे से एक एकाउन्टेंट हूँ और जैसा पंकज ने कहा कि आलोचक के बतौर आपके सामने खड़ा हूँ। जाहिर है मेरी शब्दावली जो होगी, हो सकता है मेरे पेशे से प्रभावित हो और आलोचना की जो पारंपरिक शब्दावली आप सुनते आये हैं, उसका आस्वाद आपको ना मिले और आस्वाद परिवर्तन का भी भाव ना जगे, तो इस नजरिये बीच में रुकावट मानकर मुझे क्षमा करेंगे।

आज का विषय 'समकालीन कहानी और नव-यथार्थ'। सबसे पहले जब मैंने यह विषय सुना या कहिये लिखा हुआ देखा तो मेरे भीतर जो

पहला प्रश्न जागा, वह यह था कि नवयथार्थ क्या होता है? क्या यथार्थ नया या पुराना भी होता है या फिर वह समय और परिस्थिति के सापेक्ष होता है। यदि हम नवयथार्थ कि बात करते हैं तो जाहिर है कुछ पुराने की परिकल्पना भी हमारे भीतर होगी। जब नवयथार्थ कहते हुए हम उस किसी पुराने की बात कहना चाहते हैं तो क्या हम यह सोचते हैं कि आज वह तथाकथित पुराना यथार्थ मौजूद नहीं है।

इसे हम दूसरे शब्दों में कहें कि यदि एक विषय को इस तरह कहा जाता कि समकालीन कहानी व यथार्थ, तो क्या हम कुछ और बोलते होते जो इस विषय पर बोलने जा रहे हैं। मुझे लगता है कि नहीं। यह नव जो है, खासकर इस यथार्थ के साथ जुड़कर, मुझे लगता है यह एक उपसर्ग का अपव्यय है। एक ऐसे समय में जब कॉस्ट कंट्रोल जिसको हम संसाधनो के मितव्ययी उपयोग की बात कह सकते हैं, कि सबसे ज्यादा जरूरत हो, मैं महसूस करता हूँ कि शब्दों को बरतने के क्रम में भी हमें उस मितव्ययिता का थोड़ा-सा परिचय देना होगा। बहरहाल विषय की तरफ आता हूँ, मुझे फिराक का एक शेर याद आ रहा है– कुछ ना पूछो फिराक अहदे शबाब, कुछ ना पूछो फिराक अहदे शबाब रात है, नींद है, कहानी है।

रात है, नींद है, कहानी है की जगह मैं रात और नींद की जगह यथार्थ को रखता हूँ।

आपके शब्दों में इस नवयथार्थ को रखता हूँ और यह समझने की कोशिश करता हूँ कि यह यथार्थ हमें कहानी तक कितना और कहाँ तक पहुँचा पाता है?

मैं कॉर्पोरेट सेक्टर के तहत काम करते हुए हमेशा एक बात कहता हूँ। ये बात कुछ लोगों के लिए नयी और कुछ लोगों के लिए सुनी हुई बात होगी। दो तरह के अनुभव मैंने अर्जित किये हैं। मेरी एक शिकायत हमेशा होती है कि जब कभी हम कॉर्पोरेट की बात करते हैं, हमारी निगाह में सिर्फ प्राइवेट कॉर्पोरेट होता है, हम पब्लिक कॉर्पोरेट को भूल जाते हैं। संयोग से मुझे प्राइवेट कॉर्पोरेट और पब्लिक कॉर्पोरेट दोनों में काम करने का मौका मिला है। प्राइवेट कॉर्पोरेट में काम करते हुए मैंने बड़ी शिद्दत

से ट्रेड यूनियन की जरूरतों को महसूस किया है, लेकिन पब्लिक कॉर्पोरेट में काम करते हुए जब मैंने उसी ट्रेड यूनियन की हकीकतों को देखा तो उसकी उपस्थिति से एक विक्षोभ-सा महसूस हुआ।

एक परिस्थिति में किसी खास चीज की जरूरत को महसूस करना और दूसरी ही परिस्थिति में उसकी उपस्थिति से, उसकी व्यावहारिक उपस्थिति से इस विक्षोभ का पैदा होना, ये जो दो छोर हैं, दो विपरीतधर्मी छोर हैं। इन्हीं दो विपरीतधर्मी छोरों के बीच हमारा समय और हमारे समय के यथार्थ का भूगोल बना हुआ है। क्या हमारी कहानियाँ उन यथार्थों को कहानी के रूप मे पुनर्जीवित कर हमारे सामने रख रही हैं?

मुझे लगता है आजकल का विषय खासकर संतोष चौबे जी की कहानियों के हवाले से है। मैं इस विषय को इसी तरह समझता हूँ। मैं जिस यथार्थ की बात कहना चाहता हूँ, जो आज के समय का यथार्थ है, इसे मैं एक चतुष्कोणीय यथार्थ के रूप में देखता हूँ। जिसका एक कोण अतिरेक है। मैंने कहा दो विपरीतधर्मी चीजें हैं। यह अतिरेक जीवन के हर क्षेत्र में है। कब आपका एक असुविधाजनक सवाल किसी से आपके लिए देशद्रोही तो किसी आपके लिए संघी जैसा विशेषण दिलवा देगा, आप नहीं जानते।

तो यह जो दो तरह के अतिरेकों का समय है, यह आज के यथार्थ का पहला कोण है। मैं इसे मानता हूँ। दूसरा कोण है संकुचन। बहुत सारी चीजों के अर्थ आज संकुचित हो गये हैं। संबंध एक पोटेन्सियल कस्टमर के रूप मे संकुचित हो गया है। जब हमारे जीवन की सभी अभिक्रियाएँ हैं, सुबह से शाम तक जो कुछ हम करते हैं, जिसे किसी ने कर्म कहा, आज वह विशुद्ध कार्य में परिणित हो चुका है।

एक ऐसा कार्य जिसे तरह-तरह के पैमानों पर तरह-तरह के टारगेट के बेंच मार्क के आधार पर जाँचने-परखने की कोशिश की जाती है, तो इसका तीसरा कोण मुझे दिखता है– अतिरेक और संकुचन के अलावा, वह खरीद-फरोख्त का समय और यह खरीद-फरोख्त सिर्फ वस्तुओं की नहीं, सपनों तक की खरीद-फरोख्त है। पाश ने कहा था कि सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना। आज मुझे लगता है, उससे भी

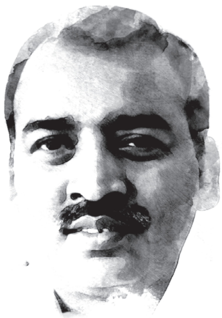

मैंने जो सपनों के खरीद-फरोख्त की बात की है, उसके संदर्भ में संतोष जी की एक कहानी है– 'लेखक बनाने वाले'। जब इस कहानी को मैंने पढ़ना शुरू किया, मेरे लिए बहुत दिलचस्प अनुभव था और बहुत उम्मीद जगी थी इस कहानी को पढ़ के। कैसे लेखक बनाया जाये? इसका एक विज्ञापन है। किसी बिजनेस संस्थान का और वहाँ पर एक संभावनापूर्ण लेखक जाता है जिसमें लेखक बनने की महत्त्वाकांक्षा है, और वह वहाँ की पूरी प्रक्रिया से गुजरता है। वहाँ कैसे लेखक बनने की पूरी प्रविधि विकसित की गयी है, उससे गुजरता है वो।

खतरनाक समय है। जब ये सपने मरे नहीं हैं, इनकी खरीद-फरोख्त चालू हो गयी है। और इसका जो चौथा कोण है, जो मुझे लगता है वह है अस्मिताबोध का। बहुत जरूरी कोण है। कई बार अस्मिताबोध के नाम पर जो चीजें हमारे सामने आ रही हैं, हम बहुत आसानी से उसको अपनी शब्दावली में खारिज करने की कोशिश करते हैं। हम उसके व्याकरण को, उसकी मन:स्थिति को समझना नहीं चाहते और जो हमारे अपने पैमाने हैं, उसके आधार पर बहुत आसानी से खारिज कर देते हैं। उसे भी समझने की जरूरत है। मैं अब इस चतुष्कोणीय यथार्थ के हवाले से या फिर इसके आईने में संतोष चौबे जी की कहानियों को देखना चाहता हूँ।

इसके पहले यहाँ यह स्वीकार बहत जरूरी है कि मैने संतोष जी की बहुत कहानियाँ नहीं पढ़ी हैं। मैं कहानियों के पाठ में एक छोटा-सा विद्यार्थी हूँ। कहानियाँ पढ़ने के क्रम में हूँ। उसी क्रम में जो थोड़ी-सी कहानियाँ मैं पढ़ पाया। खासकर जो प्रतिनिधि कहानियाँ हैं, उसकी कहानियाँ, उसकी कुछ एक कहानियों के माध्यम से मैं अपनी बात कहता हूँ।

मैंने जो सपनों के खरीद-फरोख्त की बात की है, उसके संदर्भ में संतोष जी की एक कहानी है– 'लेखक बनाने वाले'। जब इस कहानी को

मैंने पढ़ना शुरू किया, मेरे लिए बहुत दिलचस्प अनुभव था और बहुत उम्मीद जगी थी इस कहानी को पढ़ के। कैसे लेखक बनाया जाये? इसका एक विज्ञापन है। किसी बिजनेस संस्थान का और वहाँ पर एक संभावनापूर्ण लेखक जाता है जिसमें लेखक बनने की महत्त्वाकांक्षा है, और वह वहाँ की पूरी प्रक्रिया से गुजरता है। वहाँ कैसे लेखक बनने की पूरी प्रविधि विकसित की गयी है, उससे गुजरता है वो।

मुझे लगता है कि लेखक बनाने का सपना दिखाना, यह केवल लेखक बनाने का सपना नहीं है, दरअसल हम जिन सपनों की परिकल्पना करते हैं एक लेखक के रूप में, उन सपनो के खरीद-फरोख्त की बात भी है यहाँ। हालाँकि कहानी के दूसरे हिस्से में कहानी थोड़ी सपाट हो गयी और वहाँ पर इस तरह के मेकेनिज्म की बात थी कि कैसे बनाया जाता है लेखक? कैसे बनाई जाती है कहानी? लेखक के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तावित करती है कि नहीं लेखक इस तरह से नहीं बनाये जाते। लेखक तो अनुभवों से निकल कर बनते हैं। तो लगता है कि कुछ हद तक नीति कथात्मक हो जाती है कहानी।

नीतिकथात्मक कहते हुए बीच में मैं एक बात पर आता हूँ। यह नीति शब्द सुबह से कई बार बोला गया। उपन्यासों की चर्चा हुई। उपन्यास में एक नीति पात्र की चर्चा हुई हालाँकि मैंने उपन्यास नहीं पढ़ा है। इस संग्रह की कहानियों में से गुजरते हुए मुझे दो कहानियों में स्त्री पात्र के नाम नीति मिले हैं। आखिर स्त्री पात्र का नाम, बार-बार नीति क्यों आता है? मेरे मन मे निर्णय नहीं है इसको लेकर, लेकिन दो तीन तरह की आशंकाएँ हैं, जिज्ञासाएँ हैं, इसको लेकर।

क्या यह किसी खास नाम को लेकर प्रेम या आग्रह-भर है? या किसी खास नाम के क्लिक हो जाने का टोटका है? या हमारे अवचेतन मे बैठी ग्रंथि है जो लड़कियों को हमेशा नीति के चौखटे में ही देखना चाहती है। वैसी नीति जैसी हमने बनी-बनाई, हमने अर्जित की है।

बात हमने संकुचन की थी कि कैसे चीजें संकुचित हो रही हैं। एक दूसरी कहानी है- 'रामकुमार के जीवन का एक दिन'। बहुत अच्छी कहानी है। कैसे? हमारी पूरी दिनचर्या हमारी पूरी अभिक्रियाएँ कैसे किसी

मेकेनिकल कार्य के रूप में परिणित हो गयी हैं। जिसमें प्रेम जैसी बहुत ही संवेदनशील और संभावनाओं से जुड़ी चीजें भी जब आपके काम का हिस्सा हो जायें, यह कितनी त्रासद स्थिति हो सकती है। उसी को यह कहानी हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

अभी कहानी जिस पर चर्चा चली, जिसकी हरि जी ने यहाँ पर चर्चा की है– 'मुश्किल'। मै थोड़ा हरि जी से असहमत होना चाहता हूँ। जब जब हम यह सवाल करते हैं कि आखिर आप कौन-सा यथार्थ दिखाना चाहते हैं? तो कहीं ना कहीं किसी खास वस्तु को कहानी के लायक रचना के लायक नहीं मानते हैं। हम यह महसूस करते हैं कि इन विषयों पर कहानी नहीं लिखी जानी चाहिए।

मुझे लगता है निजी तौर पर कोई भी विषय रचना कर्म के लिए वर्जित नहीं होता है, ना ही होना चाहिए। हाँ प्रश्न यह जरूर उठता है कि आपने उस विषय को अपनी कला में कैसे रखा है या फिर रचा है। रखने और रचने का जो अंतर है, वह जरूर कहानी की प्रभावोत्पादकता, उसकी सफलता को प्रभावित कर सकता है। लेकिन सिर्फ विषय के आधार पर किसी भी रचना को खारिज करना या उस विषय के ऊपर कोई रचना रचने के औचित्य पर प्रश्न खड़ा करना मुझे उचित नहीं लगता है।

इस रचने और रखने को अगर मैं, यथार्थ के रचने और यथार्थ के रखने को, अपनी तरह से समझने की कोशिश करूँ, तो मैं तमाम रचनाओं को एक ग्राफ की तरह देखना चाहता हूँ। एक ऐसा ग्राफ जिसके एक्स एक्सिस पर घटनाएँ हैं और वाय एक्सिस पर उन घटनाओं के उत्पन्न होने के बाद उस स्थिति में हमारे भीतर और बाहर कौन-सी चीजें बनती और बिगड़ती हैं, कैसी उथल और पुथल क्रियेट होती है, वो वाय एक्सिस पर होता है। एक्स एक्सिस पर उन घटनाक्रमों को रखना यथार्थ का रखा जाना है और वाय एक्सिस पर उन चीजों का विस्तार तय करता है कि जो यथार्थ रखे गये थे, वो रखे हुए ही रह गये या फिर वो रचे गये।

मै आखिर में बड़ी विनम्रता से यह कहने की इजाजत चाहता हूँ कि जो थोड़ी-सी कहानियाँ मैंने पढ़ीं, उनमें आज के समय के तमाम चतुष्कोणीय यथार्थ, जिसका मैंने जिक्र किया, उसके रखे जाने की अनुगूँज

तो बहुत साफ-साफ सुनाई पड़ती है लेकिन मेरा जो आस्वादक है, वह यह महसूस करता है कि रचे जाने में अभी कुछ बचा है।

मैं उम्मीद करता हूँ कि जो कहानियाँ मैंने नहीं पढ़ी हैं, उनमें या संतोष जी की जो आगामी कहानियाँ आयेंगी, मुझे यथार्थ के रचने का आस्वाद भी उतना मिल पायेगा, जितना मैं अपेक्षा करता हूँ।

आपने बहुत ही धैर्यपूर्वक मुझे सुना। आपका बहुत-बहुत धन्यवाद।

पंकज सुबीर

धन्यवाद राकेश बिहारी का। उनके माध्यम से आलोचक की दृष्टि हमें देखने को मिली और निश्चित रूप से जिन प्रश्नों को उन्होंने उठाया है वे संतोष चौबे जी तक पहुँचे होंगे। मुझे लगता है कि 'नौ बिंदुओं का खेल' शायद इसमें सम्मिलित नहीं है, जो इन दिनों लिखी गई एक महत्त्वपूर्ण कहानी है।

मित्रो, जैसा इस सत्र का फारमेट है, हमने हस्तक्षेप को अंत में रखा है, ताकि एक बार सारे वक्ताओं को हम सुन लें, फिर हस्तक्षेप करने वाले हमारे वक्ताओं को सुने। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, हमारे कथाकार हैं, उन वक्ताओं पर आधारित होकर वे अपनी प्रतिक्रिया और अपने तरीके से हस्तक्षेप कर पायें।

हमारे साथ एक वरिष्ठ कथाकार हैं जिनके बारे में ललित सुरजन ने लिखा है कि उनकी एक वैश्विक दृष्टि है, कि वे छत्तीसगढ़ के सुदूर अंचल में बैठकर भी अमेरिका और सद्दाम हुसैन जैसे लोगों को देख लेते हैं। वे घटनाओं को देख लेते हैं और घटनाओं के पीछे जाने की कोशिश भी करते हैं कि ये घटनाएँ किस प्रकार से घट रही हैं। साथ ही वो कला और रूपांकर कला पर भी उतनी ही अपनी पकड़ रखते हैं जो संतोष चौबे जी की विशेषता है कि वे भी रूपांकर कलाओं की समझ और वैश्विक दृष्टि रखते हैं। वैसे ही हमारे बीच आदरणीय रमाकांत श्रीवास्तव उपस्थित हैं। उनकी भी लगभग-लगभग वही दृष्टि है। मै चाहूँगा कि इस चर्चा को अब हम उनके साथ आगे बढ़ायें। आइये आदरणीय रमाकांत श्रीवास्तव।

रमाकांत श्रीवास्तव

मंच पर उपस्थित और सभागार में उपस्थित सम्मानीय दोस्तो, दस मिनट के अंदर आपके सामने कुछ बातें केवल सूत्र रूप में ही रखूँगा। क्योंकि नव-यथार्थ पर बातचीत हो रही है, इसलिए मैं केवल उस नव-यथार्थ के साथ समकालीन कहानी का रिश्ता कैसे बनता है या समकालीन कहानी उस नव-यथार्थ को कैसे आगे बढ़ाती है, इस पर एक-दो वाक्य कहूँगा।

ये मैंने देखा कि आज की जो समकालीन कहानी है यानी कहानीकारों की नयी पीढ़ी, हमारे समय से उसी तरह टकरा रही है जिस तरह से उसके पहले हमारे वरिष्ठ कथाकार टकराते थे। ये जरूर है कि जो उपभोक्तावाद चारों तरफ फैला हुआ है जिसके विषय में आधार वक्तव्य में बातें हो चुकी हैं, उस उपभोक्तावाद का थोड़ा-सा असर शिल्प के ज्यादा चमकदार होने में, रचनाओं में, दिखना ही चाहिए। यानी उपभोक्तावाद और बाजारवाद का विरोध तो अंर्तमन से है लेकिन उसका एक प्रभाव भी है, जो शिल्प की चमक के रूप में दिखाई देता है।

थोड़ी बातें आज के केंद्रबिंदु संतोष चौबे और उनकी कहानियों पर। मित्रो हम जानते हैं कि संतोष चौबे 'आल इन वन किस्म' के व्यक्ति हैं। उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि है, अध्ययन है, अनुभव है, लेखन की चाहत है और लिखने की योग्यता है और महत्त्वाकांक्षा भी है जिसे मैं बुरा नहीं मानता। यदि महत्त्वाकांक्षा आत्मरति के रूप में नहीं परिणित होती और वह दूसरों के रास्तों को नहीं रोकती है तो मैं समझता हूँ, कि वह किसी भी क्षेत्र की महत्त्वाकांक्षा हो, वो जरूरी है।

संतोष चौबे जी की पूरी रचनाओं को मैंने भी पूरी तरह से नहीं पढ़ा है। कुछ कहानियाँ मैंने पढ़ी हैं और कहानियों के अलावा उनकी जो किताबें हैं, खासकर 'अपने समय में', उसको पढ़कर मुझे लगा कि संतोष चौबे इस पूरे परिदृश्य को देखते हैं। स्वाभाविक है कि उनकी अपनी जो पृष्ठभूमि है, मतलब कि वे अध्ययन, अध्यापन में, मैनेजमेंट में, बहुत से नये क्षेत्रों में काम करने की आकांक्षा जो उनके अंदर मौजूद है, एक ऐसे व्यक्तित्व को धारण करते हुए, जब वे कहानियाँ लिखते हैं तो कई क्षेत्रों की तरफ उनके जाने की कोशिश होती हैं।

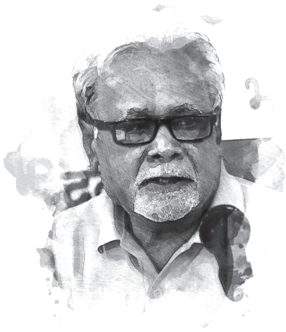

संतोष चौबे 'आल इन वन किस्म' के व्यक्ति हैं। उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि है, अध्ययन है, अनुभव है, लेखन की चाहत है और लिखने की योग्यता है और महत्त्वाकांक्षा भी है जिसे मैं बुरा नहीं मानता। यदि महत्त्वाकांक्षा आत्मरति के रूप में नहीं परिणित होती और वह दूसरों के रास्तों को नहीं रोकती है तो मैं समझता हूँ, कि वह किसी भी क्षेत्र की महत्त्वाकांक्षा हो, वो जरूरी है।

उनकी कहानियों में एक यह उज्जवल पक्ष है कि उन्होंने मध्यवर्ग पर अपने को केंद्रित करते हुए भी मध्यवर्ग के यथार्थ के बहुत से आयामों को, अपनी कहानियों में शामिल करने की कोशिश की है। दोस्तो, एक बात मैं आपके बीच में कहना चाहता हूँ कि समय बहुत बुरा आ रहा है जिसकी चर्चा हम करते रहते हैं लेकिन कुछ ऐसे सिद्धांत होते हैं जो मरते नहीं हैं। मार्क्स या गाँधी के सिद्धांत ऐसा नहीं है कि उन्हें पूरी तरह से भुला दिया गया है या वे अप्रासंगिक हो गये हैं, इसलिए कोई भी रचनाकार जो आज के वक्त का होगा उसको इन दोनों से टकराना पड़ेगा और संतोष चौबे भी अपनी कहानियों में उनसे टकराते हैं। उपन्यास पर अलग से बात हुई इसलिए मैं उस पर कोई बात नहीं करूँगा।

उनकी कहानियों में नये क्षेत्रों की जो तलाश है, उस पर दो-तीन बातें मैं आपके सामने रखूँगा। मैंने आपके सामने जो बातें रखीं, उन्हें मैं श्रेणीबद्ध करना चाहूँगा, आप इसे विश्वविद्यालीन समीक्षा ना समझें। श्रेणीबद्धता से मेरा आशय यह है कि वे किस तरह से जीवन को देखते हैं। एक श्रेणी मुझे दिखलायी देती है ऐसी जहाँ वे अपने क्षेत्र से हटकर दूसरे क्षेत्रों की तलाश करते हैं।

'मूहूर्त' का जिक्र नहीं हुआ अभी यहाँ पर। संतोष चौबे स्वयं विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के व्यक्ति हैं। मुझे लगता है कि हिंदी में ऐसी कहानियों का सख्त अभाव है जो कहानियाँ जीवन के उस क्षेत्र तक पहुँचती हैं

जिसका अनुभव अमूमन बहुत से साहित्यकारों के पास नहीं है। 'मूहूर्त' कहानी एक ऐसी अद्भुत कहानी है जिसका निष्कर्ष यह निकलता है कि विज्ञान के नये आविष्कार हो रहे हैं, टेक्नॉलॉजी नये आसमान को छू रही है, लेकिन वैज्ञानिक चेतना घट रही है। वैज्ञानिक चेतना गायब है और वह वैज्ञानिक चेतना ना केवल आम आदमी के, बल्कि स्वयं वैज्ञानिकों के मन में भी नहीं है। वैज्ञानिक चेतना अलग चीज है और विज्ञान का अध्ययन अलग चीज है, विज्ञान के आविष्कार अलग चीज हैं। नयी कंपनी, नये आविष्कार को सामने लाती है, उसका प्रेक्टीकल हो रहा है और अधिकारी विज्ञान के उस कार्य को प्रारंभ करने के लिए मूहूर्त देखता है, और अच्छा से अच्छा मूहूर्त देख कर कहता है कि हम इस आविष्कार का डिमांस्ट्रेशन करेंगे। आविष्कार फेल हो जाता है। अधिकारी यह निष्कर्ष निकालता है कि मुहूर्त ठीक से नहीं निकाल पाया मैं। यानी उसे सोचना यह चाहिए था कि कहीं काम में गड़बड़ी है, लेकिन उसे लगता है कि पोथी-पत्र में जाँचने में कोई गड़बड़ हो गयी है।

'नौ बिंदुओं का खेल', मैं समझता हूँ कि इसके संबंध में काफी बातचीत हुई है। आज के समय में इस व्यावसायिक समय में, एक व्यवसाय को स्थापित करने की जो बहुत जल्दी है, कमाने की जो बहुत जल्दी है, और कंपनी खोलने की जो बहुत जल्दी है और हजारों करोड़ रुपयों के व्यवसाय करने जो महत्त्वाकांक्षा है, एक वर्ग में हम देखते हैं आज के जमाने में। उन कंपनियों को फेल होते भी देखते हैं। विजय माल्या को देखते हैं जो पूरा का पूरा बैंक का लोन खा जाते हैं और फिर भी बने हुए हैं। और दूसरी ओर एक ऐसा पात्र है उसमें जो चाहता है कि वह अगर किसी व्यवसाय को स्थापित करता है तो उसका कोई अर्थ हो। और अंततः वह इस निश्कर्ष पर पहुँचता है कि मन की शांति और सुकून बहुत जरूरी है आज के जीवन में, चाहे हम किसी भी क्षेत्र में काम करें।

यह एक नये क्षेत्र की कहानी मुझे लगी। ऐसी ही एक और कहानी है 'मगर शेक्सपीयर को याद रखना'। कलाओं के क्षेत्र में संतोष चौबे बहुत-सी चीजों की जानकारी रखते हैं। एक नाटककार को केंद्र में रखकर इस कहानी को लिखा गया है। हो सकता है कि यह उनका निजी अनुभव

भी हो जो उनकी कहानियों में बहुत बार दिखायी देता है। मुझे वो कहानी बहुत ही अच्छी लगी और वो इसलिए अच्छी लगी कि इस क्षेत्र में पहुँचकर लंबी कहानियाँ बहुत कम लिखी गयी हैं।

दूसरी श्रेणी जो मुझे दिखलाई देती है उनकी कहानियों की वो जिंदगी की छोटी-छोटी स्लाइस लेकर लिखी गयी उनकी कहानियाँ हैं। विशेष रूप से प्रेम-संबंधी उनकी जो रचनाएँ हैं, थोड़ी-सी शरारत का पुट लिये, बड़ी खूबसूरत कहानियाँ हैं और मुझे लगता है हर कहानी में क्रांति और बहुत बड़ा उद्देश्य देखने-भर से कोई कहानी बड़ी नहीं होती है। यदि जीवन का यथार्थ, जीवन की संवेदना कहानी में मौजूद है, तो मुझे लगता है कि वो अच्छी कहानियाँ हैं। ऐसी कहानियाँ पहले भी देखी गयी हैं। 'बड़े भाई साहब' में कोई थ्योरी नहीं है। महेश कटारे की कुछ कहानियाँ 'गाँव का जोगी' जैसी हैं जिसमें ऐसी कोई बात नहीं है कि उसमें जमाने-भर के यथार्थ को उसमें ठूँस दिया गया हो। लेकिन जीवन के परिदृश्य में जो छोटी-छोटी बातें दिखलाई देती हैं, बेशक उन छोटी-छोटी बातों का संबंध हमारे जीवन के नव-यथार्थ से है। आज की जिंदगी में प्रेम ठीक वैसा नहीं रह गया है जैसा पिछली शताब्दी में था। बहुत से प्रभाव हैं जो आते हैं।

इन कहानियों में एक कहानी मुझे अद्‌भुत लगती है। वैसे 'एक विचित्र प्रेम कथा', 'उनके हिस्से का प्रेम', 'बीच प्रेम में गाँधी', इनके पीछे कौन से मनोविज्ञान हो सकते हैं इस पर कुछ साथियों ने बात की है। मैं 'रिद्‌म' कहानी का प्रयोग अपनी बात कहने में करना चाहता हूँ। संभोग क्रिया में चरम आनंद तक पहुँचने की ख्वाहिश कब और किस जमाने में नहीं रही है और इसमें पुरुष का जो एप्रोच है और स्त्री का जो दृष्टिकोण है, वह भिन्न-भिन्न रहा है। आज के युग में भी जब स्त्री और पुरुष की समानता के चर्चे चारों तरफ हो रहे हैं, तब उस 'रिद्‌म' कहानी में एक ऐसे नायक का जिक्र लेखक ने किया है जो संभोग के चरम आनंद को दैहिक ताकत के रिद्‌म के रूप में देखता है। देह की ताकत का रिद्‌म कि शायद उस आर्गेज्म को प्राप्त कर सके जिसका वो सपना देखता है और उसके अनुसार वो काम करता है। जिम में जाता है, खेलता है, ये करता है, वो करता है। और दूसरी तरफ स्त्री है जो पुरुष की इन हरकतों को देखती

है और आखिर में कहती है कि रिद्म देह में नहीं है। रिद्म यहाँ है आत्मा के अंदर, संवेदना में। उस संवेदना को प्राप्त करके ही स्त्री और पुरुष अपने संभोग के चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर सकते हैं। ये कहानी अपने आपमें हिंदी के कथा साहित्य में एक विशेष अर्थ रखती है।

लेखक का जो अभिमत है वह अभिमत वहाँ भी आता है जिस कहानी का जिक्र किया गया अभी। एक बच्ची अपने माता-पिता को निर्वस्त्र देख लेती है। इसके अलावा एक कहानी और है– 'उनके हिस्से का प्रेम' जहाँ दो विवाहित व्यक्ति एक विवाहित पुरुष और एक विवाहित स्त्री संयोगवश निकटता के कारण एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और उनमें संबंध बनता है। लेखक इस तरफ इशारा करता है कि दोनों के बच्चों के हिस्से का प्रेम कहाँ जायेगा?

दो विवाहित एक-दूसरे से प्रेम कर सकते हैं यदि आपसी सहमति है, पर उनके बच्चे भी हैं तो उनके बच्चों के हिस्से का प्रेम दोनों के मन से खत्म नहीं होना चाहिए, ये उस कहानी का निष्कर्ष निकलता है। तो दोस्तो, हरिमोहन जो कि नायक है उसकी बेटी रोज और डोरोथी जो नायिका है, जो प्रेमिका है उसकी, उसके बेटे शिरीष के हिस्से का प्रेम ना घटे, यह लेखक की शुभकामना है अपनी उस कहानी के माध्यम से।

अंत में थोड़ी-सी बात उनके शिल्प के संबंध में। एक शरारत का भाव, एक व्यंग्य का भाव, उनकी कहानियों में सदा दिखाई देता है। उनकी कहानियों के संबंध में कहा जा सकता है, खास करके प्रेम-संबंधी कहानी जब वे रचते हैं, तो व्यंग्य को जोड़ते जाते हैं साथ में।

मैंने पहले ही कहा आपसे यह कहानियाँ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। यह भी बात नहीं है कि यह कहानियाँ आज के नव-यथार्थ को बहुत ही लाउड ढंग से पेश कर रही हों, ऐसी भी बात नहीं है। लेकिन वो कहानियाँ बहुत ही सुंदर हैं और मन को आनंद भी देती हैं। अब 'ताला' कहानी। यह एक परिस्थिति की कहानी है और पूरा आनंद उसमें हम लेते हैं कि जीवन की उथल-पुथल उसमें हमें दिखलायी देती है। जिंदगी अगर कहानी में नहीं है तो फिर केवल सिद्धांत से काम नहीं चलता है। और सिद्धांत के बगैर भी काम नहीं चलता है।

'लेखक बनाने वाले' का जिक्र हमारे मित्र ने कर दिया है कि सब कुछ मशीनीकृत होता जा रहा है। अंत में दोस्तो, कि संतोष चौबे जी किसी एक विधा को अपनी प्रमुख विधा मान लें तो शायद उनके लेखन में और भी ज्यादा चमक पैदा होगी। कौन-सा लेखक ऐसा नहीं है जो सभी विधाओं में हाथ ना आजमाता हो। आप शुरू से लेकर आज तक देख लीजिये जो कहानीकार है वो नाटक भी लिखता है, वो कविताएँ भी लिखता है, वो आलोचना भी लिखता है लेकिन किसी एक क्षेत्र की विशिष्टता को प्राप्त करना मैं समझता हूँ कि यह शायद किसी लेखक के लिए जरूरी होता है।

संतोष, ये ना समझें कि मैं कोई सलाह दे रहा हूँ आपको। कौन होता हूँ मैं सलाह देने वाला? लेकिन मुझे ऐसा लगा कि गद्य उनकी विधा है और गद्य में जो कथा तत्त्व उनके पास है, कहानी कहने का आर्ट उनके पास है, वो उन्हें एक मुकम्मल कहानीकार बनाता है। बहुत सीधे-सादे ढंग से वे लिखते हैं। कहीं पर दाँव-पेंच नहीं है। कहीं पर भी वे लाउड नहीं होते हैं। कहीं बहुत प्रतीक और नव-यथार्थ के क्षेत्र में दौड़ नहीं लगाते हैं और मैं उन्हें उनकी यह एक विशेषता और सीमा के रूप में रेखांकित करना चाहता हूँ। बहुत-बहुत धन्यवाद।

पंकज सुबीर

धन्यवाद, आदरणीय रमाकांत जी!

निश्चित रूप से आपने जो कहा कि संतोष चौबे जी की कहानियों में शिल्प का बहुत आतंक नजर नहीं आता है। कई बार पाठक के सामने कहानी में ये दुविधा हो जाती है कि कहानी में शिल्प का इतना आतंक होता है कि कहानी के बीच तक आते-आते ही सारे पढ़ने के भाव टूट जाते हैं। जैसे जिस कहानी 'मूहूर्त' का जिक्र किया है। निश्चित रूप से संतोष चौबे जी को उस तरह की कहानियाँ और लिखनी चाहिए।

हिंदी में विज्ञान-आधारित कथाओं का बड़ा अभाव है। उस कहानी में विश्वनाथन के साथ पाठक एक बड़ा तादात्म्य स्थापित कर लेता है कहानी के साथ चलते-चलते। यह निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण बात आपने कही

है कि आपको कहानी की विधा पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उनकी कहानी में कविता अंर्तनिहित होती है।

मैं अब जिसको बुलाना चाहूँगा उनके बारे में राकेश बिहारी बात कर रहे थे बाहर। वे कह रहे थे कि हम सब अपने हिस्से का समय प्रभु जी को दे दें क्योंकि उनको सुनना बड़ा ही आनंददायक होता है। वे जहाँ पर भी होते हैं, सब चाहते हैं कि उनको सुना जाये। उनके हिस्से का समय थोड़ा बढ़ाया जाये और हम उनको बहुत मनोयोग से सुन सकें और पिछले दिनों रोमन हिंदी को लेकर जिस मजबूती से उन्होंने अपना स्टैंड रखा है वो सचमुच बहुत ही प्रशंसनीय बात है। और 'पितृ ऋण' कब पढ़ी थी हमने कहानी शायद सारिका में, और आज भी जब हम पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि यह अभी की कहानी है। 'हंस' में एक कहानी छपी उनकी, मैंने उनको बधाई दी कि बहुत अच्छी लगी आपकी कहानी मुझको। तब उन्होंने कहा कि पंकज तीस साल पहले की कहानी है 'हंस' वालों ने फिर छाप दी है।

हम सब उनको सुनना चाहते हैं, मैं चाहूँगा कि आदरणीय प्रभु जी अपना वक्तव्य दें।

प्रभु जोशी

मित्रो, एक अरसे के बाद मैं कहानीकार बिरादरी के बीच में बोलने के लिए खड़ा हुआ हूँ। मैं सबसे पहले बधाई देना चाहता हूँ भाई संतोष चौबे को जिन्होंने अपनी उम्र के साठ बरस पूरे कर लिये हैं। यहाँ बहुत युवा लेखक भी हैं। जो कभी पीढ़ियों के द्वंद की बात चलती थी नयी कहानी के युग में, वैसा नहीं है बल्कि यहाँ पर पीढ़ियों के बीच में संवाद की गुंजाइश बनती दिख रही है।

मैं दोनों सत्रों को लगातार कान लगाकर ध्यान से सुनता रहा हूँ और जब पहला सत्र चल रहा था तो मुझे लग रहा था कि मुझे तो उपन्यास पर बोलना चाहिए था क्योंकि मैने संतोष भाई का उपन्यास पढ़ा है और उसने पढ़ने के बाद मेरे भीतर बहुत सारे सवाल पैदा किये हैं। और एक रचना के निकट आप जाते हैं तो उत्तरों के लिए नहीं जाते हैं। अलबत्ता और और

सवालों के साथ जाते हैं और सवालों कि भंगिमा बदलती दिखायी देती है। इसलिए एक सवाल का उत्तर मार्क्सवाद दे रहा था कि एक आदमी गरीब क्यों है? एक आदमी अमीर क्यों है?

सत्तर साल देने के बाद, अब भी वो प्रश्न उसी तरह से है, बस उत्तर देने वाला बदल गया है। उत्तर देने वाले बहुत शाश्वत होते हैं, उत्तर बदलते रहते हैं और मैं सोचता हूँ कि इस सत्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण आलेख मुकेश भाई का था क्योंकि जब हम किसी एक चीज के बारे विचार घटना, कला, यहाँ तक की एक शब्द के बारे में बात करते हैं, तो उसके साथ उसका इतिहास झलकता है। ऐसा नहीं है कि आज जो विचार रखा जा रहा है वह आज, अब का, ताबड़तोड़ अभी का है।

एक कहानी भी हम लिख रहे हैं और कह रहे हैं तो वह कहानी आज की नहीं है। उसके साथ बहुत सारी लंबी कहानी होती है और यह बात है एक लेखक के भीतर ऐतिहासिक विवेक की, चीजों, समय, समाज, देखने की वह तरतीब भी है। मुझे कुमार गंधर्व की एक बात याद आती है। एक बार मैं उनके घर गया तो मैंने कहा कि कुमार जी ये तानपुरा आपने कब लिया? कोई छह माह पहले मैं रिकार्डिंग के लिए आया था तो यह था नहीं, तो वे बोले कि नहीं यह तो 3000 साल छह माह पूर्व लिया था। यानी वो तानपुरे को देखते हैं तो खरीदे हुए वक्त को घटा देते हैं। वो 3000 साल भी उस तानपुरे के साथ जुड़े हुए हैं।

इसलिए आज कोई लेखक वक्तव्य देता है तो कहानी कहता है, या वो संबंधों में देख रहा है तो उसके पीछे उसका इतिहास है। मै थोड़ा-सा इतिहास आपको बताना चाहता हूँ कि अगर मार्क्सवाद का ध्वंस हुआ, एक विचारधारा के पराभव का जश्न मना, 20वीं सदी जो अपनी पुरानों की सदी थी, उसी के भीतर उसके पतन की पटकथा लिखी गयी थी।

क्योंकि याद करिये 1975 में केनेथ गॉलब्रेथ के 'स्काई इज द लिमिट क्लब आफ रोम' का फार्मेशन हुआ था। तब सैद्धांतिकी तय की गयी थी। थ्यौरी आफ कंवर्सन दी थी, और उन्होंने उन दिनों अमेरिकी टेलीविजन पर एक सीरियल आता था। एज ऑफ अनसर्टेनिटी यानी अनसर्टेनिटी को समय का सबसे बडा मूल्य बना दिया जाये। तो उस समय कहा गया था

कि मार्क्सवाद पूँजीवाद की ओर बढ़ रहा है और पूँजीवाद मार्क्सवाद की ओर बढ़ रहा है, इसलिए क्रांति की संभावनाएँ शून्य हैं। इसी के साथ आईएमएफ, एडीबी और वर्ल्ड बैंक आते हैं और वो पूँजी, हमारी पहली दुनिया जो है, पहली दुनिया की प्राथमिकताएँ हमारी तीसरी दुनिया का प्रतिमानीकरण कर रही थीं। पूँजी जाती है माना जाता है एक जगह वर्ल्ड बैंक ने पैसा दिया वहाँ के विकास का ग्राफ कुछ ऊपर हुआ। रेट ऑफ माइग्रेशन बढ़ी, शहर के लोग गाँव में आने लगे और गाँव के शहर में और शहर कहीं मेट्रोपालिटन कल्चरल इलीट की नकल में जाने लगा और रूरल अरबन डायकोटमी सबसे ज्यादा तब ही देखी गयी है, जब वर्ल्ड बैंक का पैसा आया और हमारे यहाँ पर हरित क्रांति हो रही थी।

हरित क्रांति में जितना नुकसान हुआ है किसान का, इतना कभी किसी समय नहीं हुआ क्योंकि मिसेज गाँधी मेड ए स्टेटमेंट द रूरल टेक्नॉलॉजी हेज बीन ट्रांसफर्ड टू रूरल इंडिया, व्हाट हैपंड? क्या हुआ? दरअसल सारी की सारी टेक्नालाजी कुलक के पास चली गयी और जमीन और जोतदार का द्वंद था वो कम हुआ। इसी बीच वर्ल्ड बैंक का एक जुमला आया था। इकानामिक्स विद ह्यूमन फेस कि अब अर्थशास्त्र बहुत ही मानवीय चेहरे के साथ आ रहा है। बैंकों से किसानों को लोन तक दिला दिया। मेरे गाँव के किश्नु ने एक टिल्लु पंप खरीदा। वो बीच का किसान बन गया। फिर एक नई थ्योरी आई कि मारजीनल फार्मर से अपवर्ड मुविंग फारमर, एंड देट इज गोइंग टू डिसाइड द अल्टीमेट फेथ ऑफ इंडीयन एग्रो सोसायटी।

लेकिन आप याद करिये कि मेरे मध्यप्रदेश में सोयाबीन आता है तो बीजों के जरिये साम्राज्यवाद की तरह आता है क्योंकि जब वो आया तो हमारे गाँव का सारा पैटर्न, फसल चक्र उलट गया और उसी को यह, उसी के दुर्भाग्य की तरह इस यथार्थ को या उस यथार्थ को, मसखरी के कच्चे माल की तरह दे रहे हैं। कि तुअर की दाल इतना देगा तो लड़की की सगाई हो जायेगी। दरअसल, तुअर क्यों महँगी हुई जब सोयाबीन आया तो निश्चय ही हमारे यहाँ की पैटर्न बदली, हमारा कपास गया।

जिस इंदौर में बारह कॉटन मिलें थीं और मैंने जब देवास से आया

करता था तो दृश्य देखता था। मीलों चिमनियों से धुआँ निकलता था। सायकल पर लोग दिखते थे। उन दिनों ताजा-ताजा मार्क्सवाद पढ़ा था। तो ऐसा लगता था कि हम क्रांति के कितना करीब हैं। इंडस्ट्रीयल रेवोल्यूशन बिलकुल हमारे सामने है लेकिन आज वहाँ पर एक भी कॉटन मिल नहीं है। कपास का उत्पादन बंद हो गया है।

इसलिए अगर हम नव-यथार्थ की बात करेंगे, तो दुर्भाग्य कहिये कि हमारे यहाँ हिंदी में यथार्थ के नाम पर सिर्फ स्त्रियों को दिया गया। लेकिन आप अगर देखें तो दरअसल वैसा नहीं था, वो ही था जिसके बारे में नोम चोमस्की ने कहा था, जिसे एल्विन टाफर ने एक वैचारिक जूठन की तरह कहा, 'देअर इज ऐ ट्राई सेक्शन ऑफ पॉवर नॉलेज वेल्थ एंड वायलेंस'। लेकिन अब तीसरी की बजाय चौथी सत्ता देह की है और देह की सत्ता और देह के संबंध ये सारे के सारे आते हैं सुपर स्ट्रक्चर में। आप ग्रामशी को याद करिये। ग्रामशी आते हैं और मार्क्सवाद को आल्टर करके वहाँ बौद्धिकों की भूमिका पैदा करते हैं। हमारे हिंदुस्तान में ही ऐसा मार्क्सवाद हुआ जिसमें बहुत ज्यादा कठमुल्लापन था और पीपीएच की काउन्टर पर मिलने वाली किताबों के पन्ने में ही हमने भारत का भविष्य देखा और मार्क्सवादी दृष्टि देखी।

जब हमारे समाज के बारे में कोई मार्क्सवादी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है तो उसके बाई प्रोडक्ट साइड के हैं। उसकी मार्क्सवादी व्याख्या करेंगे तो अंतर्विरोध आयेंगे ही। उसके साइड इफेक्ट आयेंगे ही। इसलिए तेरी कविता से मेरी कविता ज्यादा लाल और तेरी कहानी से मेरी कहानी महान। यह हमारे साहित्य की निहायत ही एक निर्लज्ज और अबौद्धिक नीति बन गयी।

क्या ऐसा है? ऐसा नहीं था। क्यों? क्योंकि उस समय परिवर्तन का दौर था, मार्क्सवाद अपने को रिफॉर्म कर रहा था, अपने को रिवाइस कर रहा था, रिकंस्ट्रक्ट कर रहा था। क्योंकि उस समय रेमंड विलियम जैसे आदमी का वाक्य था कि आइडोलॉजी मूर्खों की होती है और समझदार के अनुभव।

वो अनुभववाद को प्राथमिक बना रहा था लेकिन आप देखें उनके बाद

उनके इंटरव्यू की किताब आई है। 450 पेज की। उसमें वो एक्सेप्ट करते हैं कि भाई जब फ्रेंकफर्ट स्कूल आया है, तब उसने मार्क्सवाद को सब्जेक्टीविटी से जोड़ा है। इसलिए मार्क्सीय संवेदना के सहारे विचारधारा की बात होनी चाहिए।

लेकिन हमारे यहाँ जो अभी बहस चल रही थी कि कला और विचार को डायलेक्टिक डबलिंग में नहीं देखा जा सकता है। मैं कुमार गंधर्व का नाम लेता हूँ और मैं देवास से हूँ और उनके निरंतर संपर्क में रहा हूँ। शायद एक दूसरे अनुशासन से बात को समझाने में मदद मिले। उन्होंने कहा है कि देखो अगर मैं मालकौंस का आलाप लेता हूँ तो उसमें शब्द ही हैं केवल, अर्थ नहीं हैं, शब्द को ध्वनि से, अपने गले से, चमकाते हुए मैं अर्थ प्रकट करने के लिए मना लेता हूँ जो उसने छुपा रखा था। उन्होंने माँ शब्द को कोई बाइस तरह से कहा तो एक बार तो मुझे ऐसा लगा कि माँ अपने पति को पुकारने का काम कर रही है। कहीं ऐसा लगा कि बिछड़ा हुआ बच्चा अपनी माँ को पुकार रहा है। ये आलाप का फॉर्म है। लेकिन फॉर्म को ही कंटेंट बना दिया गया। हम अपोजिशन में ना सोचें अगर रूप को ही कथ्य बना दिया जाये और कथ्य को ही रूप बना दिया जाये तो रचना उतनी दूर जायेगी जहाँ तक हम पहुँचाना चाहते हैं।

आप देखिये कि सुई है। आलोचक मित्र हैं हमारे यहाँ, पर बुरा ना मानें। कहेंगे कि सिम्पलीफिकेशन। सिम्पलीफिकेशन नहीं है। ये दृष्टांतीकरण भी नहीं है। मैं अपनी बात को अधिकतम लोगों तक पहुँचाने के लिए उदाहरण दे रहा हूँ। सुई की अवधारणा हमारे पास क्या है? एक सिरा तीखा दूसरे सिरे में छेद है सुई। अगर इसके अलावा और कोई कान्सेप्ट होता सुई का तो हम कहते कि यह सुई नहीं है, ये तो चाकू है। कोई दूसरी चीज बता सकते थे लेकिन एक आदमी अपने एकांत में जूझता है। और सुई की नोक में ही छेद की कल्पना कर लेता है। इससे सिंगर मशीन बन जाती है और हजारों लोग सिला हुआ कपड़ा पहनने लगते हैं। इसे कहते हैं कि फॉर्म में कथ्य की रचना कर लेना तब रचना महान बनती है।

दूसरी बात मैं आपको बताऊँ कि हमारे कलावाद ने बहुत नुकसान

किया हमारे विचार का। विचार का मतलब साहित्य में मार्क्सवाद से ही होता है। सोचने की बात, क्योंकि इट हैज गॉट वेल्यू ऑफ ए टंग। क्योंकि उसमें बात जो मैं कहना चाहता हूँ कि सोचने के बगैर एक-दूसरे का अस्तित्व नहीं है।

फिर मैं आपको सरलीकरण की ओर ले जाऊँगा। कृपया आप मुझको माफ करेंगे। आम आप सबने देखा है, हमने भी देखा है। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आम में सबकुछ क्या है? आप कहेंगे गुठली, क्योंकि गुठली के अभाव में आम होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। ना तो दरख्त की, ना तो फल की। इसलिए गुठली प्राथमिक है। गुठली ही सर्वस्व है यह मानना बहुत मूर्खता है, क्योंकि मैं आपको आम छील के उसका गूदा अपने पास रखूँ और गुठली खिलाकर कहूँ कि आज आपको आम खिलाया तो क्या आप कहेंगे कि आपने आम खाया? आप नहीं कहेंगे। आस्वाद और विचार देअर इज अ डायेलेक्टिक डबलिंग आफ एन आर्टिस्टिक फार्म टू रेंडर एज ए मेटाफर दैन यू कैन नो।

और दोनों के बीच जिसे कहा जाता है आट्रिस्टिक रिस्टेंट, वह भी होना चाहिए।

मेरी माँ अपढ़ थी। वो लिखना नहीं जानती थी लेकिन बातें बहुत अच्छी कहती थी। मैं आप जैसे सब बुद्धिजीवी लोगों के बीच में एक अपढ़ स्त्री की बात कह कर अपनी बात कह सकूँ। वो कहती थी पैसे के बारे में, मैं उसे कला, रूप और कथ्य के बारे में कह सकता हूँ। वो कहती थी यह एक ऐसे जूते की तरह है कि जो कट्ठी हो तो छाला पड़ी जाये और ढीली हो तो पाँव लड़खड़ायें। और चलना तो अपने पाँव-पाँव है। यदि फार्म को बहुत बना दिया जायेगा तो छाले पड़ जायेंगे। और ढीला बना दिया तो कदम लड़खड़ायेंगे। क्योंकि कहानी तो मैं यह कहना चाहता हूँ आपको। कि हम अपने लोक के विवेक से शस्त्र को और आधुनिकता को दोनों को उत्तर दे सकते हैं। इसलिए उसने कहा कि नहीं। देशीवाद ही उसका जबाव हो सकता है।

पंकज का मैं बड़ा पाठक हूँ, कहानी लिखने की कला वाला मामला। इसकी 'चिरई चिनमुन' कहानी मैंने पढ़ी। इतनी लंबी कहानी, मुझे लगा

कि अद्‌भुत लेखक है। मुझे विलियम फॉकनर की याद आई कि भाषा किसे कहते हैं। हाउ इट इज रिदमिक एकार्ड टू क्रियेट, व्हिच हैज आलवेज बीईंग रिफर्ड बाय विटगिन्सटाईन। विटगिन्सटाईन भाषाविज्ञ था। उसने कहा था, द लैंगवेज गोज टू फार्म इट्स कंटेंट एक्सप्रेसिव रिसपांसिबिलिटी। कि भाषा जब मौज में अपनी छुटटी पर जाती है, तब वो नया कथ्य पैदा करती है। तब वह नये रूप पैदा करती है। तो बात वही है। कि आप उसको किस हद तक और किस वक्त तक छुट्‌टी देते हैं।

जो मुकेश कह रहे थे वो छुट्‌टी हमारी इसलिए गड़बड़ हो गयी क्योंकि जो सारी पृष्ठभूमि बता रहे थे कि चीजें कहाँ से क्या हो गयीं। कब क्या हो गयी? कब क्या हो जायेगा। टाइम फ्रैक्चर्ड एंड टाइम डिसजॉइंटेड। मतलब वक्त टूट गया और दूसरी जगह जुड़ गया और आप उसको स्वाकार रहे हैं।

जब आधुनिकता के प्रोजेक्ट को हाइजैक किया गया था तो यही कहा गया था कि एक नयी दुनिया सामने आ रही है। जिसमें प्यार करने के नये तरीके हैं, जीने के नये तरीके हैं और सिर्फ ईर्ष्यालु लोग ही उसको लेकर छाती पीट रहे हैं।

यह वही था कार्पोरेट की दुनिया का चिंतक। जो मैं कह रहा हूँ कि टाईम फ्रैक्चर्ड और टाइम डिसजॉईटेड, एक वाक्य के उदाहरण से, फिर आप कहेंगे कि सरलीकरण कर रहा है। एक आदमी की कल्पना कीजिये जो कान पर जनेऊ चढ़ा करके यूरिन कल्चर का सैंपल दे रहा है। ये है पेस्टिज। जिसकी शायद अभी राकेश बात कर रहे थे। कि पुराना भी यथार्थ मौजूद और नया भी है। वो वैज्ञानिकता को भी स्वीकार रहा है और वो उसके कान पर जनेऊ चढ़ाने, जिसमें मेरी माँ कहती थी कि असो ब्राह्मण कनै कजा कसों खेल कि मूतें इंद्रिन बाधे कान। यानी कर कौन रहा है, और सजा किसको दी जा रही है?

इसे कहते हैं कि टाइम फ्रैक्चर्ड एंड टाइम डिसजॉइंटेड। मैं बार–बार आपको ला रहा हूँ कि देशीवाद अभी हमारे यहाँ अस्वीकार नहीं हुआ है। हमें यह स्वीकार करने के लिए, चाहे सुधीश पचौरी हों, चाहे कोई और जो उत्तर–आधुनिकता की बात करते हैं। पचौरी ने भी एक बार संतोष भाई

मैंने स्तुति नहीं गायी लेकिन मैं संतोष भाई की कहानियों से संतुष्ट हूँ। और उनको खासतौर पर यह कह देना चाहता हूँ कि जो आदमी को मारने की नई कलाएँ हैं उनमें स्तुति एक है। आप स्तुतियों को तुरंत खारिज कर दें। अगर कोई कह दे कि आप महान कहानी बनाते हैं तो मानके चलिये बहुत ही बौना आदमी आपके पास आया है क्योंकि एक रचनाकार को अपनी खामियों को पहचानने से अधिक कुछ नहीं होता है।

को कहा कि यह कहानी इनकी 'मुश्किल' है हिंदी की पहली उत्तर-आधुनिक कहानी। मैंने कहा कि हर आदमी बदला कैसे लेता है किसी से। या तो उसको स्तुति से मारो या उसको उसकी आलोचना से मारो।

आलोचना का आतंकवाद तो अपने यहाँ पर ऐसा है कि हिंदी में जिस आदमी ने संतोष चौबे से मुझे यह कहना है– टेक्नॉलॉजी और प्रबंधन से आया हुआ आदमी है, कि जिस आदमी ने जरा भी डेवियेट किया उसे आलोचना पीट देती है। दुनिया में प्रबंधन सबसे खतरनाक शब्द था मार्क्सवाद के लिए। वो आदमी कहाँ इन साहित्यकारों के चक्कर में कॉमरेड लिखने लग गया। मैं इनको सही बता दूँ या गलत बता दूँ हालाँकि लेखन के लिए कोई भी त्याज्य नहीं है।

और त्याज्य हुआ भी नहीं है, अभी उनके पास बहुत टाइम है। मैं 65 साल में 100 सीढ़ियाँ दौड़कर चढ़ता हूँ। तो ये तो अभी 60 ही पूरा कर रहे हैं। तो 5 साल तो इनके पास दौड़ कर उपन्यास को पूरा करने के हैं।

क्योंकि जब एल्विन टाफलर की किताब 'थर्ड वेव' आई थी तब टेक्नोलॉजीकल रिवोल्यूशन और टेक्नोलॉजीकल डिटरमिनिज्म की बात आई थी। रोजर गेराल्डी को याद करिये 'मिथ आफ ट्वेंटीथ सेंचुरी' तो उसने हमारे समाज में आते से ही परिवर्तन पैदा कर दिया।

मार्क्स ने एक बात कही थी कि जिस समाज में परिवर्तन के लक्षण

भीतर से पैदा ना हो, और उस पर बाहर से परिवर्तन लाद दिया जाये, तो समाज सांस्कृतिक अवसाद में जीने को बाध्य हो जायेगा। इसलिए हमारा जो सारा समाज है जो अवसाद से घिरा हुआ है कि ये क्या हो रहा है? ये क्या हो रहा है? याद है आपको ग्लोबलाइजेशन का कैरेक्टर था– ये क्यों हो रहा है? आपको याद है कि एक ह्यूमर का कैरेक्टर आता था वो ग्लोबलाइजेशन का कैरेक्टर है। क्योंकि दूसरा कैरेक्टर था– यह तो होना ही था। ये वो है जो नियतिवाद को स्वीकारने के लिए तैयार करता है। जैसे आजकल हिंदी के बारे में कहा जाता है कि यह तो होना ही था। हमारी स्थिति जागते नहीं और जागते हैं तो स्वागत है। क्योंकि आपातकाल का भी तो हम स्वागत करते थे। तो हम कह देते हैं कि यह तो होना ही था।

तो इसलिए आप यह देखें कि उसने जिसके लिए मुकेश भाई ने बीसवीं शताब्दी के लिए जो बात कही थी, उस पर अलग से एक लेख लिखा जा सकता है। और इस पर बात की जाती है डोनाल्ड हरावे की जब किताब आई थी 'साई बोर्ग'। तो मैं तो उम्मीद कर रहा था कि एक इंजीनियर आदमी हमारे संसार में लोग कहाँ थे, इस पर बात करेगा। एकमात्र श्रीकांत वर्मा थे जो सफदरजंग के पड़ोस में रहते थे। मिसेज गाँधी के पड़ोस में। लेकिन उन्होंने सत्ता के गलियारों में उस सत्ता मीमांसा पर क्या लिखा? पाँच मगध की कविताएँ। आपकी हमारी घुसने की हिम्मत नहीं है। बालकवि वैरागी जैसे लोग थे लेकिन वे स्तुति गायक थे। साहित्य में उतनी गहरी बात नहीं थी उनके पास।

अब पहली बार ऐसा हुआ कि हमारे यहाँ का आदमी कोई सत्ता के गलियारे मे घूम सकता है जो हिंदी बोल रहा है। लेकिन दोस्तो, ये जो सत्ताधारी आया है, इस सत्ताधारी का मेटाफारिक क्या है? हालाँकि मैंने जनसत्ता में एक लेख लिखा था, मैं आपको इसलिए बताता हूँ कि वो क्या है? मुक्तिबोध को याद करिये। सभा में यही वो आदमी जो सभापति था, उद्योग में उद्योगपति और राष्ट्र में...। राष्ट्र शब्द को खाँसी के पाश्र्व में छुपा कर रखा और एक कार्यकम में पेश किया था कि डोमा जी उस्ताद। दोस्तो, अबकी बार डोमा जी उस्ताद इस तरह जुलूस निकालता हुआ नहीं आ रहा है। वो राम नाम को सत्य की तरह नहीं बोल रहा है। वो कह रहा है राम

नाम तो बाकी सब बोलते हैं कि सत्य है।

मृत्यु को, राम को, एक पॉलीटिकल कमोडिटी की तरह इस्तेमाल करने का वाकया है। हम जानें यह आज हमारी सबसे बड़ी चुनौती है। हम यथार्थ कहाँ ढूँढ़ रहे हैं? बिस्तरों में। हमारी बहुत अच्छी लेखिकाओं को राजेन्द्र यादव ने पोर्नोग्राफी के मेटाफरिक साहित्यकरण में जोत दिया। वो लंपटई की सैद्धांतिकी उन्होंने गढ़ दी और यह 1963 का स्त्रीवाद नहीं था। ये मैं राजेन्द्र जी को खुद कह भी चुका हूँ। ये बात जब कथादेश का एक समारोह था उसमें कही थी, तब उन्होंने कहा था कि बहुत हरामी हो तो मैंने कहा था कि आपका ही छोटा भाई हूँ।

पर आपके पास जो तर्क हैं वो हैं स्ट्रीप्टीज क्लब जहाँ नाचते-नाचते स्त्री अपने कपड़े फेंक देती है। उनके वकीलों के द्वारा गढ़े गये कानूनी लड़ाई के तर्क हाथ में दे दिये हैं हमारी स्त्रियों को। वे कहती रहती हैं कई बार कि मेरा शरीर मेरा है।

ठीक है स्वामित्व लौटा है आपके पास, लेकिन इस स्वामित्व से वो विघटन भी देख रहे हैं। परिवार में विघटन जिसको लेकर आज हम टँसुये ढहा रहे हैं।

आज एक बेटे के लिए पिता सबसे निकटतम शत्रु है और माँ सबसे निकटतम शत्रु बेटी के लिए है क्योंकि वह सवाल करती है कि तुम इतनी देर से छत पर मोबाइल पर क्या कर रही थीं।

आप सोचिये कि वही मार्क्सवाद जो व्यक्तिवाद को सबसे लज्जास्पद शब्द मानता था क्योंकि सामूहिकता का वध सबसे पहले निजता के सवाल से आता है, नहीं ये तो मेरी अपनी स्वतंत्रता थी, संघों को तोड़ने के इतिहास में व्यक्ति का प्रश्न होता था, वो व्यक्तिगत अब निजता में बदल गया है क्योंकि मीडिया हमारी भाषा का जिस तरह से संघनन कर रहा है, डिस्टिलिंग द इंटायर इडिम ऑफ अवर लैंग्वेज टू रेंडर अस ए कंज्यूमर। इसलिए बच्चे की निजता, इतनी ज्यादा बता दी गयी है। पहले निजता जैसी चीज ऐसी नहीं होती थी। मेरा भाई एक शर्ट पहनता था, मेरा सेकंड शिफ्ट का स्कूल होता था तो मैं पहन कर चला जाता था।

अब आदमी सवाल करता है कि हाउ कुड यू डेयर टू वीयर माई शर्ट,

हाउ कुड यू डेयर टू टच मोबाइल ममा। आपको प्राइवेसी की अक्ल नहीं है। क्योंकि मोबाइल अंतर्वस्त्र की तरह ही प्राइवेसी की माँग करता है क्योंकि उसमें कैजुअल सेक्स के डिटेल हैं, क्लास मेट कैसे सेक्स मेट में बदल चुका है! मैं चाहता हूँ कि यथार्थ रखा जाये।

इसमें मामला वही है, भंगिमा का, कि प्रश्न को आप कैसे खड़ा करना चाहते हैं? प्रश्न को कैसे खड़ा करते हैं? कहने की जरूरत नहीं कि संतोष भाई ने बहुत सारी कहानियाँ, प्रतिनिधि कहानियाँ मुझे भेजीं उनमें से 80 प्रतिशत कहानियाँ सचमुच ही एक ईमानदार लेखक की कहानियाँ हैं लेकिन उनकी कहानियों में छन्ना लगना चाहिए था।

ये मार्क्सवाद के छन्ने को हटा के नये ढंग से कहानियाँ करते हैं, लेकिन फिर भी चूँकि इनके जूते की साइज ठीक थी, तो ठीक जगह पहुँच गये, कढ़े नहीं थे, छाले नहीं पड़े, लड़खड़ाये भी नहीं, लेकिन एक चीज जो उनसे छूट गयी, चूक रही है, वो है भाषा। क्योंकि भाषा के बाहर कुछ नहीं है, भाषा एक स्पेस की तरह है। जैसे मछली की चमड़ी की सतह से टिका हुआ पानी। ठीक इसी तरह भाषा है।

जमीन पर एक चींटी धीरे-धीरे जा रही है, ये दर्शन का बखान नहीं है। दरअसल यह भाषा है— एक चींटी, जाना, धीरे-धीरे। इसलिए हम उस भाषा के भीतर छुपे छद्म को पकड़ कर बाहर लाये और तब हम उस भाषा को सही करेंगे।

मेरी पाँचवीं की कहानी में रामू गरीब लेकिन ईमानदार लड़का था जिसको बाद में एक बटुआ मिल जाता है और बाद में गुरुजी उसको एक ईनाम दे देते हैं। ये कितना ईमानदार बच्चा है कि उसने बटुआ लौटा दिया। उसमें 100 रुपये थे।

जब मैं कहानी लिखने लगा तो मैंने देखा कि यह तो पहली कहानी पर ही वाक्य रुक रहा है, क्या गरीब लोग बेईमान होते हैं? राम की क्या निजी अपनी विशेषता थी कि वो कमबख्त गरीब होने के बावजूद ईमानदार हो जाने के लिए बाध्य था।

मित्रो, यह भाषा के भीतर वर्ग दृष्टि काम करती है। उस भाषा की वर्ग दृष्टि को पकड़ कर जब हम लिखेंगे जब हम बात करेंगे, तो भाषा अपने

ढंग से हमारे पास आयेगी। जैसे पेड़ के पास शाखाओं में निकलती हैं पत्तियाँ। इतनी ही कोमल उतनी लुभावनी और सूरज से संवाद भी कर रही हैं और मेरे जैसे जमीन पर चलने वाले आदमी से संवाद करती हैं। एक लेखक का संवाद एक पत्ती की तरह होना चाहिए जिसका सूरज से भी रिश्ता है और उसको जो देख रहा है, उससे भी रिश्ता है।

और जहाँ तक आइडोलॉजी की बात है, मैं उसके लिए हमेशा एक बात कहना चाहता हूँ। अंतिम बात है, मैं आपको ज्यादा बोर नहीं करूँगा। आखिरी बात। सुबह मेरे ख्याल से किसी ने बात कही थी, कविता में इनके गद्य का एक टुकड़ा पढ़ते हुए सूर्य जैसी बात कही थी, मेरा ख्याल से महेश भाई ने।

तो मैं यह मानकार चलता हूँ हमारे इस संसार का, इस संसार का भी नहीं इस ब्रह्मांड का, कोई पोटेंसियल मेटाफोरिक बिंब है, तो वह सूर्य है। सूर्य अपनी पूरी शक्ति लगाने के बाद पृथ्वी को आधा ही प्रकाशित कर पाता है और बाकी पृथ्वी रोशनी में आती है तो वह सूर्य के कारण नहीं, पृथ्वी की अपनी धुरी पर घूमने की ताकत के कारण। इसलिए किसी एक विचारधारा से आप सच को संपूर्णता में देख लेंगे, इससे बड़ा भ्रम और कोई नहीं है।

मित्रो! विचारधारा मैं मानता हूँ कि मार्क्सवाद में मेरा यकीन है और मार्क्सवाद को मैं अंतिम इकोनामिक डॉक्ट्रिन मानता हूँ और दर्शन का अंतिम जहाँ संतोष भाई का पात्र साँची के स्तूप के पास जाता है, 5000 साल में बुद्ध के बराबर का विचार पैदा ही नहीं हुआ। इसलिए मैं यह कहना चाहता हूँ। मैंने स्तुति नहीं गायी लेकिन मैं संतोष भाई की कहानियों से संतुष्ट हूँ। और उनको खासतौर पर यह कह देना चाहता हूँ कि जो आदमी को मारने की नई कलाएँ हैं उनमें स्तुति एक है। आप स्तुतियों को तुरंत खारिज कर दें। अगर कोई कह दे कि आप महान कहानी बनाते हैं तो मानके चलिये बहुत ही बौना आदमी आपके पास आया है क्योंकि एक रचनाकार को अपनी खामियों को पहचानने से अधिक कुछ नहीं होता है।

संतोष भाई को मेरी बहुत सारी शुभकामाएँ। वे और भी ताकत और व्यापक दृष्टि के साथ देखें। क्योंकि एक बात कृष्ण के बारे में है कि वे

महाभारत के युद्ध में जो ब्रह्मास्त्रों का विस्फोट हो रहा है उसमें पिताजी की आवाज भी सुन लेते हैं। दोस्तो, यही वायनरी अपोजिशन है जिसे मिलाना सीखिये। यही सुई की नोक है, यही सुई का छेद है, यही है जो आम का और गुठली का रिश्ता है और यही संतोष भाई का और कहानी का रिश्ता बना रहेगा। शुभकामनाएँ। धन्यवाद!

पंकज सुबीर

धन्यवाद प्रभु जोशी का, और जैसा कि मैं फेसबुक पर कहीं पढ़ रहा था कि ये मुश्किल होता है कहना कि प्रभु जोशी ज्यादा अच्छे कहानीकार हैं कि ज्यादा अच्छे चित्रकार, और मुझे लगता है कि उसमें तीसरी चीज यह भी जुड़नी चाहिए थी कि वे ज्यादा अच्छे कहानीकार हैं, ज्यादा अच्छे चित्रकार हैं या ज्यादा अच्छे वक्ता है।

आज के इस सत्र के वक्ताओं के चर्चा के समापन के बाद हस्तक्षेप की ओर आते हैं। ऐसी इच्छा थी संतोष चौबे जी कि छोटा स्वल्पाहार हो जाये, लेकिन अतिथियों का ऐसा मानना है कि सत्र के समापन पर ही हो तो ज्यादा बेहतर होगा। हमारे साथ दो कहानीकार हैं, जिनकी यात्रा संभवतया मेरे साथ ही शुरू होती है और बहुत महत्त्वपूर्ण कहानियाँ इन समयों में दी हैं। लेकिन जैसे मनोज पांडेय का परिचय मुझे देना हो तो 'पानी' कहानी पिछले दिनों आई है। उर्दू में बहुत अच्छा शब्द है रश्क, जिसके समांतर हिंदी में कोई बहुत अच्छा शब्द नहीं मिलता है। तो हर कहानीकार के लिए वो कहानी रश्क का विषय हो जाती है, कि शायद ये कहानी मुझे लिखनी चाहिए थी या ऐसी कहानी मुझे लिखनी चाहिए थी। तो वो हमारे साथ हैं मनोज पांडेय। मै चाहूँगा कि हस्तक्षेप के इस क्रम को वे शुरुआत दें।

मनोज कुमार पांडेय

मंच और आप सबका अभिवादन करते हुए और संतोष जी को बहुत-बहुत मुबारकवाद देते हुए मैं अपनी बात शुरू कर रहा हूँ।

दरअसल प्रभु जोशी के इतने शानदार वक्तव्य के बाद उन्होंने

उनकी कहानियों में बहुत बार व्यंग्य का टोन मिलता है। इस कहानी में नहीं है लेकिन इस कहानी का 'गरीब नवाज' जो नाम है, उसमें ही व्यंग्य का टोन है। कि जो चिकन की दुकान खोलने वाला चरित्र है उसका नाम गरीब नवाज है। गरीब तो है ही वह, और मोहन एक तरीके से एक और गरीब नवाज है जो उसकी दुकान को हटाना चाह रहा है वहाँ से। दीन और दीनबंधु वाला मामला है।

नयी-नयी चीजों के इतने सारे रिफरेंस दिये हैं कि जहाँ से मुड़ कर हम बार-बार देख सकते हैं। थोड़ी देर पहले हम क्या बात कर रहे थे और कैसे कर रहे थे? बहुत सारे सवाल भी थे। और जो जवाब मिल रहे थे उनके संदर्भों में नये सवाल उन्होंने हमें दे दिये हैं।

इन संदर्भों के बाद ज्यादा कुछ कहने को है नहीं। इसी संदर्भ में एक कहानी है संतोष जी की- 'गरीब नवाज', जिसका मैं जिक्र करना चाहूँगा। वो कहानी देखिये जहाँ से शुरू होती है। आजकल बात चल रही है कि स्मार्ट सिटी बनेंगे देश-भर में। या फिर जो कामनवेल्थ घोटाला हुआ दिल्ली में और उस दौरान कितनी सारी स्लम्स हटाई गयीं और उनको गायब किया गया और कितनी जो किसी तरह से बची रह गयीं तो ऊँची-ऊँची दिवालें उठा दी गयीं, जिससे हमारे सम्मानित विदेशी वर्ग आयें और जो देशी प्रभु वर्ग है वो खेल देखने जाये तो उसको वो स्लम वगैरह दिखाई ना दें।

ये कहानी छोटी-सी है। विश्वमोहन नाम का पूँजीपति है और वह अमेरिका रिटर्न है। अब उसमें कुछ चीजें थोड़ी सी हैं और जो कहानी में ना होतीं तो भी कहानी के ग्राफ पर कहानी की ताकत पर फर्क ना पड़ता, जैसे उसमें मांसाहार और शाकाहार की एक बहस है। और फिर हिन्दू मुसलमान वाला फैक्टर भी आता है। वह ना होता तो भी बात कंपलीट तरीके से कही जा सकती थी।

एक बड़ा उद्योगपति है, उसके बगल की खाली जमीन पर एक चिकन

की दुकान खोल रहा है एक आदमी और उससे बर्दाश्त नहीं हो रहा है। उसे लगता है कि उसका सारा का सारा वैभव उसकी एक दुकान से नष्ट हो रहा है, छोटी दुकान उसके वैभव को नष्ट कर दे रही है। एक यह भी यथार्थ है हमारा। एक तरफ जो है जिसे इंडिया और भारत का झगड़ा कहते हैं। जो हमारा एक यथार्थ विकसित हो रहा है, पहले से जो 1992 से पहले भी था लेकिन उदारीकरण के बाद यह बहुत तेजी से। उस याथार्थ को यह कहानी बहुत ही सलीके से अभिव्यक्त करती है। और उनकी कहानियों में बहुत बार व्यंग्य का टोन मिलता है। इस कहानी में नहीं है लेकिन इस कहानी का 'गरीब नवाज' जो नाम है, उसमें ही व्यंग्य का टोन है। कि जो चिकन की दुकान खोलने वाला चरित्र है उसका नाम गरीब नवाज है। गरीब तो है ही वह, और मोहन एक तरीके से एक और गरीब नवाज है जो उसकी दुकान को हटाना चाह रहा है वहाँ से। दीन और दीनबंधु वाला मामला है। जितने सलीके से उन्होंने इसे अभिव्यक्त किया है, उसके लिए मैं उनको बधाई देना चाहूँगा। धन्यवाद!

पंकज सुबीर

धन्यवाद, भाई मनोज! आपके हस्तक्षेप के लिए। निश्चित ही ये थोड़ा मुश्किल तो है कि प्रभु जी के तुरंत बाद ही आकर वक्तव्य देना। मुकेश जी ने बहुत ही सुचिंतित और बहुत ही भारी और बहुत ही स्थापित-सा आधार वक्तव्य देकर पूरी टीम के लिए मुश्किलें पैदा की हैं और प्रभु जी ने भी इसे बढ़ाया है, फिर भी मैं हस्तक्षेप को भाई आशुतोष के साथ आगे बढ़ाना चाहूँगा। बहुत अच्छे कहानीकार हैं। 'मरे तो उम्र भर के लिए' बहुत अच्छी कहानी उन्होंने लिखी है। मैं चाहूँगा कि हस्तक्षेप के इस क्रम को भाई आशुतोष यहाँ आकर के बढ़ाएँ।

आशुतोष

आज के इस सत्र की अध्यक्षता कर रहीं साहित्यकार ममता कालिया जी! सम्मानीय सभा और माननीय संतोष जी, यद्यपि सबसे आखिर में बोलने का फायदा भी होता है। आप चाहें तो बहुत कम से भी काम चला सकते

हैं क्योंकि बहुत सारी बातें हो गयी रहती हैं। जिन मुद्दों पर मैं बात करना चाहता था, वह बहुत ही विद्वत्तापूर्वक हो चुकी हैं। मुझे समय का भी ख्याल है। यद्यपि यह प्रसंग, यह विषय और इसका पूरा जो दायरा है वह एक ठीक-ठाक समय की माँग करता है, जिस पर वह बात होनी चाहिए। एक पुराने शेर को थोड़ी तब्दीली करके मैं कहूँ कि- 'इब्तदा कहाँ से कीजिये बड़ी मुश्किल है दरवेशो / कि किस्सा उम्र भर का है और समय दस मिनट का।'

तो मैं चाहूँगा कि फिर भी मैं 10 मिनट्स में ही अपनी बात को रख सकूँ। यह कहानी की केंद्रीयता का समय है। आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में देखें तो शुरू से लेकर आज तक कई तरह के कथा आंदोलन आते रहे और अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज कराते रहे। उनकी उस उपस्थिति का सार्थक और निरर्थक होना उन समय के और समय विशेष के कथा आयोजनों की आंतरिक सामग्री और शक्ति पर निर्भर करता रहा। आज कहानी के नाम से और कहानी को लेकर जो केंद्रीयता बनी है, उसमें कोई एक विचार जिस पर बात हुई थी, एक विचार, एक मुद्दा, एक जीवन, विषय वस्तु एक समाज नहीं है। क्योंकि इसमें जो लोग सक्रिय हैं वे कहानी के क्षेत्र में बहुत ही उल्लेखनीय काम कर रहे हैं। उनके जीवन और उनके अनुभवों का दायरा उनके उम्र का फर्क सबकुछ बहुत व्यापक है और कई तरह के अनुभव क्षेत्र के लोग इसमें काम कर रहे हैं। कहानी के इस समकाल और धारा निर्माण में कारक मंचों का भी खास मिजाज है। बड़ी पत्रिकाओं के साथ भी छोटी और लघु पत्रिका भी, इस कहानी के समय को लेकर काफी उत्साहित रही हैं। सारी हमारे समय की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ, मैं उनका नाम नहीं लेना चाहता हूँ। हमारे समय की सारी पत्रिकाओं ने इसको एक उपयुक्त मंच दिया है। ये सारी भिन्नता कहानी के अतिरिक्त कहानीकार को विभिन्न मंचों और अभिव्यक्ति के लगभग सभी अधुनातन माध्यमों का, फेसबुक, ट्विटर, ऑरकुट, ब्लॉग के साथ-साथ नव सामाजिक राजनैतिक आदोंलनों में एक साथ सक्रिय है और अपने समय के यथार्थ को एक नये तरह से अभिव्यक्त कर रहे हैं।

प्रभु जोशी जी ने अपनी बातचीत में जिस कहानी की भाषा को लेकर

कहा और अच्छी बातचीत की कि अंततः सबकुछ भाषा का एक आयोजन है। मैं उसी बात को भर्तृहरि के एक बहुत महत्त्वपूर्ण कथन से जोड़कर देखना चाहता हूँ। वह कहते थे कि संसार प्रकृति का प्रकट रूप है। जिस संसार में हम रहते हैं, उस संसार का हमारा ज्ञान विशुद्ध रूप से भाषिक है। दूसरे शब्दों में सांसारिक वस्तुएँ, संव्यवहार का सत्य, भाषा द्वारा प्रकट होता है। अतः इसके कारण भी भाषिक चरित्र के होते हैं। हमारी कहानियाँ एक भाषिक आयोजन भी हैं और आयोजन में किस तरह से समय के साथ कैसे इस यथार्थ के देखने-बरतने की जो हमारी परिस्थिति है उसमें कैसे परिवर्तन हुआ, इसकी भी परिचायक हैं।

इन सारी बातों पर भी बहुत सारी बातें हुई हैं। मैं बहुत ही संक्षेप में कहूँगा कि इस बदलाव की भूमिका 1990 के दशक से शुरू हो गयी थी। सारे संदर्भ आपको पता हैं– शीत युद्ध का खात्मा, सोवियत संघ के पतन, ग्लोबलाइजेशन की प्रक्रिया, जिस तरह से इन सारी चीजों ने हमारी दुनिया को एक साथ बदलने की शुरुआत की थी, इसको भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो भारत में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया पी.वी. नरसिंहराव के समय में शुरू हुई और उस समय मनमोहन सिंह वित्त मंत्री थे लेकिन आर्थिक प्रकिया के बदलाव में जो वित्त की स्थिति थी 90 के दशक के खत्म होते हुए और 21वीं सदी की शुरुआत में आते हुए देखेंगे।

ग्लोबलाइजेशन के समय भारत की भूमिका थी। उस समय मनमोहन सिंह वित्त मंत्री थे। इसको रूपक में कहें तो जो वित्त था, वह 21वीं सदी के प्रथम दशक के शुरुआती दिनों के आते-आते प्रधान बन जाता है। यह बदलते हुए यथार्थ का एक बड़ा परिप्रेक्ष्य है। इस पूरी बातचीत को लेकर हम देखते हैं कि विमर्श को लेकर, अपने बदलते हुए यथार्थ को लेकर, एक बड़ी मात्रा में और एक व्यवस्थित ढंग से और एक व्यवस्थित तैयारी के साथ कहानीकार अपना पक्ष रखते रहे हैं।

मैं इस पूरी भूमिका के साथ और जितनी बातें मैंने अभी आपसे की इसकी पृष्ठभूमि में, कहना चाहता हूँ कि समकालीन कहानी ने भी इस परिवर्तन को नोट किया है। आज यथार्थ वो नहीं है जो 90 के दशक के पूर्व में था। इसलिए समकालीन कहानीकारों और समकालीन कहानियों ने

बदलते और नये यथार्थ को अपने लहजे में देखा समझा और प्रस्तुत किया। नये यथार्थ के इस सृजनात्मक आयोजन को मैं संतोष चौबे जी की कहानियों के मार्फत देखना और समझना चाहता हूँ।

कम शब्दों में अपनी बात, कुछ-एक कहानियों के संदर्भ में अपनी बात रखते हुए खत्म करूँगा। संतोष जी की कहानी है– 'सूर्यास्त', जिस पर बातचीत हुई। मैं उस कहानी को अपने बदलते हुए यथार्थ और उस यथार्थ को पकड़ने की कथाकार की कोशिश के संदर्भ में देखना चाहता हूँ कि यह कहानी आधुनिक शहरी जीवन से ऊबे और भागे हुए लोगों की कहानी है। ऐसे लोग आधुनिकता की जद से भागकर प्रकृति के पास जाकर भी भागते ही रहते हैं। भागना उनकी नियति है। प्राकृतिक दृश्यों को पिकनिक पैकेज में मापना ही ऐसे लोगों की सारी उपलब्धि होती है। अपने पैकेज में ही प्रकृति का सबकुछ अँटा लेना जैसे इनकी सबसे बड़ी सफलता है। कहानी का एक पात्र खन्ना जो इलेक्ट्रीशियन बोर्ड में इंजीनियर है और राजधानी में पदस्थ है, उसकी अपने बच्चों के प्रति नियंत्रण की प्रवृत्ति है और यही व्यवहार वह प्रकृति के साथ भी रखना चाहता है।

संसाधनों के दोहन की व्यावसायिक बुद्धि और प्रकृति को अपने आपसे अनुकूलित करने के लिए वह पिकनिक पर आकर भी तयशुदा कार्यक्रम में सबकुछ देख लेना चाहता है। इसे वह किसी व्यावसायिक हित की तरह पाना चाहता है।

दरअसल, संतोष चौबे किसी निश्चित और स्थिर पैरामीटर के कथाकार नहीं हैं और ना ही उन्हें यथार्थ के किसी चर्चित मुहावरे की गुलामी पसंद है। वे अपने लिए सर्वथा भिन्न किस्म के मुहावरे रचते हैं। और उन्हीं मुहावरों को जीते हैं और आवाज देते हैं। ठीक उसी तरह 'मुहूर्त' कहानी को आप देख सकते हैं। यह कहानी वैज्ञानिक आस्था और उनके अंधविश्वासों पर केंद्रित करते हुए लिखी गयी है। वैसे इस मुद्दे पर पहले भी कई कहानियाँ लिखी गयी हैं किंतु यह कहानी उनसे अलग है। 'मुहूर्त' कहानी का विश्वनाथन जो एशियन इलेक्ट्रानिक कंपनी का वरिष्ठ प्रबंधक है, वह रडार जैसी आधुनिक टूल्स की पूरी निर्माण-प्रक्रिया को 'मुहूर्त' के

हिसाब से ही संचालित करता है और करवाता है। एकाध चरणों में रडार की सफलता को मुहूर्त की सफलता मान लेता है। खास बात यह है कि रडार की असफलता को भी अपने इंजीनियरों के अभिमत के आधार पर नहीं, बल्कि मुहूर्त देखने में अपनी चूक को मानता है। इस कहानी की मार्फत संतोष जी बताते हैं कि किस तरह गैरतार्किक संस्थाएँ और मान्यताएँ मनुष्य की चेतना को हाईजैक कर लेती हैं। विश्वनाथन की चेतना और आंतरिक बनावट में विज्ञान का कोई भी संस्पर्श नहीं है। विश्वनाथन के लिए विज्ञान तार्किकता का स्रोत नहीं, एक औजार है जिसका इस्तेमाल वह बिना मुहूर्त देखे नहीं करता है। दूसरी यह कहानी बहुत ही बारीकी से संस्थानों की हायरारकी और उसके वर्ग–चरित्र की भी आलोचना प्रस्तुत करती है। अहलुवालिया जिस तरह से और जिस भाषा में अपने मातहत विश्वनाथन को रडार तैयार करने का हुक्म देता है, लगभग उसी भाषा में विश्वनाथन अपने मातहतों को हुक्म देता है, संतोष चौबे इस कहानी में ओहदेदारों ओर मातहतों में विभाजित नियति को भी सामने लाते हैं।

संतोष चौबे जी किसी भी विचार के वैभव को नहीं, विचारों की विराटता को संबोधित करते हैं। जाहिर–सी बात है कि विराटता की उनकी अपनी कसौटी है। बर्तोल्त ब्रेख्त ने कहा था, चूँकि यथार्थ मनुष्यों के द्वारा निर्मित होता है इसलिए वह मनुष्यों के द्वारा बदला भी जा सकता है। संतोष चौबे अपनी कहानियों में मनुष्यों द्वारा बदले जा रहे उसी यथार्थ को जो कि यथार्थ के पारंपरिक ढाँचे से भिन्न और नया है, उसी को विषय बनाते हैं। उन्हीं कहानियों तथा कथा संरचना में स्वयं बहुत बार और अकसर, मैं के तौर पर उपस्थित होते हैं। इससे उनको एक सुविधा मिलती है। जो उनके कहानी के पात्र हैं, उनके मानसिक संवेगों और आंतरिक संरचना को समझने में आसानी होती है। उनकी इस प्रवृत्ति को कथा में नरैटर के तौर पर स्वंय उपस्थित रहने की जो प्रविधि है, उनकी इस प्रविधि को उनकी कहानी 'विचित्र प्रेम कथा' में देखा जा सकता है जिसके व्यापक आयाम हैं। कथा का पात्र प्रेम नहीं करता है, लेकिन वह प्रेम का एक गल्प रचता है। प्रेम का एक ऐसे मानसिक संचार का श्रृंगार

कर उसमें होने ओर बने रहने का आधार खोजता है। कथाकार 'मैं' के रूप में उपस्थित होकर, उसके, इस गल्प के पात्र के द्वारा रचे गये अपने प्रेम के गल्प का, वास्तविक परीक्षण करता है।

'एक विचित्र प्रेम कथा' का मधुकर बचपन से जवानी तक जिस जद्दोजहद में पला है, उसमें उसके लिए प्रेम की कोई जगह नहीं है। प्रेम जीवन में नहीं है लेकिन उसके जीवन में प्रेम का एक स्वप्न है। जीवन यथार्थ है प्रेम स्वप्न। समकालीन परिस्थितियों और विभिन्न दबावों के कारण जीवन यथार्थ इस कदर कट हो जाता है कि मधुकर यथार्थ से निकलकर स्वप्न में प्रवेश कर जाता है।

आम आदमी की यही एक नियति होती है कि उसके सपने साकार होने का भ्रम देकर आखिरकार टूटने के लिए बने होते हैं। वैसे भी सपने पूरे होकर स्वप्न नहीं रहते, यथार्थ में बदल जाते हैं। मधुकर के जीवन के इस बदलते यथार्थ और टूटते सपने को विचलित कर के, संतोष चौबे ने पूरी निर्लिप्तता से दर्ज करके, कलात्मक ऊँचाई हासिल की है।

उनकी एक अन्य कहानी है 'उनके हिस्से का प्रेम', जिस पर थोड़ी-सी बातचीत हुई। ये कहानी वस्तुओं की मार्फत मनुष्यों की सभ्यता-समीक्षा है। पेन, डायरी, टेबल, शीशा आदि अपने उपयोगकर्ता के वैवाहिकोत्तर संबंधों पर उसकी अनुपस्थिति में सामूहिक परिचर्चा करते हैं। पर ऐसे संबंधों के विनाशकारी प्रभाव से बच्चों के हिस्से से प्रेम के बचे रहने की प्रार्थना करते हैं। मैं संतोष चौबे की बतौर कथाकार जिस निर्लिप्तता का संकेत कर रहा था, उसका मुकम्मल उदाहरण यह कहानी है। वैसे समकालीन जीवन में वस्तुगत् होते मानवीय जीवन के यथार्थ के बरक्स वस्तुओं का एक मानवीय यथार्थ हमें आश्वस्त करता है।

यथार्थ का यह नया संदर्भ यह भी हो सकता है कि बच्चों के हिस्से के प्रेम की चिंता जो मनुष्यों को करनी थी, उसे अब वस्तुएँ कर रही हैं। कहानियों के इस प्रतिनिधि संग्रह में हैं– 'बच्चे', 'मुश्किल', 'रामकुमार के जीवन का एक दिन', 'रेस्त्राँ में दोपहर', 'ताला', 'मगर शेक्सपियर को याद रखना' आदि कहानियाँ। 'ताला' कहानी के आरंभ में लेखक ने प्रसिद्ध इकॉनॉमिस्ट शूमाकर का एक उद्धरण दिया है। उस उद्धरण का मेरे

संतोष साधारणता और सहजता के कथाकार हैं। उनकी निगाह साधारण पर है। वे साधारण की कथा को साधारण ढंग से कहते हैं। साधारण भाषा और साधारण शिल्प में कहते हैं। किंतु साधारण जीवन, साधारण भाषा, साधारण शिल्प, साधारण रचनात्मकता, साधारण रचात्मक छंद और बहुत सारे साधारण मिल कर असाधारण बन जाते हैं। यही साधारण की असाधारण ताकत है।

लिए महत्त्व यह है कि जिस शूमाकर को आज के अर्थशास्त्र और अर्थनीति में, अर्थशास्त्र के पाठों में कहीं जगह नहीं है, उन्हें और उनके विचारों को लेखक ने रुसवा नहीं होने दिया है, वैसे भी राष्ट्र के समस्त समीकरणों की स्वायत्तता खतरों में है, तब न्याय की उम्मीद सिर्फ लेखक से ही है।

दूसरे यह भी कि शूमाकर की एक प्रसिद्ध किताब है– 'स्माल इज ब्यूटीफुल'। संतोष चौबे की कहानियों में मौजूद सुदृढ़ता के जिस सौंदर्य की मैं चर्चा आपसे कर रहा हूँ, उस उद्धरण को देखने के बाद मैं समझ पाया कि संतोष चौबे की कहानियों की सुदृढ़ता है। उसका एक छोर संतोष चौबे अपने पात्रों को लेकर कहीं फँसते नहीं। ना ही उन्हें हीरों की पोजीशन में ढालने की कोशिश करते हैं। ना ही उन्हें गिनीपिग की तरह बरतते हैं। 'सूर्यास्त' कहानी के नरेटर की व्यावसायिक बुद्धि हो, 'मुहूर्त' कहानी का विश्वनाथन हो या अन्य कहानियों के अन्य पात्र। आप ध्यान देंगे कि इन सभी कहानियों के पात्रों की जो चेतना है, उन पात्रों की चेतना और सामाजिक अस्तित्व में एक गहरी किस्म की पारस्परिकता है।

यह कैसे हुआ इसको स्पष्ट करने के लिए मैं छोटा-सा उदाहरण आपके समक्ष पढ़ना चाहता हूँ। यह कार्ल मार्क्स की प्रसिद्ध किताब 'ए कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलीटीकल इकानामी' की भूमिका से मार्क्स का ही एक उद्धरण है।

यह बताता है कि पात्रों की चेतना और उनके सामाजिक अस्तित्व में

किस तरह की पारस्परिकता है। जिसमें उन्होंने कहा कि मनुष्यों के सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया से उसकी चेतना विशेष संबंध कायम करती है जो अनिवार्य होते हैं और उसकी इच्छा से स्वतंत्र भी। ये उत्पादन संबंध भौतिक उत्पादक विकास की अवस्था से संबंधित होते हैं। ये उत्पादक संबंध उससे संबंधित भी होते हैं। अभिरचनाएँ ही सामाजिक चेतना के विशिष्ट स्वरूप के निर्धारण से जुड़ी होती हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति ही सामान्यतः सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं की निर्धारित करती है। मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।

संतोष चौबे जी की कहानियों के पात्रों की चेतना के निर्धारण में उनका सामाजिक अस्तित्व इसी तरह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संभव है कि इसी वजह से उनकी कहानियों का अंत एक खास तरह के पैटर्न से होता है। संतोष चौबे को दृश्य की स्थितियाँ पसंद हैं, लेकिन कहानियाँ भिन्न हैं, कथाभूमि भिन्न है, पात्र भिन्न हैं। पात्रों का सामाजिक अस्तित्व और उस अस्तित्व के निर्धारण की परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं। इसलिए उनकी कहानियाँ पात्रों के संघर्ष पर निर्णय नहीं सुनातीं, न्याय करती हैं।

अंत में संतोष साधारणता और सहजता के कथाकार हैं। अपनी वैचारिकता के उद्घोष के लिए प्रत्यक्षतः परिभाषित पदों के इस्तेमाल से खुद को बचा ले जाते हैं। कारण कि उन्होंने अपनी वैचारिकी को अपनी अनुभूति में घुला दिया है। इसलिए उनकी निगाह साधारण पर है। वे साधारण की कथा को साधारण ढंग से कहते हैं। साधारण भाषा और साधारण शिल्प में कहते हैं। किंतु साधारण जीवन, साधारण भाषा, साधारण शिल्प, साधारण रचनात्मकता, साधारण रचात्मक छंद और बहुत सारे साधारण मिल कर असाधारण बन जाते हैं। यही साधारण की असाधारण ताकत है।

साधारण की यही ताकत संतोष चौबे की कहानियों में मौजूद है। संतोष चौबे जी को शुक्रिया। आपने मुझे इतनी धैर्य से सुना, आपका भी शुक्रिया।

पंकज सुबीर

धन्यवाद आशुतोष जी!

अब हम इस सत्र के अंतिम पड़ाव तक पहुँचे हैं। मित्रो, आज का यह आयोजन इसलिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यह कहानी पर आयोजन है और ममता कालिया जी इस सत्र की अध्यक्षता कर रही हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चित्रा मुद्गल जी श्रोताओं की अग्रिम पंक्ति में बैठी हैं। ये इस सत्र की विशेषता है और इन दोनों की उपस्थिति में हमने बहुत महत्त्वपूर्ण चर्चा यहाँ पर की। अब हम समापन की ओर बढ़ रहे हैं अध्यक्षीय उद्बोधन के साथ। एक सूचना-भर यह है कि साढ़े छह बजे से एक सांस्कृतिक सत्र है जिसमें संतोष चौबे की कहानी 'गरीब नवाज' का नाट्य-मंचन होगा और एक लघु नाटिका का भी प्रदर्शन होगा।

ममता कालिया का परिचय क्या दिया जाये और कैसे? उनके पास तो फिर भी बहुत शब्द हैं, मेरे पास तो शब्दों की और भी कमी है। लेकिन मुझे याद पड़ता है कि मैने ना जाने कब एक कहानी पढ़ी थी– 'बोलने वाली औरत' और मेरे दिमाग से वो कहानी कभी नहीं हटी। जैसे 'जगदंबा बाबू लौट रहे हैं' मेरे दिमाग से कभी नहीं हटती। कुछ कहानियाँ शायद ऐसी हैं जो लेखक से बहुत आगे निकल गयी हैं और हम सब जो लेखन करते हैं, ऐसी कहानियों की तलाश में रहते हैं।

ममता जी का बहुत परिचय देने के मैं योग्य नहीं हूँ। मैं चाहूँगा कि आप बहुत जोरदार तालियों के साथ ममता जी का स्वागत करें उनके अध्यक्षीय उद्बोधन के लिए।

ममता कालिया

प्रियवर संतोष चौबे जी, आत्मीय मंच और प्रियवर दोस्तो, इस सत्र में वास्तव में आज साहित्य-पर्व मन गया। इतनी अच्छी तरह से चौबे जी की कहानियों को खँगाला गया है, इतनी अच्छी तरह से उन पर बात हुई है और मुकेश वर्मा जी ने शुरू में ही नव-यथार्थवाद का इतना अच्छा चित्र प्रस्तुत किया है और अंतिम वक्ता आशुतोष तक ने उनकी कहानियों को पढ़ा। अकसर यह होता है कि कहानी को बिना पढ़े ही लोग आ जाते हैं

सबसे बड़ी बात मुझे लगी वो यह कि वो कहानी एकदम अनौपचारिक तरीके के साथ शुरू करते हैं और उसको कई आप्शन के साथ खुली छोड़ देते हैं। अंत में बस यही कहूँगी कि आज सभी वक्ताओं ने बहुत अच्छी तरह से और सभी कहानीकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि का परिचय दिया है और संतोष जी को आज वाकई में बहुत हर्ष और संतोष मिलेगा। धन्यवाद और नमस्कार!

और फिर जनरल बातें करके लीपा-पोती करके चल देते हैं।

यहाँ एक-एक कहानी उनकी पढ़ी गयी, क्योंकि उन कहानियों में यह विशेषता है कि वह अपने को पढ़वा ले जाती हैं। सबसे बड़ी बात मुझे लगी वो यह कि वो कहानी एकदम अनौपचारिक तरीके के साथ शुरू करते हैं और उसको कई आप्शन के साथ खुली छोड़ देते हैं। अंत में ये एक नव-यथार्थ है, यथार्थ को नये तरीके से देखने की दृष्टि है। मैं बहुत लंबी बात नहीं कहूँगी। सभागार में खाने की खुशबू इस समय विचारों की खुशबू से कहीं ज्यादा है। बस यही कहूँगी कि आज सभी वक्ताओं ने बहुत अच्छी तरह से और सभी कहानीकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि का परिचय दिया है और संतोष जी को आज वाकई में बहुत हर्ष और संतोष मिलेगा। धन्यवाद और नमस्कार!

पंकज सुबीर

धन्यवाद ममता जी का, मैं चाहूँगा कि मुकेश जी यहाँ मंच पर आयें और सारे अतिथियों को स्मृति चिन्ह प्रदान करें।

नरेश सक्सेना जी से भी आग्रह करूँगा कि वे मंच पर आयें और अतिथियों को स्मृति चिन्ह प्रदान करें।

(स्मृति चिन्ह का प्रदाय)

मित्रो, हम अपना कार्यक्रम यहीं समाप्त करते हैं। आप सब ग्रुप फोटों के लिए यहाँ आ जाएँ।

3

कहानी में नाट्य-तत्त्व

साहित्य-पर्व के अवसर पर आयोजित कहानी के नाट्य-मंचन पर केन्द्रित विमर्श

22 सितम्बर 2015 को संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति के अवसर पर आयोजित साहित्य पर्व 24–26 अक्टूबर में अंतिम दिन 'कहानी में नाट्य–तत्त्व' विषय पर विमर्श हुआ तथा कहानी का नाट्य–मंचन सम्पन्न हुआ, जिसमें देवेन्द्र राज अंकुर, नंदकिशोर आचार्य, अजय मलकानी, संतोष चौबे, राजेश जोशी, रामप्रकाश त्रिपाठी, आलोक चटर्जी, गोपाल दुबे, उदय शहाणे, संजय मेहता, अशोक बुलानी, बालेन्द्र सिंह, सौरभ अनंत और सुदीप सोहनी ने शिकरत की।

इससे पहले, प्रथम सत्र में बर्तोल्त ब्रेख्त की कहानी 'सुकरात' का श्री मनोज नायर द्वारा नाट्य–मंचन किया गया तथा द्वितीय सत्र में श्री संतोष चौबे की कहानी 'गरीब नवाज' का नाट्य–मंचन श्री देवेन्द्रराज अंकुर के निर्देशन में किया गया।

प्रथम सत्र

विनय उपाध्याय

नमस्कार, आदरणीय संतोष चौबे जी के षष्टिपूर्ति प्रसंग में आप सभी का स्वागत है। अपने बहुआयामी रचनाकर्म और सांस्कृतिक सक्रियता से हिन्दी के समकालीन परिदृश्य में अपनी अद्वितीय पहचान और प्रसिद्धि कायम करने वाले हम सबके आत्मीय श्री संतोष चौबे की साठवीं वर्षगाँठ के निमित्त आयोजित दो दिवसीय नाट्य-समारोह की शुभारंभ-सभा में आप सभी का हम हार्दिक स्वागत करते हैं, अभिवादन करते हैं। आपसे ये साझा करते हुए हमें खुशी है कि श्री चौबे जी के यशस्वी जीवन के छह दशक पूरे होने पर ये प्रसंग उनके भावी जीवन के प्रति शुभ की कामना और सहज अपनापे के बीच सर्जनात्मक पक्ष और उनकी शख्सियत के विभिन्न पहलुओं से प्रत्यक्ष होने का भी अवसर है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में सृजनात्मक प्रकल्पों की मान्य संस्था वनमाली सृजनपीठ और साहित्य कला शिक्षा समाज के प्रति और रंगमंच के प्रति समर्पित अनेक संगठनों ने मिलकर लगभग पूरे बरस श्री चौबे जी के कृतित्व, व्यक्तित्व पर एकाग्र समारोहों की एक श्रृंखला तैयार की है। आपको बता दें कि यह समारोह भोपाल के अलावा बिलासपुर, रायपुर, खंडवा, जबलपुर, उज्जैन, रतलाम और सीहोर जैसे शहरों में प्रस्तावित है। यह सिलसिला भोपाल में श्री संतोष चौबे जी की कहानियों और अनूदित नाटकों के मंचन, परिसंवाद और रंगमंच के रंगसंगीत से शुरू हो रहा है। आप सब जानते ही हैं कि श्री चौबे कविता, कहानी, उपन्यास आलोचना और अनुवाद के क्षेत्र में लगातार सक्रिय रहे हैं और रचनाशीलता के समानांतर कलाओं, विशेषकर रंगकर्म में उनकी गहरी दिलचस्पी रही है। उनकी कहानियों तथा उपन्यास पर

आधारित कई नाट्य-मंचन भोपाल और दीगर शहरों में बहुत सराहे गये। उनकी पुरजोर मान्यता है कि साहित्य और कलाओं में प्रगति का रास्ता उनमें परस्पर अंतस्संबंधों की तलाश से ही होकर जाता है। बहरहाल इस समारोह की परिकल्पना की बुनियादी मंशा भी इसी रचनात्मक आपसदारी की मंशा से जुड़ी है। जैसा कि आप सबको विदित है कि इस दो दिवसीय नाट्य-समारोह की चार सभाओं के पाँच रंग हैं। शुरुआत विहान ड्रामा वर्क्स की रंग प्रस्तुति से होगी। उसके बाद आप देखेंगे नाटक सुकरात, बर्टोल्ट ब्रेख्त की कहानी पर आधारित संतोष चौबे के नाट्य-आलेख का रंग प्रयोग मनोज नायर ने किया है। आज शाम की सभा में श्री चौबे जी की बहुचर्चित नयी कहानी 'गरीब नवाज' का नाट्य-मंचन नई दिल्ली के रंग समूह 'संभव' के कलाकार देंगे। इस कहानी का नाट्य-निर्देशन प्रख्यात रंगकर्मी देवेन्द्रराज अंकुर ने किया है। और जैसा कि आप देख रहे हैं– अंतरंग सभागार में आपके सम्मुख मंच पर विहान ड्रामा वर्क्स के कलाकार प्रस्तुति के लिए तैयार हैं। हम विहान के संस्थापक कलाकार श्री सुदीप सोहनी से निवेदन करते हैं कि विहान रंग संगीत प्रारंभ करें।

(विहान की रंग संगीत की प्रस्तुति)

रंग संगीत की इस प्रस्तुति के लिए विहान के सभी कलाकारों को बहुत-बहुत धन्यवाद। आप देखेंगे कि इन सबमें हर उम्र के कलाकार हैं और वे सब अपने सपनों के साथ आये हैं और आप सब इनसे परिचय प्राप्त करेंगे तो आपको लगेगा कि कोई इसमें मैनेजमेंट की डिग्री ले रहा है, कोई इंजीनियरिंग में पढ़ रहा है कोई एमबीबीएस कर रहा है। इस तरह से ये तमाम बच्चे अपनी पढ़ाई के साथ-साथ कलाओं से भी रूहानी और रचनात्मक रिश्ता बनाने की कोशिश कर रहे हैं और ये हमारे समय के लिए बहुत सुखद है कि नई पीढ़ी जो है, इस तरह बराबरी से जितना वो अपने लिए इस अकादमिक शिक्षा को जरूरी मानती है, उतनी ही जरूरी वो अपनी कलाओं से भी रिश्ता बनाये रखना जरूरी समझती है और आदरणीय संतोष चौबे जी का जीवन और व्यक्तित्व और उनकी सफलता और उपलब्धियाँ इस बात की ताइद करती हैं कि कैसे इस दोहरे रिश्ते को कायम रखते हुए बड़ा बना जा सकता है। आदरणीय श्री संतोष चौबे

प्रेरणा-पुरुष हैं। हालाँकि हम कई बार इस तरह से साठ बरस पूरे होने के प्रसंग देखते हैं, पर जब हम कई तरह से श्री संतोष चौबे के रंग को, शेड्स को, देख रहे हैं तो बच्चे भी अपने समय के एक नायक की शख्सियत को इस तरह से चरितार्थ करते हुए देखकर जीवन को भावी दिशा देंगे। हेमंत देवलेकर सबका परिचय करायेंगे, लेकिन हेमंत देवलेकर के बारे में भी दो शब्द कहना मैं जरूरी समझता हूँ। हेमंत देवलेकर को मैं मानता हूँ, वैसे तो जन्मजात ही कलाकार हैं, उनके अंग-प्रत्यंग में आप देखेंगे कि अभिनय है, कविता कहने की कला है, कविताएँ तो बहुत सारे लोग लिख लेते हैं लेकिन पाठ की परंपरा को जिस शिद्दत के साथ इन्होंने आत्मसात किया है, वह अतुलनीय है। जब ये काव्य-पाठ करते हैं तो लगता है कि जैसे शब्द में से कविता की अंतरात्मा फूटती नजर आती है। बहुत अच्छे कवि हैं और हमारे साथ में, वनमाली सृजनपीठ के साथ में, हमारे यहाँ पर राज्य संसाधन केन्द्र के लोग भी बैठे हैं, उनके साथ भी हेमंत देवलेकर का एक रिश्ता बना है और हमेशा के लिए हम ये मानकर चलते हैं कि विहान रंग समूह, जब तक हम कुछ न कुछ करते रहेंगे, समूह हमारे साथ बना रहेगा। मैं हेमंत देवलेकर को आपके बीच आमंत्रित करता हूँ कि वे अपने कलाकारों का तआरुफ आप सबके बीच करायें।

(विहान ड्रामा वर्क्स के कलाकारों का परिचय)

बहुत-बहुत धन्यवाद और दस मिनिट बाद हम आपसे पुनः रूबरू होंगे नाटक 'सुकरात' के साथ।

(नाटक सुकरात का प्रदर्शन एवं कलाकारों का परिचय)

दर्शक दीर्घा में रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, चित्रा मुद्‌गल, मंजूर एहतेशाम, धनंजय वर्मा, संतोष चौबे, सतीश जायसवाल, महेन्द्र गगन, मनोज रूपड़ा, वन्दना राग, नवल शुक्ल, पंकज सुबीर, प्रेमशंकर शुक्ल, उर्मिला शिरीष, रेखा कस्तवार, स्वाति तिवारी आदि।

द्वितीय सत्र

विनय उपाध्याय

सुविख्यात कवि, कथाकार, संस्कृतिकर्मी, शिक्षाविद् और हम सबके प्रिय, अत्यंत चिर-परिचित, आत्मीय श्री संतोष चौबे जी की साठवीं सालगिरह के उपलक्ष्य में आयोजित दो दिवसीय नाट्य-समारोह के पहले दिन की दूसरी सभा में आप सभी मेहमानों का, आप सभी दर्शकों का हम हार्दिक स्वागत करते हैं। आप सब जानते ही हैं कि अपनी कहानियों को लेकर, अपने उपन्यासों को लेकर, अपनी कविताओं को लेकर हिंदी के परिसर में श्री संतोष चौबे जी ने अपनी बहुत ही नायाब उपस्थिति दर्ज की है। किताबों के जरिये, पाठ के जरिये उनकी रचनाएँ हम तक पहुँचती हैं। लेकिन रंगमंच से भी उनकी कहानियों का, उनके साहित्य का बहुत ही गहरा रिश्ता है। इस समारोह से हट कर भी पिछले वर्षों में भोपाल और भोपाल के बाहर उनका विमोचन होता रहा है और विशेष रूप से मैं इस अवसर पर स्व. सुश्री विभा मिश्र को याद करना चाहता हूँ जिन्होंने दिल्ली के भारंगम मंच पर आदरणीय संतोष चौबे जी की कहानियों को लेकर एक बहुत ही नई किस्म की चेतना बिखेरी थी। यानी कि उपन्यास और कहानियों के साथ जो रंगमंच का रिश्ता है, वो संतोष चौबे जी को उनकी पहचान के साथ बहुत दूर तक ले जा चुका है। लेकिन एक बार फिर वे जब अपने जीवन के साठ वर्ष पूरे कर रहे हैं, तब ये बहुत ही समीचीन है कि हम उनकी रचनाओं को एक अलग शैली में भी संप्रेषित होते हुए देखें। लिहाजा इस समारोह में संतोष चौबे जी की दो कहानियों और एक उनके द्वारा रूपांतरित नाटक को मंचन के लिए चुना गया। आज सुबह इस नाट्य-समारोह की शुरुआत प्रतिभाशाली युवा रंगकर्मियों की संस्था विहान

के रंग संगीत की प्रस्तुति से हुई। उसके बाद मनोज नायर द्वारा निर्देशित बर्टोल्ट ब्रेख्त की कहानी पर आधारित संतोष चौबे जी द्वारा अनूदित और नाट्य-रूपांतरित 'सुकरात' का मंचन हमने देखा और अब कुछ ही क्षणों बाद विश्वविख्यात रंगकर्मी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के पूर्व निदेशक और हिंदी कहानी के साथ पहले पहल रंग प्रयोग करने वाले देवेन्द्रराज अंकुर के निर्देशन में संतोष चौबे जी की बहुचर्चित कहानी 'गरीब नवाज' का मंचन हम देखेंगे। थोड़ा-सा, छोटा-सा एक दस-पन्द्रह मिनट का पूर्वरंग का एक कार्यक्रम आप सबकी इच्छा पर हमने रचा है। हमारे सबके बीच सुविख्यात कवि नाटककार आदरणीय नंदकिशोर आचार्य जी उपस्थित हैं। आदरणीय देवेंद्रराज अंकुर उपस्थित हैं। मैं इन दोनों महानुभावों को मंच पर आमंत्रित करना चाहूँगा। वे आयें। आदरणीय संतोष चौबे के साथ मंच पर आकर स्थान ग्रहण करें। जोरदार तालियों से अभिनंदन करें, स्वागत करें और मंच से परे अगर मैं देखूँ, अंकित करना चाहूँ आज की विशेष उपस्थित को आदरणीया सुश्री उत्तरा बावकर। आप सब जानते ही हैं कि बहुत विख्यात रंगकर्मी हैं, निर्देशक हैं। वे भी हमारे बीच हैं। प्रथम पंक्ति में श्री राजेश जोशी, हिंदी के विख्यात कवि हमारे बीच हाजिर हैं, उनका भी स्वागत है। डॉ. विजय बहादुर सिंह जो उनकी बहुत ही चाही हुई जगह पर हमेशा वहाँ विराजते हैं। रमेश दवे जी हैं, मुकेश वर्मा जी हैं और बहुत सारी सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रतिनिधि इस सभागार में उपस्थित हैं। और आप सब प्रिय दर्शक जो हमेशा ही वनमाली सृजनपीठ और हमारे तमाम रचनात्मक प्रकल्पों के साथ हमारे साथ जुड़ते हैं, आप सबका भी यहाँ बहुत-बहुत स्वागत करते हैं।

सबसे पहले आदरणीय संतोष चौबे जी से निवेदन है कि वे मेजबान होने के नाते भी और इस आयोजन के हालाँकि बहुत केन्द्रीय पुरुष हैं लेकिन मैं उनसे गुजारिश करता हूँ कि आदरणीय नंदकिशोर जी और देवेन्द्रराज अंकुर जी का स्वागत करें। आपको बताता हूँ कि कल जो हमने कहानी में नाट्य तत्त्व और रंगप्रयोग पर एक परिसंवाद का आयोजन किया है, उसकी अध्यक्षता के लिए श्री नंदकिशोर आचार्य जी से निवेदन किया है। कल सुबह वे साढ़े दस बजे अध्यक्षीय मुद्रा में फिर हमारे बीच

उपस्थित होंगे। आदरणीय देवेन्द्रराज अंकुर जी, उनका भी स्वागत फूलों से और ये स्मृति चिन्ह भेंटकर आदरणीय संतोष चौबे जी करेंगे।

हमारी ये हमेशा कोशिश होती है कि हमारे ये समारोह कभी भी बहुत एकांगी नहीं हुआ करते हैं। उनके साथ एक बहुत ही समावेशी मानव निजता जुड़ती है और बहुत सारे ऐसे पक्ष हम उनमें शामिल करते हैं जो कि हमारे पूरे समारोह की परिकल्पना को पूर्ण बनाने में हमारे लिए मददगार होते हैं। वनमाली सृजनपीठ की सांस्कृतिक पत्रिका 'रंग संवाद' का एक नया अंक भी इस अवसर पर प्रकाशित हुआ है। अभी दोपहर में ही छपकर आया है और हम ये जरूरी समझते हैं कि इस अवसर पर आचार्यजी और अंकुरजी के साथ उसका विमोचन करायें।

(रंगसंवाद के नये अंक का विमोचन)

आपने अगर हमारा आमंत्रण-पत्र देखा हो तो उसमें वनमाली सृजनपीठ के साथ बहुत सारी रंग संस्थाओं, सांस्कृतिक संस्थाओं ने हमारे साथ षष्टिपूर्ति के अवसर पर आयोजित इस उत्सव में भागीदारी की है। इस अवसर पर कुछ प्रतिनिधियों की इच्छा है कि वे आकर संतोष चौबे जी का स्वागत करें, फूल माला से अभिवादन करें। सबसे पहले हम बुलाना चाहेंगे अशोक बुलानी को। बुलानीजी का हम इस समारोह और संतोष चौबे जी से एक बहुत रचनात्मक रिश्ता देखते हैं। हम आपको बता दें कि चौबे जी की 'रेस्त्राँ में दोपहर', जो लंबी कहानी है, उस कहानी का मंचन भी अशोक बुलानी ने किया है और भारत भवन में एकाधिक बार उसका मंचन हुआ। आप सब उसके साझी बने होंगे, अशोक बुलानी जी संतोष चौबे जी का स्वागत करेंगे। श्री राकेश सेठी सूत्रधार रंग आधार के संस्थापक सचिव, रंगकर्मी राकेश सेठी जी आपके बीच पधार रहे हैं उसके बाद हमीदउल्ला खाँ मामू, इफ्तेखार क्रिकेट अकादमी के संस्थापक सचिव और 25 वर्षों से वे एक नाट्य-समारोह भोपाल में आयोजित करते रहे हैं। राकेश सेठी, हमीदउला खाँ मामू, रंग विदूषक की ओर से श्री उदय शहाणे, हमारे शहर के वरिष्ठ रंगकर्मी अभिनेता हैं श्री राम वल्लभ आचार्य, मध्यप्रदेश लेखक संघ और कलामंदिर संस्थाओं की ओर से,

बहुत वरिष्ठ गीतकार हैं, वे चौबे जी का स्वागत करना चाहेंगे। फिलहाल मंच पर उदय शहाणे, श्री गोपाल दुबे, भूमिका संस्था का संचालन करते हैं और रंगमंडल के आरंभ के सदस्य रहे हैं। श्री कारंत जी के शिष्य हैं। गोपाल दुबे मंडप नाट्य-संस्था के संस्थापक हैं और विशेष रूप से मंच पर तकनीकी व्यवस्थाओं को लेकर बहुत सधा हुआ इनका हाथ है, मोहन द्विवेदी, सुश्री बिशना चौहान सगुन सागर संस्था की संस्थापक हैं। श्री गौरीशंकर गौरीश भोपाल की सबसे पुरानी संस्था कलामंदिर की ओर से स्वागत करेंगे। श्री राम प्रकाश त्रिपाठी, वरिष्ठ आलोचक सूत्रधार की ओर से स्वागत करेंगे ओर उसके बाद विहान रंग समूह की ओर से सुश्री एकता गोस्वामी सोहनी। खंडवा नाट्य-समूह नट निमाड़ के अध्यक्ष श्री शरद जैन पधारे हैं, आदर के साथ मंच पर आमंत्रित करना चाहूँगा। खंडवा का ये अभिवादन इस मायने में बहुत महत्त्वपूर्ण है कि खंडवा श्री संतोष चौबे जी की जन्मस्थली है, इसीलिए मित्र परिवार गुरु परिवार के नुमाइंदे हैं श्री शरद जैन, श्री भँवरलाल श्रीवास कला समय के प्रबंध संपादक, वे मंच पर पधारें, श्री कमल जैन रंगकर्मी और हमेशा ही हमारी वनमाली सृजनपीठ की रंगमंचीय प्रस्तुतियों में हमारे साथ शुमार होते हैं। श्री सुरेश वानखेड़े, गंधर्व संस्था के संस्थापक और चिल्ड्रन थियेटर एकेडमी की ओर से श्री प्रेम गुप्ता। श्री आलोक चटर्जी, दोस्त के संपादक और चिरपरिचित अभिनेता हैं। नया थियेटर की ओर से नगीन तनवीर। श्री संतोष पणिक्कर और अरुणा संतोष कृपया मंच पर आयें।

बहुत-बहुत धन्यवाद आप सभी को। और अब हम संक्षेप में श्री आचार्यजी से निवेदन करते हैं कि वे शुभकामना-स्वरूप अपना उद्‌बोधन हम तक पहुँचाएँ।

नन्दकिशोर आचार्य

संतोष जी और मित्रो, वैसे ये बहुत औपचारिक रूप से कुछ कहने का वक्त नहीं है, लेकिन षष्टिपूर्ति के इस अवसर पर संतोष जी के बहुआयामी सृजनात्मक व्यक्तित्व को लेकर के पूरे साल-भर कुछ कार्यक्रम होने जा रहे हैं, मैं समझता हूँ कि ये एक अद्‌भुत बात है कि

एक शहर की लगभग सभी संस्थाएँ साहित्य की रंगकर्म की जो किसी एक व्यक्ति के प्रति इतना आदर इतना सम्मान रखती हैं। ये मेरे लिए आज के युग में एक निश्चित ही बहुत चौंकाने वाली बात है। हम सब अपनी अपनी सिमटी हुई दुनिया में रहने के आदी हो रहे हैं। ऐसे समय एक शहर अपने एक लेखक को, संस्कृतिकर्मी को इतना आदर इतना प्यार, मान और इतनी आत्मीयता देता है कि देखकर के कला कर्म के प्रति और साहित्य कर्म के प्रति मन में पुनः आस्था जागती है। अभी मैं यही कहना चाहूँगा।

विनय उपाध्याय

मैं आलोक चटर्जी को मंच पर आमंत्रित करना चाहूँगा। संक्षेप में वे इस अवसर पर अपनी शुभकामना साझा करें।

आलोक चटर्जी

प्रणाम नमस्कार। प्रिय दर्शको, सादर अभिवादन करता हूँ। ये मौका बहुत ज्यादा बोलने का मुझे इसीलिए नहीं लगा रहा है कि एक्टर्स आर वेटिंग। मैं खुद अभिनेता हूँ, मुझे मालूम है कि उस समय अंदर से क्या निकलता है– कितने मधुर-मधुर भाव निकलते हैं। तो मैं नहीं चाहता कि मेरे प्रति वो ऐसा-वैसा सोचें।

मैं संतोष जी को बधाई दूँगा कि वे आज के समय में रंगमंच, साहित्य के क्षेत्र में खुद सक्रिय भी हैं और सबको प्रोत्साहन भी देते हैं। आप देखिये कि कोई प्रोत्साहन देने वाला व्यक्ति जो समर्थ हो, कर सकता है और कर रहा हो, वो आपका बिरला ही उदाहरण मिलेगा। कोई मुकेश अंबानी और रतन टाटा ये काम नहीं कर सकते। कोई संवेदना रखने वाला ही, स्वयं रचने वाला आदमी और दूसरे रचने वाले लोगों को देखने वाला आदमी ही इस प्रकार का एक सृजनात्मक कदम उठा सकता है। ये अपने आपमें जन्मदिन मनाने का एक अनूठा तरीका है। संतोष जी आप शतायु हों और इससे बड़े ऑडिटोरियम-स्टेडियम में आपका अभिनंदन किया जाये। बहुत-बहुत धन्यवाद।

विनय उपाध्याय

बहुत-बहुत धन्यवाद आलोक जी। आदरणीय अंकुर जी आप कुछ कहना चाहेंगे।

देवेन्द्रराज अंकुर

मैं आपका सबका बहुत-बहुत स्वागत करता हूँ और संतोष जी को बहुत-बहुत बधाई। मैं समझता हूँ कि ऐसे रंगकर्मी ऐसे लेखक बहुत कम लोगों के समाज में होते जा रहे हैं जो अपने संसाधनों को दूसरे के लिए भी उपलब्ध करायें। ये बहुत बड़ी बात है। इसीलिए उनका बहुत-बहुत हार्दिक धन्यवाद। आज हमें अवसर दिया, हम यहाँ आ पहुँचे और सब यहाँ मौजूद हैं। 22 तारीख से हम लोग लगातार देख रहे हैं, शायद इतने बड़े स्तर पर बहुत उदारता की जरूरत है और इसके लिए संतोष चौबे जी को बहुत-बहुत बधाई।

विनय उपाध्याय

आप इस बात पर इत्तेफाक करेंगे कि मंच पर हमारे जिन महानुभावों ने संवाद किया है और जिस व्यक्ति के प्रति इतने सारे उद्गार मन में उमड़ रहे हों, तब अगर हम उन्हें ना सुनें तो ये शायद नाइंसाफी होगी। बहुत श्रद्धा और आदर के साथ आदरणीय संतोष चौबे जी को कुछ क्षण के लिए माइक सौंपता हूँ।

संतोष चौबे

धन्यवाद विनय! आचार्य जी, अंकुर जी और यहाँ उपस्थित सभी मित्र-जनो। सभी लोग मेरे अपने ही हैं, इसीलिए अलग-अलग नाम नहीं लेना चाहता। सबसे पहले तो जिन संस्थाओं ने जितना प्रेम आदर मुझे दिया है, उन सबके प्रति मैं धन्यवाद प्रकट करना चाहता हूँ। आपको मालूम ही है कि वनमाली सृजनपीठ कहानी और कहानी के मंचन पर, कविताओं और कविताओं के मंचन पर और एक प्रकार के अंतर्विधायी काम को लगातार करती जा रही है और हमारा लक्ष्य है कि हम सारे समूहों को, जिसको

हम आल्टरनेट स्पेस कहते हैं, जो शायद सरकार से बाहर की स्पेस है, उसको लगातार बनाये रखें और साहित्य की स्वायत्तता, कलाओं की स्वायत्तता पर लगातार केंद्रित रहें। तो ये काम हम करते आ रहे हैं और 'रंग संवाद' भी इसका एक नमूना है और आप सबका सहयोग लगातार मिलता है। मुझे 20–25 साल हो गये, मैं सभी दोस्तों के प्रति, रंगकर्मियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। आयन रैंड की एक किताब है, 'हू नीड्स फिलॉसफी'। इसका अंत इस बात से होता है कि 'एवरीवन नीड्स फिलॉसफी'। तो थियेटर के बारे में भी यही कि हू नीड्स थियेटर तो अंत में यही कि एवरीबडी नीड्स थियेटर। वो स्टूडेंट हो या आम व्यक्ति, वो कलाकार है। जीवन को समझने और वाकई उसमें पार्टीसिपेट करने के लिए सबको थियेटर की जरूरत है। इसी लक्ष्य को लेकर हम आगे बढ़ रहे हैं। आप सबका बहुत–बहुत धन्यवाद मित्रो, हम आगे भी बड़े काम करेंगे। धन्यवाद!

विनय उपाध्याय

बहुत–बहुत धन्यवाद, आगे बस अब कुछ ही क्षणों बाद हम देखेंगे संतोष चौबे जी की कहानी पर आधारित नाट्य–प्रस्तुति– गरीब नवाज।

(देवेन्द्रराज अंकुर के निर्देशन में 'गरीब नवाज' का मंचन)

तृतीय सत्र
परिसंवाद : कहानी में नाट्य-तत्त्व

विनय उपाध्याय

सुप्रभात! आप सबका श्री संतोष चौबे जी की साठवीं सालगिरह के निमित्त आयोजित दो दिवसीय नाट्य-समारोह के दूसरे दिन की सुबह की सभा में हम वनमाली सृजनपीठ एवं हमारी सहयोगी संस्थाओं की ओर से हार्दिक स्वागत करते हैं। दो दिनों के विभिन्न सत्रों में फैला ये उत्सव आप सभी जानते ही हैं कि श्री संतोष चौबे के सृजनात्मक पक्षों के आसपास उनके कृतित्व और हमारे समय की कलात्मक संवेदना को देखने-परखने का हमें एक भरपूर अवसर दे रहा है और हमें इस बात की प्रसन्नता है कि आप सब इस वैचारिकी में हमारे साथ हैं। इस उत्सव की परिकल्पना करते हुए हमने वो तमाम पहलू जो संतोष चौबे जी की रचनात्मकता से जुड़ते हैं, उन्हें सँजोने की कोशिश की है और उसकी शुरुआत संतोष चौबे जी का जो मूल स्वर रहा है, कहानियों को लेकर जो पहचान रही है, प्रसिद्धि रही है और उसमें जो प्रयोगधर्मी स्वभाव उनका हमें प्रक्षेपित होता नजर आता है, उनके नाट्य मंचन से की है। हमारी ये इच्छा थी कि उसके आसपास रंगमंच का जो रिश्ता बनता है, उसको भी देखा परखा जाये। यूँ संतोष चौबे जी की कहानियाँ किताबों से उठकर रंगमंच से बहुत पहले अपना नाता जोड़ चुकी हैं, लेकिन इन दिनों कहानियों के मंचन को लेकर क्या दशा और दिशा हम अख्तियार कर रहे हैं, हमारे कहानीकार जब अपनी कहानियाँ लिखते हैं तो उसमें किस तरह से नाटकीय सघनता के प्रयोग के साथ अपनी रचनाशीलता में उतरते हैं। रंगकर्मी कहानियों को लेकर क्या सोचते हैं, ये तमाम ऐसे प्रश्न हैं जो केवल अकेले लेखक के

साथ साझा नहीं हो सकते। इसके साथ निश्चित ही रंगकर्मियों और आलोचकों को भी जोड़ने की दरकार कई दिनों से हम महसूस कर रहे हैं। हमें इस बात की खुशी है कि आदरणीय संतोष चौबे की कहानियों में नाट्य–तत्त्व और रंग प्रयोग को लेकर जो विमर्श जो परिसंवाद हमने आज सुबह के सत्र में आयोजित किया है, उसमें मुख्य वक्ता के रूप में आदरणीय देवेन्द्रराज अंकुर हमारे बीच उपस्थित हैं, हम उनका हार्दिक स्वागत करते हैं। आज के इस परिसंवाद में एक और प्रमुख वक्ता के रूप में हमारे साथ हमारे मेहमान रंगकर्मी हाजिर हुए हैं– श्री अजय मलकानी जी, मैं उनका भी हार्दिक स्वागत करता हूँ और इस सत्र की अध्यक्षता के लिए हमने निवेदन किया देश के विख्यात कवि, नाटककार, चिंतक नन्दकिशोर आचार्य से। वे भी हमारे बीच उपस्थित हैं, हम उनका हार्दिक स्वागत करते हैं। इस परिसंवाद को एक व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए हमने अपने शहर के बहुत से सक्रिय रंगकर्मियों को भी आमंत्रित किया है। वे भी हमारे प्रमुख वक्ताओं के उद्‌बोधन के बाद हस्तक्षेप करेंगे। प्रश्न कर सकते हैं, अपने विचार रख सकते हैं, उनका भी मैं बहुत स्वागत करता हूँ। मैं आदरणीय संतोष चौबे जी से निवेदन करता हूँ कि आप आदरणीय आचार्य जी, अंकुर जी और मलकानी जी के साथ मंच पर आयें। मुकेश भाई, बलराम जी, रामप्रकाश जी आइये।

मैं आदरणीय संतोष चौबे जी से निवेदन करता हूँ कि आचार्य जी, अंकुर जी ओर मलकानी जी का फूलों से स्वागत करें। चलिये आदेश हुआ है और उसको अनदेखा नहीं किया जा सकता– श्री मुकेश वर्मा जी को मंच पर आमंत्रित करता हूँ, वे आयें और आचार्य जी का स्वागत करें। इसी क्रम में ही बलराम गुमास्ता जी मंच पर पधारें और अंकुर जी का स्वागत करें। श्री अरुणेश शुक्ल से निवेदन है कि कृपया आयें और मलकानी जी का स्वागत करें। आज की इस चर्चा में जो हस्तक्षेप करने के लिए हमारे बीच उपस्थित हैं, आदरणीय श्री राजेश जोशी जी, रामप्रकाश त्रिपाठी जी सच्चिदानंद जोशी जी, संजय मेहता, प्रेम गुप्ता, बालेन्दु सिंह, सुदीप सोहनी, सौरभ अनंत और उम्मीद है कि उदय शहाणे, अशोक बुलानी हमारी चर्चा शुरू होते–होते इस सभागार में दाखिल हों ओर

उनका भी हम स्वागत करना चाहेंगे। मैं मोहन सगोरिया से निवेदन करता हूँ कि आदरणीय राजेश जी, रामप्रकाश जी जहाँ बैठे हैं, वहाँ पहुँचे फूल लेकर ओर उनका अभिवादन करें।

आज सब लोग जो यहाँ पर इस परिसंवाद में बतौर श्रोता, बतौर हिस्सेदार यहाँ बैठे हैं, ये बताने की जरूरत नहीं कि रंगमंच कलाओं का समुच्चय है, संगम है और तमाम कलाएँ रंगमंच से अपना रिश्ता बनाते हुए एक नई अभिव्यक्ति, एक नई आवाज तैयार करती हैं और यही उनकी लोकतांत्रिक शक्ति है और इसी लोकतांत्रिक शक्ति की वजह से रंगमंच, कारंत जी के शब्दों में कहें तो भले ही कवि सो जाता है लेकिन मरता कभी नहीं है। और चौबे जी ने कल कहा कि हमेशा ही रंगमंच की जरूरत समाज को बनी रहेगी लेकिन रंगमंच की अपनी स्वायत जो जगह है, वहाँ हमेशा ही नये प्रयोगों की संभावना बनी रहती है और अगर हम रंगमंच की शुरुआत की यात्रा से आज की यात्रा तक देखें तो कई सारी तब्दीलियाँ, कई सारे प्रयोग और कई संभावनाएँ इसके साथ जुड़ती रही हैं। रंगमंच अपनी यात्रा में हमेशा एक चिरनूतन शक्ति अख्तियार करते हुए हम सबको संबोधित करता है। कहानी के रंगमंच की जब हम बात करते हैं तो हमें सबसे पहले आधुनिक रंगमंच से जुड़कर देखें तो देवेन्द्रराज अंकुर नजर आते हैं। 1975 में निर्मल वर्मा की कहानी के साथ उन्होंने रंगमंच पर प्रवेश किया और अंकुर जी ने मुझे व्यक्तिगत चर्चा में बताया कि जब आप निर्मल वर्मा की कहानी पर प्रयोग कर रहे थे तो खुद निर्मल जी उनके साथ कई अभ्यासों में साथ थे और दिल्ली में जब इसका मंचन हुआ तो एक नया आसमान ही जैसे कहानी के रंगमंच का इस क्षितिज पर उतर पड़ा। 1975 से लेकर अगर हम आज तक 2015 के इस पूरे अंतराल को देखें तो ना जाने कितने रंगकर्मी हैं, जिन्होंने कहानी के रंगमंच को बहुत गहराई से देखने-बूझने का जतन किया है और निश्चित रूप से हम इसके लिए श्री देवेन्द्रराज अंकुर को साधुवाद दे सकते हैं। अंकुर जी ने पाँच सौ कहानियों का मंचन किया है। बीस उपन्यास भी उनके दायरे में आये हैं और दर्जनों नाटकों का तो उन्होंने निर्देशन किया ही है। लेकिन कहानियों के रंगमंच को लेकर जिस गंभीरता के साथ वो उतरे हैं, नई

पीढ़ी के रंगकर्मियों ने कहानियों के रंगमंच के रसायन को अंकुर जी के साथ गहराई के साथ देखा, आत्मसात किया और हमें इस बात की खुशी है कि जब संतोष चौबे की कहानियों के संदर्भ में बातचीत करने के लिए हम यहाँ उपस्थित हैं तो अंकुर जी हमारे साथ हैं। गरीब नवाज, कल शाम को आपने देखा एक कहानी को किस तरह रंगमंच के साथ ट्रीट किया जाता है, कैसा बर्ताव किया जा सकता है। कहानीपन को बचाये रखते हुए भी उसमें हम नाटकीय रंजकता का आस्वाद भर सकें। ये दोनों ही समानताएँ किस खूबसूरती के साथ अंकुर जी ने तय की और हम सब पूरे समय लगभग एक घंटे के इस रंगमंच की प्रस्तुति को सम्मोहित रूप से देखते रहें। बाद तक भी मंचन के बाद भी दर्शक अपनी बहुत सारी प्रतिक्रियाएँ अंकुर जी के साथ साझा कर रहे थे। मैं अब अधिक परिचय में ना जाते बहुत ही आदर के साथ आमंत्रित करता हूँ, वे आज अपना बीज वक्तव्य दें इस विषय पर। और अंकुर जी के वक्तव्य के बाद अगर आप लोगों के मन में किसी भी तरह के प्रश्न भी उठते हैं, खासकर मैं अपनी नई पीढ़ी के रंगकर्मियों से अपेक्षा करूँगा कि वे प्रश्न जरूर करें। इस बीच में आलोक चटर्जी हमारे बीच आ चुके हैं, मैं मोहन सगोरिया से निवेदन करता हूँ कि आलोक भाई का फूलों से स्वागत करें। अंकुर जी कृपया मंच पर पधारें।

देवेन्द्रराज अंकुर

नन्दकिशोर आचार्य जी, संतोष चौबे जी, अजय मलकानी और सभागार में बैठे मेरे बहुत से मित्र, साहित्यकार। सबसे पहले तो मैं इस बात की बहुत खुशी महसूस कर रहा हूँ कि भोपाल हिन्दुस्तान का ऐसा शहर है, जहाँ मुझे कहानियों से संबंधित काम ज्यादा से ज्यादा लेकर आने का मौका मिला। तो ये भोपाल के लोगों के साथ ऐसा रिश्ता बन गया है। दूसरा चूँकि विषय चौबे जी की कहानियों में कौन से नाट्य-तत्त्व मिलते हैं और उनका हम किस तरह से उनके साथ-साथ क्या सलूक करते हैं यह है, तो मैं उस पर केंद्रित रहूँगा- संक्षेप में एक बीज वक्तव्य के रूप में।

ऐसा नहीं कि कहानियाँ 1975 के पहले रंगमंच पर नहीं आ रही थीं।

वो एक नाट्य रूपांतर के रूप में आ रही थीं। जहाँ तक मैंने देखने की कोशिश की है कि कहानी को लेकर तीन तरह की कोशिशें रंगमंच में होती रही हैं। पहली कोशिश अगर एक कहानी हमें बहुत अच्छी लगती है तो हम उसका नाट्य रूपांतरण करते हैं और ऐसी हिंदी की कोई कहानी नहीं है जो नाट्य रूपांतरण होने से बच गई हो। 'उसने कहा था' से लेकर 'कफन' तक और एक लंबी कतार हम कहानियों की गिन सकते हैं। ये पहला रूपांतरण है, लेकिन ये कहानी के बहाने एक नई रचना सामने लाने की कोशिश है। एक नई विधा में हम उसको ट्रांसफार्म कर रहे हैं। जाहिर है इसमें कहानी के विवरणात्मक अंशों को रूपांतरकार या तो संवादों के माध्यम से या दृश्यों के माध्यम से, सूत्रधार जैसी तकनीक के माध्यम से तो उन सारी चीजों को जोड़ने की कोशिश करता है। तो ये पहला रूप जो पिछले सौ सालों से हमारे कुछ समकालीन रंगकर्मियों ने जिसमें मायाराम का नाम मैं ले सकता हूँ, दिनेश खन्ना का नाम ले सकता हूँ, वो कहानी को चुनते हैं, लेकिन कहानी महज एक आइडिया की तरह से उनके सामने रहती है, वो कहानी से एक शब्द नहीं उठाते और कहानी के समांतर अपना एक स्वतंत्र आलेख रचने के बाद उसकी प्रस्तुति करते हैं। जैसे कि एक बहुत मशहूर कहानी 'खोल दो', उस पर मायाराम ने अपनी शैली में, क्योंकि वे डांसर भी हैं, फिजिकल एक्टिंग को लेकर उनका बहुत काम है, उन्होंने अकेले सोलो में उसको किया और कहानी का कोई शब्द उसमें इस्तेमाल नहीं किया। अपनी भाव-भंगिमाओं से अपने मूवमेंट से अपनी गतियों से उस लड़की की पूरी जर्नी को उपास्थित करने की कोशिश की। उसी तरह से दिनेश खन्ना ने निर्मल जी की ही 'सुबह की सैर', 'जिंदगी यहाँ और वहाँ', इस तरह की कुछ कहानियों को लेकर अपना एक अलग आलेख रचा और उनको करने की कोशिश की। तीसरा रास्ता जो कि मेरे काम से जुड़ा हुआ है, मेरे सामने कहानी अपने मूल रूप में मौजूद रहेगी। हम लोगों ने आज तक उनकी फार्म से उसके दृश्य से या उसके शब्दों से कोई छेड़छाड़ करने की कोशिश नहीं की। उस रूप में मौजूद रहते हुए वो एक रंगमंचीय प्रस्तुति में ट्रांसफार्म हो जाये, ये हमारी कोशिश लगातार रहती है। चाहे फिर आम नेता हो या अभिनेता हो,

जैसे कल की कहानी का एक उदाहरण लें– इसमें कम से कम पन्द्रह अभिनेताओं की जरूरत है, जाहिर है तब हम इसके नाट्य–रूपांतरण की तरफ बढ़ने लगेंगे कि जो पात्र आ रहा है, उस पात्र के लिए एक अलग अभिनेता, उसकी वेशभूषा और उसके साथ उसकी और जो भी जरूरी चीजें चाहिए, वह लेकर हाजिर हो। चूँकि पाँच ही अभिनेता हमारे सामने थे, हमने कुछ अलग डिवाइज अपनाई। और अभिनेताओं का चुनाव कुछ व्यावहारिक कारणों से भी जुड़ा हुआ है। मैं व्यक्तिगत रूप से अगर एक रंगमंच कर रहा हूँ और व्यावसायिक रंगमंच कर रहा हूँ तो उसमें अभिनेता की स्थिति को देखना चाहूँगा। उस व्यावसायिक रंगमंच में जो सबसे ज्यादा उपेक्षित कड़ी है, वो अभिनेता है। उपेक्षित कड़ी यानी जो आर्थिक पक्ष रंगमंच का है, उसमें हम सबसे आखिर में अभिनेता को देखते हैं। हमारे संगीतकार, उनको सबसे पहले हमें देना है; हमारे सज्जाकार, उनको सबसे पहले हमें देना है; हमारे वेशभूषाकार, उनको सबसे पहले हमें देना है और जाहिर है कि निर्देशक ये सारी सुविधाएँ कहीं से जुटाकर लाता है, तो जाहिर है वो भी प्राथमिकता में अपने को देखता है। सबसे आखिर में आते हैं अभिनेता, वो भी अगर कुछ बच जायेगा तो। मैं इसके पक्ष में नहीं हूँ। हम लोगों ने जब से काम करना शुरू किया, एक ही सिद्धांत को फॉलो किया और मुझे संतोष है कि हम आज तक उसको फॉलो कर रहे हैं कि जो भी आर्थिक संसाधन हमारे पास आयेंगे, उसको हमें बराबर–बराबर सब लोगों में बाँटना है।

मुझे खुशी है और यहाँ वनमाली सृजनपीठ का बहुत बहुत आभार देना चाहिए कि आठ लोगों की एक टीम को प्रदर्शन के लिये बारह–बारह हजार रुपये हर व्यक्ति को मिले हैं। मैं समझता हूँ कि रंगमंच में हम लोग अगर इस तरह की संभावनाएँ पैदा कर सकते हैं तो फिर काहे के लिए मंच सज्जा? अगर उसके बिना चालीस साल में किसी दर्शक ने ये सवाल नहीं किया कि अगर इसमें ये हो जाता, तो फिर क्यों हम उसे कहानी के बीच में लायें? क्योंकि कहानी के एक–एक शब्द को सुन भी रहे हैं। वो देख भी रहे हैं और अभिनेता लोग अपनी क्षमता से, जितना भी उनका काम है, वह कर रहे हैं और वह सबको नजर भी आ रहा है। संगीत भी

मैं बहुत कम इस्तेमाल करता हूँ, लेकिन कभी-कभी अभिनेताओं की डिमांड रहती है कि कुछ तो रहे। अब आप तो ये भी काट देंगे, वो भी काट देंगे। कॉस्ट्यूम भी न्यूट्रल हो गया तो संगीत आ जाता है। तो ये कुछ चीजें हैं। ये तीन रूप हैं हमारे काम में। कहानी मूल रहेगी, इसीलिये इसका नाम 1975 में 'कहानी का रंगमंच' दिया। अक्सर लोग पूछते हैं कि कहानियाँ ही क्यों, तो ये बहुत आसान है कि मैं साहित्य का विद्यार्थी था, हिंदी साहित्य का और हिंदी साहित्य में तो बाद में आये बहुत छोटी उम्र से हिंदी साहित्य को पढ़ने का शौक था, सातवीं-आठवीं क्लास से। मुझे नहीं लगता कि कोई ऐसे उपन्यास बचे होंगे, कोई कहानियाँ बची होंगी जो हम लोगों ने पढ़ न ली हों। घर में ऐसा माहौल था, किताबों की कोई मुश्किल नहीं होती थी। खरीदकर या पुस्तकालय से किताबें आती ही रहती थीं। मेरे बड़े भाई दिल्ली विश्वविद्यालयय के कॉलेज में पढ़ाते थे तो ढेर सारी किताबें आती रहती थीं। कहीं न कहीं वो सारा पढ़ा हुआ मौजूद था। फिर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय चले गये 1969 से लेकर 1972 तक। बाहर आ गये तब ना फिल्म है, ना दूरदर्शन है। प्रश्न है कि अब क्या करना है? तो तीन कसमें मैंने उस दिन खाईं, रेणु जी की कहानी की तरह से, कि फ्रीलांसिंग करना है, दूसरा फ्रीलांसिंग में किसी के पास जाना नहीं है कोई सरकारी सहायता नहीं लेनी है, तीसरी अपनी इच्छा का काम करना है। क्योंकि डायरेक्शन में स्पेशलाइज किया तो दो ही काम करेंगे या तो प्राध्यापक बनेंगे या निर्देशक के रूप में अपना नाम आगे बढ़ायेंगे। आपके साथ शेयर करते हुए मुझे फिर खुशी हो रही है कि तीनों ही कसमें बरकरार रहीं। बाद में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय गया भी तो उनके आमंत्रण पर गया। तब तक सोलह साल मैं फ्रीलांसिंग करता रहा और विवाह हो गया था, बच्ची आ गई थी तो लगा कि अपने मन का काम हो रहा है और खुद बुलावा आ रहा है तो ज्वाइन कर लीजिये। लेकिन दूसरे इस पर हमें आज भी दुविधा नहीं है, क्यों मेरा मानना है कि जब रंगमंच में ये ग्रांट्स और ये इंडिविजुअल ग्रांट, रेपर्टरी ग्रांट आई है, हमारी सारी एनर्जी इसी में लगी रहती है। वो कब आयेगा, कब उसके पेपर्स आयेंगे, इसी में दिल्ली की दौड़ लगी रहती है। मुझे लगता है कि हम भूल गये हैं कि

जब ये कुछ नहीं था, शायद रंगमंच में बहुत ज्यादा अच्छा काम हो रहा था। हम खुद लगे रहते थे विज्ञापन बटोरने में, कहीं से पैसा इकट्ठा करके लाते थे। तो वो सुख या वो थ्रिल अब मुझे लगता नहीं कि शायद बचा है। बहरहाल मेरी उसमें कोई असहमति नहीं है, वो लोग उस रास्ते पर जा रहे हैं, हम लोग नहीं गये तो हमें इसका कोई गिला भी नहीं है क्योंकि हम लोग अपने हिसाब से काम कर रहे हैं।

अब दूसरा सवाल आता है, नाटकीय तत्त्वों का। ज्यादातर लोगों ने सवाल उठाया कि पैसे का अभाव है। तो ऐसा कोई भ्रम नहीं है। पैसे के अभाव की वजह ये रास्ता हम लोगों ने नहीं अपनाया। जैसा कि मैंने कहा कि हम लोगों ने नाटक जैसी विधा को कहानी के साथ रखकर देखा। तब उस विधा का अपना नाटकीय स्वरूप, रंगमंचीय स्वरूप मंच पर क्या बनने वाला है, ये सवाल सामने आया। मैं समझता हूँ कि उसने हमको ये रास्ता दिखलाया। हमारा इतिहास इसका गवाह है बहुत से थियेटर में मंच के ऊपर कुछ होता था। 3000 साल पुरानी नाटकीय परंपरा है, चाहे वो यूनानी रंगमंच हो चाहे हमारे यहाँ का भारतीय शास्त्रीय रंगमंच हो या लोकरंग मंच हो, कहीं रंगमंच पर कुछ नहीं था खालिस अभिनेता उसकी गतियाँ, उसके संवाद, उसका संगीत। ठीक है वो लोग, मतलब गायक लोग भी उतने ही अच्छे होते थे। अगर वो लोग उतने सक्षम हो सकते थे तो हम लोग जो राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से अपने आपको प्रशिक्षित कहते थे, और अगर रंगमंच को ही हमने अपना जरिया बनाया हुआ है आगे बढ़ने का, तो फिर हम इन चीजों के ऊपर क्यों निर्भर रहें? धीरे-धीरे, कल जो आपने अभिनेता देखे, ऐसे हम सब लोग मिलकर के पिछले पचीस-तीस साल से लगातार एक साथ काम कर रहे है। इनके भी सवाल होते थे कि सेट क्यों नहीं और मेकअप क्यों नहीं और संगीत क्यों नहीं लेकिन मैं समझता कि उन लोगों को भी अब उतना महसूस नहीं होता कि ये चाहिए या वो चाहिए। क्योंकि सीधे-सीधे गणित ये कि कहानी खुद अपनी बात कहेगी। कहानी, हो सकता है कि चौबे जी खुद उस कहानी का पाठ करते और जैसा मैंने सुना कि उन्होंने यहाँ जब पाठ किया था तो उसका ऐसा ही रिस्पांस हुआ था, वो एक रास्ता था, चौबे जी ना होते तो

एक अभिनेता उसका पाठ करता या तीसरा रास्ता जो हम लोगों का है कि हमारे पास पाँच नैरेटर भी है, कैरेक्टर भी है और एक्टर भी है और जितना भी कहानी के अंदर घटनाक्रम हो रहा है, उसके वो पार्टिसिपेंट है, कहीं अलग खड़े होकर देख रहे हैं। इस सारी प्रक्रिया के अंदर से हमारा एक रूप उभरता जाता है। कल जो रूप आपने देखा, ये कोई पहले से तय किया हुआ रूप नहीं था कि ऐसा ही करना है, क्योंकि वो ही रूप है थियेटर करने का। एक निर्देशक वो है जो पहले से पेपर पर एक प्रोडक्शन को तैयार करके लाता है, लाइक ए फिल्म स्क्रिप्ट। हम उदाहरण दे सकते हैं जैसे अलकाजी साहब की कोई भी प्रस्तुति शुरू करने के पहले उनकी नोटबुक में तैयार होती थी। एक तरह का क्लासिकल स्टाइल है, कापी बुक स्टाइल आप कहें। दूसरा रास्ता इवाल्विंग स्टाइल है जिसमें हम पहले से कुछ तय करके नहीं चलते। हमने कहानियों को पढ़ लिया है, उस पर जो बात होनी थी बात हो गई, कौन कितना सारा बोलेगा– ये पढ़ते-पढ़ते तय कर लिया। उसके बाद सीधे मंच पर या रिहर्सल स्पेस जो भी है, उस पर उतरते हैं और ट्राय आउट करते-करते, रिजेक्ट करते हुए उनमें से चलते हुए नाटक बनाते हैं। ये सारा प्रोसेस अंत तक चलता रहता है और एक जो भी उसका रूप बनकर आता है, उसके बारे में हम एक अंतिम प्रस्तुति ड्राफ्ट तैयार कर लेते हैं।

अब समझिये कि हमारा जो मूल विषय है– संतोष चौबे की कहानियाँ, उनमें क्या नाटकीय संभावनाएँ हैं, मैं समझता हूँ कि बहुत पहले आज से दस साल पहले चौबे जी की कहानियों पर आधारित नाट्य-प्रस्तुति जो विभा मिश्र ने की थी और भारत रंग महोत्सव में उसको देखने का अवसर मिला और उसकी एक कहानी मुझे आज तक याद है और जब इस प्रस्तुति का निमंत्रण मिला कि उनकी कहानियों पर आप कोई प्रस्तुति तैयार करें तो मैं व्यक्तिगत रूप से जिस कहानी को करने में इंटरेस्टेड था 'उनके हिस्से का प्रेम', उसको विभा ने इतने नये ढंग से प्रस्तुत किया था! उसमें वीडियो का प्रयोग, कार्टून शैली का प्रयोग, जितना भी मुझे उसके बिंब अभी तक याद हैं, अगर चौबे जी की सारी कहानियाँ हम देखें, मैंने उनकी पन्द्रह कहानियाँ पढ़ी हैं, और यहाँ आने के बाद भी संग्रह मैंने मँगवाया

और उनमें सब कहानियों को पढ़ा, दो कहानियों को मैं नहीं पढ़ पाया– 'मगर शेक्सपियर को याद रखना' और दूसरी कहानी 'लेखक बनाने वाले' को मैंने इसलिए छोड़ दिया कि तीन साल पहले मैं एक थियेटर ग्रुप के साथ एक रंग शिविर कर रहा था कहानियों की प्रस्तुति पर, उसमें हम लोगों ने इसी कहानी का चुनाव किया था। मुझे खुशी है कि अंततः आज शाम को बंटी के निर्देशन में आप उसे देख लेंगे। उस कहानी का चुनाव क्यों किया कि उस शिविर में पचीस-तीस लोग हमारे साथ थे और वही लगभग प्रोसेस में कि अभिनेताओं के साथ कहानी पढ़ ली गयी और रोज उसका एक ड्राफ्ट तैयार करके लाते थे। शर्तें उनके सामने तीन थीं जो मैं आज तक भी अपने काम में रखता हूँ। एक अलग से कोई सूत्रधार अपने सामने नहीं लायेंगे जो कि एक नाटकीय युक्ति है कि एक प्रकाश के घेरे में

चौबे जी जैसे सौम्य व्यक्ति को देखकर लगता नहीं पर जैसी प्रेम कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं, मैं समझता हूँ कि तो बहुत ही एक ताजा अनुभव है। लेकिन उनमें सबसे ज्यादा जो प्लस पॉइंट है वो आज की कहानियों से अलग होना है। आज की कहानियों में बहुत दिखायी पड़ता है शिल्प या फार्म, वह इतना हावी रहता है जिसके चलते कहानीपन कहो या कि उसका कथारस, वह समाप्त हो जाता है। चौबे जी ने आखिर तक उसको बरकरार रखा है। चाहे वो 'विचित्र प्रेम कथा' हो, चाहे वो 'रेस्त्राँ में दोपहर' हो और बहुत आराम से मैं 'सूर्यास्त' को भी, बेशक वो प्रेम कहानी नहीं है, इस श्रेणी में रख सकता हूँ। लगता है कि कुछ नहीं हो रहा, कोई घटना ही घटित नहीं हो रही है। इसमें से ड्रामा कहाँ से पैदा होगा, लेकिन जैसे हम नाटक में क्लाइमेक्स की बात करते हैं, आखिर में एक ऐसा क्लाइमैक्स चौबे जी की कहानियों में भी आता है, वे उसको पलट देते हैं– पूरी की पूरी कहानी को, एक ऐसा मास्टरस्ट्रोक जैसा।

एक आदमी को खड़ा कर दिया शुरू से आखिर तक और उसको नैरेटिव पोर्शन दे दिया जो हम लोगों ने कभी नहीं किया। नंबर दो, खाली स्पेस पर काम करेंगे। मतलब खाली मंच। मतलब अगर एक डांसर एक खाली मंच पर पूरा संसार रच सकता है तो हम जो रंगमंच को एक संयुक्त कला, समन्वित कला मानकर चल रहे हैं तो तब हम और ज्यादा संभावनाएँ उसमें पैदा कर सकते हैं। और तीसरा, कहानी के फार्म में हम कोई चेंज नहीं करेंगे। जैसा कहानीकार ने हमको दिया है, हम उसको मेंटेन रखने की कोशिश करेंगे। मैं समझता हूँ कि कई दिनों तक हम लोग उस कहानी पर काम करते रहे पर किन्हीं कारणों से उसका मंचन नहीं हो पाया। वो दूसरी कहानी थी जिसको मुझे पढ़ने का मौका मिला और उसी दौर में उनकी सारी कहानियाँ पढ़ गया।

पर यहाँ आकर मैंने विषय देखा कि हमारी बातचीत में हमें उनकी कहानियों के रंग प्रयोग और उनमें जो नाट्य-तत्त्व हैं, उस पर केंद्रित रहना है। फिर मैंने दोबारा से मैंने ग्यारह कहानियाँ उनकी पढ़ीं। दो-तीन चीजें मुझे खूबसूरती के साथ और बहुत ही एक्साइटिंग लगीं। सबसे पहले तो चौबे जी जैसे सौम्य व्यक्ति को देखकर लगता नहीं पर जैसी प्रेम कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं, मैं समझता हूँ कि तो बहुत ही एक ताजा अनुभव है। लेकिन उनमें सबसे ज्यादा जो प्लस पॉइंट है वो आज की कहानियों से अलग होना है। आज की कहानियों में बहुत दिखायी पड़ता है शिल्प या फार्म, वह इतना हावी रहता है जिसके चलते कहानीपन कहो या कि उसका कथारस, वह समाप्त हो जाता है। चौबे जी ने आखिर तक उसको बरकरार रखा है। चाहे वो 'विचित्र प्रेम कथा' हो, चाहे वो 'रेस्त्राँ में दोपहर' हो और बहुत आराम से मैं 'सूर्यास्त' को भी, बेशक वो प्रेम कहानी नहीं है, इस श्रेणी में रख सकता हूँ। लगता है कि कुछ नहीं हो रहा, कोई घटना ही घटित नहीं हो रही है। इसमें से ड्रामा कहाँ से पैदा होगा, लेकिन जैसे हम नाटक में क्लाइमेक्स की बात करते हैं, आखिर में एक ऐसा क्लाइमैक्स चौबे जी की कहानियों में भी आता है, वे उसको पलट देते हैं– पूरी की पूरी कहानी को, एक ऐसा मास्टर स्ट्रोक जैसा। तो वो एक बहुत इंटरेस्टिंग चीज है। चाहे. वो कितनी ही परंपरागत हो लेकिन मैं

समझता हूँ कि ड्रामा के लिये वो एक सही टेकऑफ पाइंट है जिसको आप ले सकते हैं। जहाँ तक इस कहानी का सवाल है, मैंने अपने वक्तव्य में भी कहा, क्योंकि ये दो कहानियाँ उस संग्रह में शामिल नहीं थीं जो मुझे पढ़ने को मिला, हालाँकि शायद मैंने इनको भी पढ़ा हुआ था। तो इन दो कहानियों को अलग से, फिर से हम लोगों ने पढ़ा और उसमें से एक का चुनाव किया। इसमें कोई शक नहीं कि 'नौ बिन्दुओं का खेल' बहुत ही इंटरेस्टिंग कहानी है, बहुत ही जटिल कहानी है, लेकिन वह पूरी की पूरी नेरेटिव है। बहुत कम उसमें मौके आते हैं कि जहाँ कोई टकराव पैदा हो क्योंकि ड्रामा कहाँ से पैदा होगा जब तक टकराव न होगा। बाकी सारी कहानियों में ड्रामा है, इसी वजह से है कि अपोजिंग पाइंट ऑफ व्यूज आपको दिखाई देंगे, जो 'गरीब नवाज' कहानी में है कि एक विश्वमोहन का व्यू है दूसरा इधर वाला यानी गरीब नवाज चिकन शॉप वाले का। और जो चरित्र उसमें आ रहे हैं तो उनका भी एक टकराव है जो एक नाटक की रीढ़ की हड्डी है। ड्रामा वहाँ से पैदा होगा, लड़ाई-झगड़ा इन द सेंस मार-पिटाई नहीं, लेकिन एक बहस एक मुबाहिसा उसके अंश से निकलता हुआ और कहानी को लाता हुआ। ये जो तत्त्व है, मैं समझता हूँ कि जगह-जगह पर उतार-चढ़ाव, चौबे जी इसके लिए बहुत ज्यादा से ज्यादा अवसर प्रदान करते हैं। मुझे ये मानने में बहुत संकोच नहीं कि मुझे यहाँ आकर ही पता चला कि उन्होंने उपन्यास भी लिखे हैं। मेरी एक रुचि यह जानने में है कि जो व्यक्ति, जो कहानीकार छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से भी रोजमर्रा की जिंदगी खोलकर रख दे रहा है, उसके उपन्यास कैसे होंगे। मतलबे कि ड्रामा के लिए इससे अच्छा और क्या होगा? निश्चित ही कोई बड़ी धारणा होगी। रोजमर्रा की धारणाओं में मेरा मतलब किसी भी कहानी को रेफर करके कहूँ, जैसे सबकुछ वही है 'रेस्त्राँ में दोपहर' में पर एक आदमी दूसरे के चेहरे को पढ़कर, दूसरों की लिखावट को पढ़कर उनका पूरा का पूरा मतलब हिस्ट्री, पूरा एटिट्यूड, खोलकर रख रहा है और लोग फँसते चले जा रहे हैं उसमें। और आखिर में एक उससे भी बड़ा आदमी या औरत उसको भी उधेड़ कर रख देती है। मैं समझता हूँ कि इससे भी बड़ा ड्रामा और क्या चाहिए और हम लोग ऐसे लोगों से

बाकायदा रोज मिलते रहते हैं। तो ये कुछ चीजें थी और बाकी आप लोग देख चुके हैं। बहुत–सी कमियाँ रही होंगी जैसे कि अब कल शुरू हो रहा था, लाइट चली गई। मैं भी दर्शकों में बैठा हूँ, शुरू क्यों नहीं हो रहा क्योंकि दर्शकों में पेशंस नहीं, क्योंकि आपका तीसरा बेल बज गया, पता चला कि अँधेरा हो गया। सचमुच का अँधेरा हो गया मतलब जब आयेगी तक चलेगा। तो ये तो थी मानसिकता और देखा जाये तो ये रंगमंच जैसे माध्यम में ही संभव है कि ऐसी गड़बड़ हो सकती है। हालाँकि आप कह सकते हैं कि फिल्म में भी हो सकता है कि रील ही ना चले लेकिन वो तकनीक, मेरा मतलब उस तरह से है कि बिजली चली गई और जब आई, थोड़ा टाइम लगा, तो कोई बात नहीं। इस कहानी के बारे में लोगों ने पूछा कि चार कुर्सियों की परिकल्पना– तो जाहिर है एक उसका आफिस है जो बैकग्राउंड हम लोग चाहते थे, क्योंकि हर कहानी में चौबे जी खुद विद्यमान हैं, मतलब उनका आफिस उनका विश्वविद्यालय, तो आप सोचें कि मंच पर इतनी भव्यता कैसे क्रियेट होती तो हमने सोचा कि अच्छा है कि फंक्शनल रहो। वो कुर्सियाँ आफिस की हैं, कुछ दूसरी प्रापर्टीज भी बन जाती है और कुछ उनके साथ खेल भी हो सकता है। खिलंदड़ा अंदाज है चौबे जी की कहानियों में। तब तक मैंने फ्लैप नहीं पढ़ा था। वो तो यहाँ आकर पढ़ा तो वो हम लोगों की प्रस्तुति में अपने आप आ गया, बनता चला गया। मैं समझता हूँ कि चूँकि बीज वक्तव्य है अब अगर बीज ही पेड़ वक्तव्य बन जाये तो बड़ा मुश्किल होगा। मैं यहाँ विराम लेता हूँ।

विनय उपाध्याय

बहुत ही उन्नत बीज वक्तव्य आपने हम सबके सामने रखा। बहुत ही बुनियादी तजुर्बे अंकुर जी के कहानियों के मंचन के साथ जुड़े हैं। वे बहुत अच्छे शिक्षक भी हैं, उनका वक्तव्य इसी तरह से बहुत विस्तार लिये होता है, लेकिन उसमें बहुत सी काम की बातें होती हैं, और हम सब लोग यहाँ पर बैठकर उनके वक्तव्य का श्रवण करते हैं, सुनते हैं तो हमें लगता है कि एक गुरुत्व जो है, वो उनके संभाषण में नजर आता है। आदरणीय

अंकुर जी के इस वक्तव्य के बाद मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षित रंगकर्मी को आपके बीच पहुँचा रहा हूँ। 1986 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से स्नातक की उपाधि उन्होंने प्राप्त की और 50 से भी अधिक नाटकों का निर्देशन किया। देश-भर में घूमते रहते हैं और ये यायावरी उन्हें अनुभव से समृद्ध बनाती है। हमारे आमंत्रण पर ये यहाँ पधारें, मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ और आमंत्रित करता हूँ, वे आयें। मैं मलकानी जी से गुजारिश करता हूँ कि वे आयें और अपने अनुभव हम सबसे साझा करें।

अजय मलकानी

नमस्कार, मंच पर बैठे हुए हमारे गुरुजी आदरणीय देवेंद्रराज अंकुर जी, आचार्य नंदकिशोर जी, आदरणीय संतोष चौबे जी, प्रेक्षागार में बैठे आलोक जी, संजय मेहता जी और आप सब संस्कृतिकर्मी भाई बंधु। बीज वक्तव्य तो अंकुर सर ने आपको दे दिया, अब उसको पेड़ बनाना है। मित्रो, तीन तरह से कहानियों को लेकर रंगमंच पर कोशिश हुई जिस पर बड़े विस्तार से अंकुर जी ने चर्चा की। मैं यहाँ जो कुछ भी बोलना चाहूँगा मेरी अवधारणा वो इस तीसरे तरह से कहानियों के रंगमंच की है कि कहानी को उसके मूलस्वरूप के बगैर छेड़छाड़ किये रंगमंच पर प्रस्तुत करना, ये एक बड़ा चुनौती-भरा काम होता है। नाट्य रूपांतर कर देना या कहानी से एक आइडिया को लेके दूसरा पैरलल स्क्रिप्ट दिनेश खन्ना, मायाराम जैसा खड़ा कर देना, वो थोड़ा आसान होता है, वो समस्याओं से दूर भागने जैसा लगता है। कहानी को मूलरूप में उसके मूल स्वभाव में ही प्रस्तुत करने में सबसे बड़ी चुनौती अभिनेता के सामने आती है, निर्देशक के सामने आती है। जो मैंने कहानियाँ की अमरकांत जी की 'धनी व्यक्ति का बयान', 'फैसला' या मंटो की कहानी की, अब तक लगभग चालीस कहानी की हैं और जो मैंने महसूस किया वही मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। जो प्रोसेस की बात की अंकुर सर ने की, उसी बात को आगे बढ़ाते हुए एक तो कहानी में अभिनेता पहले खोजता है, पाता है, खो देता है, फिर नये सिरे खोजता है पाता है और खो देता है, और ये खोज की प्रक्रिया रिहर्सल के साथ प्रस्तुति तक चलती है और आगे भी जारी

रहती है। पहली प्रस्तुति हो गई, उसके बाद पाँचवीं, छठी, सातवीं प्रस्तुति तक वो प्रक्रिया– उसकी खोज की निरंतर जारी रहती है। क्योंकि जब विधा को आप एक विधा से दूसरी विधा में बदल रहे हैं, कहानी से आप रंगमंच की विधा में आते हैं तो जैसे ही माध्यम बदलता है, अर्थ का विस्तार होता जाता है। एक अभिनेता के साथ में, उसके काम में, निर्देशक के साथ बातचीत में उसी कहानी का पूरा का पूरा अर्थविस्तार मूलरूप में ही उसका विस्तार होता जाता है– ऐसा मैं महसूस करता हूँ। नरेशन के बारे में मेरा कहना है कि बहुत सारी कहानियाँ घटना-प्रधान होती हैं, बहुत सारी कहानियाँ विवरणात्मक होती हैं, बहुत सारी कहानियाँ यथार्थ परक, खुद के भोगे हुए यथार्थ की कहानियाँ हैं, जैसे लवलीन की कहानी 'सुरंग के पार' पढ़िये तो वो भोगे हुए यथार्थ की लगती है। तो ऐसी कहानियों में जहाँ नैरेशन बहुत ज्यादा है, उसकी ब्लेंडिंग हम कैसे करें रंगमंच पे! चरित्र को पकड़े हुए नैरेट करें कि अलग से सूत्रधार बन के करें और उस विवरण को ट्रांसफार्म करें जिसे दर्शक देखे। फिल्म्स स्लाइड, रिकॉर्डेड वाइस के जरिये उसे प्रस्तुत करें। ये सारे विवरण आते हैं जब नरेशन में प्रस्तुत करना होता है। जैसे अंकुर जी ने बताया मैंने वो प्रस्तुति नहीं देखी थी, विभा वाली प्रस्तुति– 'उनके हिस्से का प्रेम' उसमें उन्होंने मल्टीमीडिया का इस्तेमाल शायद किया था। वर्तमान में अतीत के चरित्र में हम जायें जैसे कल वो विश्वमोहन जाता है, स्वप्न देखता है, स्वप्न की तरह वो फ्लैशबैक में आता है। लाइट के कलर्स भी चेंज होते हैं, वो भी ट्रांसफार्म करने का तरीका है। दो एक्टर्स या वो पाँचों कैरेक्टर जो कर रहे थे आपस में संवाद करके घटना को आगे बढ़ाये और आपस में ही शेयर करें और वो दर्शक तक पहुँचे या स्वयं उत्तम पुरुष में बातें करते-करते अन्य पुरुष में चले जायें। तो ये बहुत सारी चीजें हैं जो कि कहानी के स्वरूप को, उसके मूल स्वरूप को बनाये रखते हुए रंगमंच की विधा में बिल्कुल अच्छी तरीके से ब्लेंड होती हैं। एक बात और जो मैंने महसूस की है कि कहानी के रंगमंच में शब्दों से स्थिति पैदा की जाती है और फिर स्थिति को, उन स्थितियों को, अभिनेता झेलता है। ऐसा मैं महसूस करता हूँ एक निर्देशक के नाते, जब कहानियाँ करता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि

अभिनेता शब्दों के माध्यम से स्थिति को पैदा करता है और उन स्थितियों को अभिनेता अपने अभिनय में झेलता है, महसूस करता है। उन स्थितियों को, विवरणों में से, कहानी विवरण में से, बाहरी यथार्थ का कितना हिस्सा मंच पर दिखाना है, कितना जरूरी है, कितना हिस्सा महज शब्दों पर ध्यान केंद्रित करते हुए यथार्थ को पैदा करे, ये मूल कथ्य से ही पता चलता है। कहानी को बड़े ध्यान से पढ़ने से पता लगता है कि कहानी में कलात्मक बिंब भी हैं जिन्हें, जब हम कहानी के नाट्य तत्त्व की बात करते हैं, तो ऐसे कलात्मक बिंबों को अभिनेता भी पकड़ता है और निर्देशक भी पकड़ता है और उन कलात्मक बिंबों को इसलिए पकड़ना जरूरी है क्योंकि वो जीवन के तर्क और जीवन की शर्तों को ही बयाँ नहीं करते हैं बल्कि उसे बड़े विलक्षण ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। कल जो कहानी हमने देखी यहाँ पे, उस प्रस्तुति में एक बहुत जबरदस्त अनकही बात मैंने महसूस की, वो ये कि आज का युवा हो सकता है कि हमारी बात से सहमत न हो लेकिन जो मैंने महसूस किया कि आज का जो युवा है वो कहीं ना कहीं कैरियर के एक ऊँचे मानदंड पे पहुँचने के बाद बहुत इल्यूजन में जीता है और वो जो आभासी दुनिया है, उसकी वेब एडिक्शन जैसी दुनिया है, उसमें वो यथार्थ को भूल जाता है। ग्राउंड रियलिटी क्या है। और तब बाद में विश्वमोहन को ग्राउंड रियलिटी का अंदाजा लगता है उस यथार्थ को वो महसूस करता है। तो ये चौबे जी की इस कहानी में कहीं ना कहीं अनकहा है जिसे हम लोगों ने उस माध्यम से रंगमंच पर जब वो कहानी आई, दिमाग में वो चीजें आईं, कि वो अनकहा क्या है कि आज की युवा पीढ़ी भी दिग्भ्रमित है चाहे वो संघर्ष कर रही हो या एक मुकाम पर पहुँच गई हो, वो दिग्भ्रमित है, ग्राउंड रियलिटी को समझ नहीं रही है। तो बहुत कुछ अनकहे को भी कहानी में पकड़ना होता है और वही अनकहा इतना इंपोर्टेंट होता है जो अभिनेता को स्पेस देता है उसे रंगमंच पे ट्रांसफार्म करने में मदद करता है। और एक आखिरी बात जो मैं कहना चाहूँगा कि कहानी के रंगमंच को उसके मूल स्वरूप में करते हुए मुझे लगता है कि सबसे ज्यादा जरूरी है एक अभिनेता और निर्देशक दोनों के लिए, कि तब हम उस कहानी के मूल स्वरूप को रखते हुए भी

लार्जर दैन स्क्रिप्टिंग, स्क्रिप्ट जो लिखी गई है कहानी की, उस कहानी का विस्तार बहुत अच्छे से कर सकते हैं। इन्हीं शब्दों के साथ ज्यादा नहीं बोलूँगा। और भी लोग हैं हमारे साथ। ये कुछ महसूस किया कल रात में भी और चौबे जी की उस कहानी का मंचन देखते हुए और जो कुछ पिछले 38 से 40 वर्षों में महसूस किया, आपसे शेयर किया है। इन्हीं शब्दों के साथ धन्यवाद।

विनय उपाध्याय

मलकानी जी ने बहुत अच्छे से कुछ बातें कीं और कहानी के ट्रीटमेंट को लेकर जिस तरह के सुझाव दिये, अनुभव साझा किये बहुत-बहुत धन्यवाद। अब मैं हस्तक्षेप के लिए हमारे शहर के अनुभवी रंगकर्मियों को तथा नवांकुर रंगकर्मियों को बुलाने का सिलसिला शुरू करूँ। मलकानी जी ने अपने वक्तव्य के जरिये ये भी संकेत आपको दिया कि कितना सारगर्भित और सुगठित कहा जा सकता है, हमारे वक्ता इस बात का ख्याल रखेंगे। नन्दकिशोर जी हमारे साथ हैं, संतोष चौबे जी का वक्तव्य भी हम सुनेंगे और हम ये कोशिश करेंगे कि लगभग डेढ़ बजे के आसपास हमारा परिसंवाद समाप्त हो जाये। मैं इसी क्रम में सबसे पहले आमंत्रित करना चाहूँगा श्री राजेश जोशी को। राजेश जोशी जी ने चौबे जी के संकलन पर भी लिखा है और एक शब्द एक वाक्य सबसे पहले इस कहानी के रंगमंच के साथ जोडकर देखें जो मुझे बहुत अपील किया। संतोष चौबे की कहानियों में एक क्रीड़ाभाव देखने को मिलता है ये क्रीड़ाभाव जिसकी कहानियों में होता है, उसे प्ले किया जा सकता है। मैं राजेश जी को आमंत्रित करूँ, आप सब जानते हैं कि कवि के रूप में विख्यात तो हैं पर एक बराबर का रिश्ता मंच के साथ भी जुड़ा है। मैं बहुत आदर के साथ राजेश जोशी जी को मंच पर आमंत्रित करता हूँ।

राजेश जोशी

अंकुर जी, मलकानी जी, प्रिय संतोष और मित्रो, वैसे तो बहुत सारी महत्त्वपूर्ण बातें कही जा चुकी हैं। मुझे लगता है कि नाटकीयता और नाट्य

तत्त्व पर जब भी बात होती है तो ये माना जाता है कि आधुनिकता की जो शुरुआत है, वो वस्तुतः नाटकीयता से ही हुई है। जब सांगीतिकता को कविता में प्रतिस्थापित करती है, उसका स्थानापन्न बनती है, तब नाटकीयता का रोल शुरू होता है। आधुनिकता में वो वस्तुतः संगीत का स्थानापन्न बनती है। इसीलिए नई कविता में नाटकीयता की बहुत बात हई। तो कविता की नाटकीयता पर काफी चर्चा हुई है। लेकिन हिन्दी का गद्यकाल ही आधुनिकता के साथ शुरू होता है। इसलिए उसका संबंध नाटकीयता से दूसरी तरह का बनता है और इस पर कम ही चर्चा होती है। हम सभी लोगों ने पढ़ा है कि अंकुर जी ने जिस तरह कहानी के रंगमंच की अवधारणा को हिन्दी में रखा या हिन्दी रंगमंच में रखा तो उससे एक बात शुरू हुई कि कैसे एक आख्यान को बिना छेड़छाड़ किये, बिना उसमें कोई रद्दोबदल किये नाटक बनाया जा सकता है। क्योंकि ये बहुत हुआ और मैंने खुद भी कई कहानियों का नाट्य रूपांतर बहुत पहले किया था तो मुझे भी इस समस्या से जूझना पड़ा था। पर ये एक नई अवधारणा थी कि कहानी को बिना उसका नाटकीयकरण किये या नाट्य रूपांतर के, ऐज-इट-इज भी किया जा सकता है और इसी अवधारणा को आज अंकुर जी ने रखा कि किस तरह से बिना ज्यादा प्रॉपर्टी, एम्प्टी स्पेस में भी नाटक किये जा सकते हैं। संतोष चौबे की कहानियों का जहाँ तक प्रश्न है, मुझे हमेशा लगता रहा है, और हालाँकि आज अंकुर जी ने एक बात कही थी एक कहानी के संदर्भ में खासतौर से संतोष की कहानी के संदर्भ में कि उसमें नरेशन ज्यादा है। हालाँकि अंकुर जी ने पहला प्रदर्शन किया वो निर्मल वर्मा की कहानियों से किया था। निर्मल की कहानियाँ वस्तुतः नरेशन की कहानियाँ ज्यादा हैं। उनमें कैसे वो हो सकता है। नरेशन कैसे कनवर्ट होता है, इस पर अंकुर जी बाद में चाहें तो हस्तक्षेप के बाद भी बात कर सकते हैं। संतोष की कहानियों में जो केन्द्रीय तत्त्व है, वह दृश्य है। कहानी पढ़ते-पढ़ते भी आप महसूस कर सकते हैं कि बहुत सारे विजुअॅल्स एक के बाद एक आपके दिमाग में बनते हैं। आपकी आँखों के सामने बनते हैं, इसलिए तमाम जो महत्त्वपूर्ण कहानियाँ संतोष की हैं, उसमें बहुत ज्यादा विजुअॅल्स का या बहुत ज्यादा दृश्यों का इस्तेमाल है और वहाँ जो

संतोष की कहानियों में जो केन्द्रीय तत्त्व है, वह दृश्य है। कहानी पढ़ते-पढ़ते भी आप महसूस कर सकते हैं कि बहुत सारे विजुअॅल्स एक के बाद एक आपके दिमाग में बनते हैं। आपकी आँखों के सामने बनते हैं, इसलिए तमाम जो महत्त्वपूर्ण कहानियाँ संतोष की हैं, उसमें बहुत ज्यादा विजुअॅल्स का या बहुत ज्यादा दृश्यों का इस्तेमाल है और वहाँ जो स्थितियां एक के बाद एक बदलती हैं, उसमें स्वगत भी हैं और संवाद भी सन्निहित है और उसमें नरेशन कम ही हैं जो बिना सूत्रधार के हो सकता है।

स्थितियां एक के बाद एक बदलती हैं, उसमें स्वगत भी हैं और संवाद भी सन्निहित है और उसमें नरेशन कम ही हैं जो बिना सूत्रधार के हो सकता है। जैसे कल कोई पात्र ही नरेशन कर रहा था तो बिना सूत्रधार के भी नरेशन हो सकता है। सूत्रधार कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है। तो ये कल की कहानी देखते हुए लगा क्योंकि ये कहा जाता है कि 'नाट्यशास्त्र' से पहले के जो नाटक हैं, उनमें सूत्रधार नहीं है। यानी भास के नाटकों में सूत्रधार नहीं है तो ऐसा दोबारा हो सकता है कि बिना सूत्रधार के भी हम कल्पना कर सकते हैं कि ऐसी कहानी संभव है या ऐसा नाटक संभव है, जिसमें सूत्रधार की भूमिका अलग से ना हो। बहुत सारे प्रयोग नाटक में होते रहे हैं और हिन्दी के थियेटर इस मायने में कुछ हद तक सौभाग्यशाली हैं कि उन पर परंपराओं का वैसा दबाव नहीं है जैसा बांग्ला या मराठी थियेटर पर है, इसलिए उसमें प्रयोग करने की गुंजाइशें बहुत ज्यादा हैं और इसलिए उसमें बहुत तरह के प्रयोग हो सकें या हो सकने की संभावना है। कल की कहानी देखते हुए मुझे इसीलिए बहुत अच्छा लगा कि कैसे-कैसे आप कहानी को नाटक में कह सकते हैं, क्योंकि खासतौर पर जब बहुत बड़ी बहस हिन्दी में होती रही है कि स्क्रिप्ट्स नहीं है, थियेटर की स्क्रिप्ट नहीं है या मंच के उपयुक्त नहीं है

तो कैसे कहानी को किया जा सकता है। 'दीवार में एक खिड़की रहती है' को किया था। वे कहानियाँ होती हैं तो कुछ उपन्यास हुए हैं और उपन्यास से ज्यादा मुझे हमेशा लगता है जिसमें नाटक की पॉसिबिलीटीज ज्यादा होती हैं, इसलिए कहानियाँ हुई भी ज्यादा हैं। रेणु की कहानियाँ बहुत ज्यादा खेली गईं क्योंकि उनमें नाटकीय तत्त्व बहुत ज्यादा था। संतोष की कहानियों का ये एक पक्ष बहुत अच्छा है कि उनमें दृश्यात्मकता और नाटकीयता है, जैसे दो-तीन कहानियों का जिक्र किया। 'लेखक बनाने वाले' या 'रेस्त्राँ में दोपहर' या जो कल की कहानी की गई (गरीब नवाज) या 'नौ बिंदुओं का खेल', इस तरह की बहुत सारी कहानियाँ याद की जा सकती हैं जिसमें दृश्य को अलग से क्रियेट नहीं करना है, इसके लिए अलग से कोई सामग्री नहीं जुटाना था। ये संतोष की शायद खूबी है। उसमें स्थितियाँ अपने आप एक खास तरह की नाटकीयता को जन्म देती हैं जो नाटकीयता नाटक के लिए जरूरी है। जैसे कल मैंने मार्क किया कि बहुत जगह जो पढ़ते हुए नहीं महसूस किया, देखते हुए महसूस किया कि बहुत जगह 'लाफ्टर्स' आये। ऐसे कई वाक्य थे जिन पर आसानी से लाफ्टर आए। तो ये मेरे लिए आश्चर्यजनक था कि कैसे नाटकीय सिचुएशन थियेटर में पैदा होती है। तो वो एक हिडन नाटकीयता है जो उसमें कहीं ना कहीं विद्यमान होती है। धन्यवाद!

विनय उपाध्याय

बहुत शुक्रिया राजेश जी। और अब हम इस बातचीत के सिलसिले को आगे बढ़ाने के लिए आमंत्रित करना चाहेंगे श्री संजय मेहता को। संजय मेहता चौबे जी की कहानियों से, कविताओं से, उपन्यास से और उनकी तमाम रचनाधर्मिता से गहरे बावस्ता हैं और हमेशा ही ऐसे विचार-प्रवण आयोजनों में हमारा हिस्सा बनते हैं।

संजय मेहता

आदरणीय आचार्य जी, अंकुर जी, मलकानी जी, संतोष चौबे जी। पाँच मिनट के हस्तक्षेप में भी कभी-कभी बड़ा समय लगता है। जैसा कि

अंकुर जी ने बीज वक्तव्य दिया, मलकानी जी ने उसे पौधा बनाया और राजेश भाई पेड़ बना कर गये हैं। तो मैं थोड़ा-सा पेड़ को देखना चाहता हूँ। हस्तक्षेप की जहाँ तक बात है, पहले जब विनय जी से बात हुई थी तो 'कहानी का रंगमंच' पर बोलना था। इसके बाद चौबे जी की कहानियों के संदर्भ में हो गया तो चौबे जी की कहानियों के बहाने बात करूँगा मैं। हस्तक्षेप पर मुझे एक कविता याद आ रही है, श्रीकांत वर्मा की– 'जब कोई नहीं करता हस्तक्षेप तो सड़क के बीच से गुजरता हुआ मुर्दा ये प्रश्न कर हस्तक्षेप करता है कि मनुष्य क्यों मरता है।' मुझे अपने गुरुदेव कारंत जी की एक बात याद आ रही है कि जब हम जयशंकर प्रसाद कर रहे थे, तो उन्होंने एक बात कही थी करते समय कि प्रसाद के नाटकों को करने के लिए प्रसाद के नाटकों के अनुकूल रंगमंच की जरूरत है। हमारे यहाँ इस तरह के नाटकों को करने के लिए रंगमंच वो ही रहा था तो ये बात क्यों कही उन्होंने। ये नाटकों के संदर्भ में कही। इसलिए मैं रेखांकित करना चाहूँगा कि ये सिर्फ नाटकों के संदर्भ में है। ये जो बहस हो रही है उसको थोड़ा-सा मैं बदलना चाहता हूँ। बात नाटकों के संदर्भ में कही गई कि प्रसाद के नाटकों के लिए प्रसाद नाटकों के अनुकूल रंगमंचों की आवश्यकता है, इसका मतलब जो रंगमंच उस वक्त था वो रंगमंच प्रसाद के नाटकों को करने के लिए काफी नहीं था। तो किस तरह का रंगमंच चाहिए था? तो उन्होंने कुछ दो-तीन चीजें गिनाई थीं कि जो विस्तार है प्रसाद के नाटकों में, जो फलक है, प्रसाद के नाटकों के जो गीत हैं, वो एक बहुत ही अलग तरह के हैं। हमारे यहाँ जो अभिनेता था उस वक्त या जिस तरह का संगीत हो रहा था, उसमें संभव नहीं था उन्हें करना। वहाँ अभिनेता को पूरा इम्प्रूव्ड होना पड़ेगा। उसको सोर्ड फाइटिंग भी आना चाहिए, उसको गाने का अभ्यास भी हो, बहुत कुछ चाहिए था, तब शायद प्रसाद के नाटकों को हम कर सकते हैं।

इस संदर्भ में मैं कहानी के रंगमंच को देखने की कोशिश कर रहा हूँ, मुझे तो रंगमंच शब्द कहानी के साथ थोड़ा अजीब लगता है, मगर हो सकता है शायद इसलिए लिया गया हो कहानी को करने के लिए किसी रंगमंच की खोज की जा रही थी, इसलिए वो शब्द वहाँ से उठाकर ले

लिया गया। कहानी में रंगमंच की तो मेरी ये जिज्ञासा थी कि ये खोज होगी। लेकिन अंकुर जी ने एक शुरुआत की, अंकुर जी उसके बीज हैं और थोड़ा बहुत पेड़ भी बना। पर मुझे लगता है कि उसके बाद कहानी को लेकर जो नजरिया बदलना था, उसमें विस्तार नहीं हुआ। उसमें विस्तार इसलिए नहीं हुआ कि हर बार हम जब बात करते हैं नाटकीय तत्त्वों की, ड्रैमेटिक एलीमेंट की, तो हमारी सारी दृष्टि कहानी में नाटक को ढूँढने में लगी रहती है। चूँकि हम रंगकर्मी हैं, मैं एक्टर हूँ या मैं निर्देशक हूँ, मेरी कोशिश रहती है कि नाटक कहाँ है कहानी में। तो उसमें दो चीजें हुईं कि उन कहानियों का चुनाव हुआ, जिनमें नाटक था। एक तो ये माने कि जिन कहानियों में नाटक था उन कहानियों का हमने चुनाव कर लिया, या ज्यादा नाटक या कम नाटक था या ये कोशिश की गई की कहाँ पर नाटकीय तत्त्व थोड़ा मिल रहा है कि थोड़ा ये काम चलाकर कर लेंगे। राजेश भाई ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही कि कहानी करते वक्त हम रंगमंच के तत्त्वों का कम से कम इस्तेमाल करते हैं। पर इस्तेमाल तो करते हैं। तो ये एक बचना हुआ कि कितना कम करेंगे तो कहानी हो जायेगी या फिर हम पूरा उसमें इस्तेमाल कर दें। मेरा ये प्रश्न है और जिज्ञासा भी है, अंकुर जी भी बैठे हुए हैं कि क्या एक दर्शक, जहाँ कहानी परफार्मेन्स चल रहा है, जब वहाँ घुसेगा और आकर देखेगा तो क्या कहेगा। उसके दिमाग में यही एक विजुअॅल होगा कि नाटक चल रहा है तो हम उस कहानी को कैसे अलग करेंगे। ये एक बड़ा प्रश्न है और इसमें से ही कई सवाल मेरे मन में आ रहे थे। जैसे पात्रों की भी बात है तो पात्र तो नाटक का एक तत्त्व था ना। कहानी में तो पात्र होते हैं पर कई बार पात्र नरेटर भी है, कभी कुछ है, कभी स्थिति को वर्णन कर रहा है, कभी कुछ कर रहा है। तो कहानी का मूल स्वरूप पात्रों के ऊपर नहीं है। नाटक में है, नाटक में कैरेक्टर चाहिए। तो कहीं ना कहीं एक तत्त्व तो आप उसका इस्तेमाल कर ही रहे हैं ना। सिर्फ उससे बचने की कोशिश कर रहे हैं। ये सिर्फ बचने की कोशिश से कहानी का रंगमंच हो जायेगा या उसकी अधिकता से या बहुत समझ-बूझ कर ऐसा कर दें, या मंच विधान ना करें तो कहानी का रंगमंच हो जाएगा। ये एक बड़ा विषय है सोचने के लिए।

कई बार कहानी को हमने रंगमंच के अनुकूल बनाया है। जब हम कहानी को ऐसा प्रस्तुत करते हैं तो हमारे लिए सुविधाजनक स्थिति हो जाती है कि कहानी हम प्रस्तुत कर सकें। तो हमने कोशिश की है ये। पर हमने कहानी के अन्दर से उसके रंगमंच को ढूँढ़ने की कोशिश की है क्या? उसके लिए हमको फिर से विचार करना पड़ेगा। हमको किस तरह से अभिनेता की जरूरत पड़ेगी। और किस तरह की चीजों की जरूरत पड़ेगी। तब शायद ऐसी बहुत सारी कहानियाँ होंगी मुझे लगता है जिनको अब तक किया नहीं गया है। तब हम उन कहानियों के बारे में सोच पायेंगे। वो जो मैंने बात कही थी ये एक तो कहानी को रंगमंच के अनुकूल बनाया गया या कहानी जो नाटक के करीब रही, उसे किया गया। इसमें मुझे लगता है कि ये सब बहुत हुआ, अब इस पर बात करने की जरूरत है। क्योंकि कहानी को अब हम करने लग गये हैं और बहुत कर रहे हैं, काफी होने लगी हैं। अब उस पर लगातार ये चर्चा की भी जरूरत है कि ये कितना सही है या नहीं है। कि सिर्फ हम करते ही जा रहे हैं और उस पर हमने ये बना लिया है कि इसका इतना इस्तेमाल कर लेंगे तो कहानी हो जायेगी। इतना इस्तेमाल करेंगे तो नाटक हो जायेगा। जैसे मैं कहना नहीं चाहता लेकिन मुझे लगता है कि एक कोशिश की थी मैंने ढूँढ़ने की कविता के रंगमंच को मैंने एक शब्द ढूँढ़ा था। मैंने कहा था, नहीं रंगमंच नहीं हो सकता, कविता की पाठ प्रस्तुति है वो। जैसे अंकुर जी ने भी एक बात कही कि संतोष चौबे स्वयं अपनी कहानी को पढ़ें या एक कैरेक्टर आकर संतोष चौबे की कहानी को पढ़े। हमको इन दोनों के बीच से एक डिवाइस तलाश करना पड़ेगा शायद, तो शायद कोई रास्ता निकलेगा। तो लेखक अपनी कहानी पढ़ रहा है और फिर जब एक्टर पढ़ रहा है तो वो उसको एक्ट कर रहा है। इसके बीच से एक रास्ता शायद निकल सकता है। तो ऐसे बहुत सारे सवाल जो मेरे जहन में थे वो मैंने यहाँ पर रख कर कोशिश की है एक तरह का हस्तक्षेप करने की और समझने की अंकुर जी से भी और आचार्य जी से भी। जब उनका अध्यक्षीय भाषण होगा तो शायद इसमें कहीं ना कहीं मुझे वो रास्ते दिखाई देंगे। धन्यवाद!

विनय उपाध्याय

उत्तर हमेशा मौजूद रहते हैं, प्रश्न को उसके पास जाने की जरूरत होती है। प्रश्न संजय मेहता ने किया और अंकुर जी और आचार्य जी बैठे हैं तो इन तमाम जिज्ञासाओं का और प्रश्नाकूलता का कोई समाधानपरक रास्ता हमें मिलेगा। मैं अब आमंत्रित करना चाहूँगा श्री अशोक बुलानी को। बुलानी जी ने रेस्त्राँ में दोपहर, जिसका जिक्र राजेश जोशी ने किया था, का नाट्य मंचन किया था। बुलानी जी संक्षेप में अपनी बात कहेंगे।

अशोक बुलानी

सभी को नमस्कार, वैसे ये हस्तक्षेप शब्द का क्या मीनिंग है, मुझे समझ में नहीं आया। मैं हस्तक्षेप नहीं कर रहा, बात रखूँगा अपनी। आदरणीय मंच और हमारे बर्थडे बॉय संतोष चौबे साब, सबसे पहले मैं ये कहूँगा कि जो कल की कहानी थी, गरीब नवाज, वो जब साल डेढ़ साल पहले संतोष साहब ने पढ़ी थी। तो मैंने सोचा था कि मैं इसको करूँगा। थोड़ा डरा हुआ भी था कि इसमें थोड़ी संवेदनशीलता है, और जब डेढ दो महीने पहले वो कहानी पक गई मेरे दिमाग में कि हाँ अब इसको ऐसे किया जा सकता है तो मैंने संतोष जी को फोन किया कि वो कहानी मुझे दे दीजिये, मैं करना चाहता हूँ तो ये बोले यार कि लेट चल रही है गाड़ी आपकी, वो कहानी तो मैं अंकुर जी को दे चुका हूँ। तो कल मैंने उस नजरिये से उस कहानी को देखा और अंकुर जी को मैंने इस प्रशंसा से देखा कि वो कहानियों के रंगमंच के लिए काफी विख्यात हैं, काफी सारी कहानियाँ उन्होंने मंचित की हैं। तो मेरी अपेक्षा सही थी और कल की कहानी अद्भुत थी, अंकुर जी की प्रस्तुति बहुत अद्भुत थी। कल के अभिनेता बहुत अच्छे थे, संवाद अदायगी और संगीत का भी जो इस्तेमाल हुआ, बहुत अच्छे तरीके से कहानी के संप्रेषण में मदद करता था। तो मैं चाहता हैं कि कल की बहुत अच्छी प्रस्तुति के लिए आप तालियाँ बजा दें। सेल्यूट देवेन्द्रराज अंकुर साहब को।

अब ये संयोग है कि दस-बारह कहानियाँ मैंने भी मंचित की हैं। उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कहानी है संतोष चौबे साहब की 'रेस्त्राँ में दोपहर'। इसके

अलावा प्रेमचंद जी की दो कहानियाँ मैंने की हैं– 'सज्जनता का दंड' और 'नमक का दारोगा'। फिर कामतानाथ की कहानी 'सारी रात' को हमने शीर्षक दिया था– 'शादी की दसवीं वर्षगाँठ'। हमारे कृष्ण लखानी साहब हैं सिंधी साहित्यकार, उनकी कहानियों का मंचन किया मैंने। अभी लेटेस्ट एक की है मैंने विजय सक्सेना विपिन की 'लिव-इन रिलेशनशिप'। तो मुझे लगता है कि अभी जो बातचीत हो रही है, कहानियों पर आधारित यदि कोई भी नाटक है तो उसके मंचन में क्या कोई बंधन या रूपरेखा या नियमावली लागू होती है? पर्सनली मेरा पचीस-तीस साल का सफर है रंगमंच का, मैं कर भी रहा हूँ, देख भी रहा हूँ कहानियाँ, तो मुझे लगता है कि कोई नियम लागू नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। जैसे हमने 'सारी रात' कहानी की कामतानाथ की। वो शादी की पहली रात को पति-पत्नी बातचीत कर रहे हैं। पति, पत्नी के अतीत में जाना चाह रहा है कि तुम्हारी जिंदगी में शादी से पहले कौन-कौन से लड़के थे। उसके उत्तर में लड़की जानना चाह रही है कि पति के जीवन में कौन-कौन सी लड़कियाँ आईं। वो तीन कहानियाँ सुनाता है कि उसके जीवन में कौन-कौन सी लड़कियाँ आईं और बड़ी शिद्दत से, बड़े प्रेम से और बड़ा भावुक होकर सुना रहा है। सब बड़ा भावनाशील हो रहा है ओर जस्टिफाई करता है उन तीनों रिश्तों को और जब लड़की से पूछता है कि तुम्हारी जिंदगी में कौन लड़का आया तो वो कहती है कि कोई नहीं आया, कोई नहीं आया, कोई नहीं आया। फिर कोई तो आया होगा, कोई तो आया होगा इस टाइप से। हाँ-हाँ एक लड़का पीछे-पीछे आता था, उसी पे नाराज हो गया वो। जिसमें लड़की का कोई योगदान नहीं है, एक लड़का पीछे-पीछे आया था, उसी पर नाराज है कि नहीं तुम्हारी जिंदगी गड़बड़ है। तो जब हमने उस कहानी को करने का सोचा तो हमें ऐसा नव विवाहित जोड़ा नहीं मिला हमारे ग्रुप में। अब हम क्या करें, तो हमने उसको शादी की दसवीं वर्षगाँठ कर दिया। कि शादी की दसवीं वर्षगाँठ पर पति-पत्नी आपस में बात करते हैं। फिर उसमें जयशंकर प्रसाद की कविताएँ भी इस्तेमाल की हमने– ले चल मुझे भुलावा देकर, क्योंकि बड़ा भावनाशील हो रहा है वो, पुरानी कहानियाँ सुना रहा है वो। और इसी संदर्भ में जब हमने 'नमक का

दारोगा' किया तो हमारा सूत्रधार घेरे में नहीं रहता, लाइट में वो घूम रहा है चारों तरफ। इनवॉल्व है। कैरेक्टर के बीच से निकल कर आता है। वो कह रहा है कि मुंशी प्रेमचंद आज जिंदा होते, कहानियाँ लिख रहे होते तो लिखते खनन माफिया का दारोगा या अवैध वस्तुओं का दारोगा और हमने उसमें जिसकी नमक की गाड़ियाँ पकड़ी जाती हैं, उस दारोगा के माध्यम से आज की कहानी आज का जो वातावरण है, उसे दर्शाया। जो नेता लोग हैं और उनके अपराधी माफिया लोग रहते हैं, जैसे धमकाते हैं किसी दारोगा को, वो संवाद हमने जोड़े थे। तो मैंने कोई नियम बाँधना उचित नहीं समझा। कहानी कैसे संप्रेषित हो सकती है, बहुत अच्छे तरीके से बस यही सोचा।

अब मैं आता हूँ 'रेस्त्राँ में दोपहर' के मंचन पर। यदि संतोष जी को याद हो तो साहित्य अकादेमी के किसी सेमिनार में कहानी का पाठ वो कर रहे थे और कहानी सुनते-सुनते बिम्ब बनते चले जाते हैं। बिम्ब बनते चले गये कि यार ओ हो हो हो! क्या बात है, क्या बात है! और कहानी खत्म होते ही सबसे पहले मैं दौड़कर संतोष जी के पास गया कि सर इस कहानी का मंचन मैं करना चाहता हूँ, आपकी अनुमति चाहिए। तो संतोष जी बड़े भावविभोर होकर बोले– अरे यार, करो बहुत अच्छी बात है! और उस कहानी में हमने संतोष जी की दो कविताएँ भी इस्तेमाल की थीं। एक दिन आदमी सूरज से अकड़ गया, 'सूरज और आदमी', और एक किया था– 'आना जब मेरे अच्छे दिन हों'। तो उस कहानी की जब हम तैयारी कर रहे थे तो मैंने संतोष जी से पूछा नहीं। कहानी के मंचन के बाद उसमें, यदि आप लोग गौर करें, मैं उसकी यदि फोटो कॉपी निकाल कर लाऊँ तो आप देखेंगे कि हमने सौ परसेंट कहानी ऐज-इट-इज इस्तेमाल की है लेकिन उसके अंदर हमने सूत्रधार रखा जो शहाणे साहब ने किया था, सूत्रधार की और मुख्य भूमिका भी अदा की थी उन्होंने। उसमें संतोष जी ने कहीं ना कहीं भोपाल शहर की खूबसूरती का वर्णन किया है। पहाड़ियों का, हरियाली का, तो उस हरियाली को और विस्तार दिया हमने। फिर उसमें एक शब्द है कि उस रेस्त्राँ में कहीं ना कहीं रंगमंच से जुड़े लोग एक्टर इकट्ठा होते थे, बहसें करते थे, रंगमंच की स्थिति को लेकर

कि रिहर्सल की जगह नहीं है, शो नहीं मिल रहे, टिकिट नहीं बिकते, ऑडियंस नहीं आती। वो लाइन है, हमने उसका पूरा दृश्य बनाया कि एक रंगमंच का ग्रुप आता है और जो उस स्थिति से त्रस्त है और उन्हीं दिनों फिल्मी शूटिंग के लिए ऑडिशन हो रहे थे जिसमें रंगमंच के कलाकार वहाँ गये जो डंडा पकड़ने को तैयार हैं, वो लोग, वो दृश्य भी हमने उसके अंदर डाला। और ये हकीकत है कि रिहर्सल छोड़ के बड़े-बड़े एक्टर सीनियर एक्टर चले जा रहे थे वहाँ पर कि हमें डंडा पकड़ने का रोल मिल रहा है वहाँ पर हम तो कर लेंगे। कि हमने साहब प्रकाश झा साहब के साथ काम किया है, पाँच सौ रुपये ही मिले वो दूसरी बात है। तो उस कहानी में, जैसे अंकुर जी ने अभी बोला एक व्यक्ति आता है, जो हाथ देख के भविष्य बता रहा है तो कहीं ना कहीं एक लेखकीय चेहरा जो ऊपर नकाब ओढ़ कर चलता है, वह सामने आता है। जैसे उसने बहस को भी बढ़ाया कि जो कवि लोग क्रांतिकारी कविताएँ लिखते हैं, भ्रष्टाचार के खिलाफ हों या क्रांति की बात करें या परिवर्तन आना चाहिए, उनका वास्तविक चरित्र क्या है? उस पर हमने बहस रखी भी, दूसरा एक कैरेक्टर सिर्फ बहस करता है कि तुम लोग खाली किताबी बातें करते हों। तो वास्तव में यदि कोई आवश्यकता पड़ी तो तुम क्या विरोध करने के लिए उतरोगे। उस बहस को हमने बढ़ाया है उसके अंदर। इसलिए कि वो कहानी कहीं ना कहीं संप्रेषित होनी चाहिए। तो एक हमारा बहुत अच्छा अनुभव है रेस्त्राँ में दोपहर और एक कहानी और जो संतोष चौबे की मैं करना चाहूँगा वो है रामकुमार के जीवन का एक दिन। काफी सारे वक्ता बैठे हैं, मुझे लगता है इतना काफी है। धन्यवाद!

विनय उपाध्याय

बहुत-बहुत धन्यवाद अशोक बुलानी जी। अब मैं आमंत्रित करूँगा भाई आलोक चटर्जी को, वे आयें और अपनी बात रखें। आलोक भाई की सक्रियता आप सबसे अछूती नहीं हैं, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्वर्ण पदक प्राप्त स्नातक हैं और बहुत अच्छे अभिनेता तो हैं ही, बहुत अच्छे शिक्षक भी हैं।

आलोक चटर्जी

संतोष जी, आचार्य जी, अंकुर जी, मलकानी भाई और प्रेक्षागृह में उपस्थित समस्त श्रोतागण। सबसे पहले तो मैं जो यहाँ बैठे हैं लोग इतनी देर से, उनका आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि मैंने कभी कहानी-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी पर चर्चा करते समय भोपाल में पिछले दस-पन्द्रह सालों में इतने लोग इकट्ठे बैठे नहीं देखे। दस-पन्द्रह-बीस भी हो जाएँ तो भी बहुत होता है और एक बार तो बड़ी शर्मनाक स्थिति हुई थी कि यहाँ कहानी पाठ हो रहा था, लेखिका स्वयं थीं और एक भी श्रोता नहीं था। तीन-चार उनकी सहेलियाँ ही बैठ गयीं, फिर वो हुआ। हमारे यहाँ साहित्य का बड़ा लोप होता जा रहा है समाज से। उस स्थिति में इतने लोगों का उपस्थित रहना, समय देना अपने धैर्य का परिचायक तो है ही, बल्कि इस बात के लिए एक आश्वस्ति भी प्रकट करता है कि समाज में सबकुछ मर नहीं गया। समाज में सबकुछ समाप्त नहीं हो गया, सबकुछ नेगेटिविज्म के हवाले नहीं हो गया। कहीं ना कहीं वो आशावाद है, इसमें हर आयु के लोग मैं देख सकता हूँ, तो युवा लोग भी हैं, ये बहुत आशा की बात है।

बहरहाल बात कहानियों के रंगमंच और संतोष जी की कहानियों के ऊपर हो रही थी। बहुत से लोगों ने अपनी अपनी बातें रखीं। मैं अपनी बातचीत को थोड़ा संक्षिप्त रखूँगा और दो भागों में रखूँगा। क्योंकि अधिक खींचा-तानी करने से कूदा-कादी करने से कुछ मिलना नहीं है। मैंने भी सौभाग्य से अपने जीवन में कुछ सत्तर-बहत्तर कहानियाँ मंच पर की हैं। अपने ग्रुप से, दोस्त, संस्था से। अलग-अलग रचनाकारों की और संतोष जी की रचनाएँ मैंने की हैं, दो कहानियाँ की हैं और इसी मंच पर की हैं। मैंने एक कहानी 'बस में सिगरेट' पढ़ी-चुनी और संतोष जी की दूसरी कहानियाँ भी मैंने पढ़ी हैं। मुझे लगता है कि एक रचनाकार के रूप में, कहानीकार के रूप में संतोष चौबे जी, जिसे हम तथाकथित ड्रामा या नाटकीयता मानते हैं, जानते हैं या कहते हैं, उसकी कोई स्वीकृति उनके यहाँ नहीं हैं। एक चलता हुआ दृश्य है, एक चलती हुई जिंदगी है। उसमें कुछ प्रतीक हैं, कुछ बिम्ब हैं, कुछ ठहराव है, कुछ उतार-चढ़ाव हैं और कहीं-कहीं नाटकीयता तो है ही। लेकिन वो नाटकीयता पर बड़ा जोर देते

हों एक कहानीकार के रूप में, ऐसा मुझे कहीं लगा नहीं उनकी कहानियों से और ऐसा उनके व्यक्तित्व से भी नहीं लगता। ही इज नॉट सच ए ड्रामेटिक पर्सन रादर दैन दैट ही इज अ सोबर पर्सन। तो मुझे लगता है कि इन सब चीजों का असर भी कहीं-कहीं होता है। जैसे एक्टर्स होते हैं वो बहुत ही उछलकूद मचाने वाले लोग होते हैं। वाचाल होते हैं ओर मेरे जैसे मंदबुद्धि भी होते हैं। लेकिन कोशिश करते रहते हैं। तो मैं कह रहा था कि संतोष जी की रचनाओं में मुझे कई रचनाएँ याद आती हैं जिसमें जिंदगी के ठहराव हैं। उसमें भी एक नाटक होता है। दरअसल जैसे मौन में एक संवाद होता है वैसे एक बिना नाटक का कुछ हो रहा है, जिसमें ड्रामा जैसा कुछ है ही नहीं, कॉनफ्लिक्ट है ही नहीं। द्वन्द्व है ही नहीं, विरोधाभासी बातें हैं ही नहीं। पर उसमें भी कुछ घटित हो रहा है, चरित्र के अंतर्मन में कुछ घटित हो रहा हैं, चरित्र के मनोमस्तिष्क में कुछ घटित हो रहा है, वो ही ड्रामा है और उसको करते हुए कई बार हम दर्शकों के दिमाग में उनकी कल्पना में ये प्रश्न भी छोड़ देते हैं, कि इसकी कल्पना आप कैसे करते हैं। रादर दैन इम्पोजिंग अवर ओन कंपोजिशन ऑफ सीन।

मुझे वक्तव्य के दूसरे भाग के हिस्से में ये कहना है कि कहानी के रंगमंच को लेकर हमारे गुरुदेव अंकुर जी ने कितनी ही सार्थक कोशिश की और उसे एक नई ऊँचाई तक पहुँचाया। इसका कारण है कि आज देश के कोने-कोने में युवा रंगकर्मी कहानी का मंचन कर रहे हैं। लेकिन यहीं मैं थोड़ा प्रश्नाकुल भी हो जाता हूं। हमारे गुरुदेव जी जब नाटक कर रहे थे, मोस्टली स्किल्ड एक्टर्स उनको मिले। ऐसे अभिनेता मिले जैसे राजेश विवेक मिले स्किल्ड एक्टर हैं। एनएसडी के कुछ ग्रेजुएट्स मिले, यंग या अपने जैसे साहित्य पढ़े लोग मिले, क्योंकि अंकुर जी साहित्य के विद्यार्थी रहे हैं। तो साहित्य की सोच-समझ रखने वाले अभिनेता जब कहानी का रंगमंच करेंगे, उसमें, और एक ऐसे व्यक्ति में जिसको अपने शहर में टीम नहीं मिल रही है तो वो एक कहानी लेकर उसको सोलो करने लगा, उसमें फर्क आ जाता है। दूसरा अतिसाधारणीकरण और सरलीकरण की ओर भी चला जाता है ये। यानी ये करना हमारे लिए आसान है। तो हम रिस्क लेने से डरने लगते हैं। जबकि एक युवा रंगकर्मी

के रूप में हमें हर तरह का काम करना चाहिए। उसके बाद फिर चुनना चाहिए कि हम अपनी शैली का क्या काम करें। कहानी को करने के जितने भी तरीके हो सकते हैं, अंकुर जी ने, मलकानी भाई ने, और दूसरे हमारे साथियों ने, संजय ने और दूसरे लोगों ने एक्सप्लेन किये। बुलानी जी ने भी। मैंने कहानियों के हिसाब से चुनाव किया कि मैं कहानी को ड्रामा वर्जन में करूँगा या कहानी को कहानी की तरह ही पेश करूँगा या एक तीसरा भी निकला कि एक कहानी को सोलो करूँगा। श्रीकांत वर्मा की 'अर्थी' मैंने निर्देशित की थी संगीत नाटक अकादमी समारोह में। उसमें एक एक्टर ही था। तो मुझे लगता है कहानी के रंगमंच के लिए अभिनेता का सर्वाधिक जो पक्ष मजबूत होना चाहिए, वो है वाचिक। उसकी संवाद अदायगी, उसकी भाषा, उसका लहजा, उसका उच्चारण, उसके डिक्शन और आर्टिकुलेशन को लेकर कमांड। दुर्भाग्य से हमारे हिन्दी बेल्ट में ऐसे एक्टर्स उँगलियों पर गिने जायेंगे जो आपको मिलेंगे। हमारे बड़े-बड़े शहरों में भी वर्षों से रंगमंच पर अभिनय करने वाले लोग श और स, ज और ज़ सही नहीं बोल पाते। उनके लिए जैक्शन भी चलता है, जैक्सन भी चलता है। किसन भी चलता है, किशन भी चलता है। तो कोई गुजराती, मराठी और बंगाली तो अपनी भाषा को लेकर ऐसे एक्स्प्लोर नहीं करता। लेकिन बोलियों के चक्कर में हमारे यहाँ ये घपला होता है। मुझे लगता है जब तक वाचिक नहीं होगा, तब तक शब्द की अपनी महत्ता है। शब्द अपने आपमें एक ध्वनि की गूँज लिये बैठा है। एक सबटैक्स्ट लिये बैठा है। एक अभिनेता उसे जब पूरे प्राण से उच्चारित करता है, तो उसका गहन अर्थ, भाव-बोध, अपने आप श्रोता और दर्शक के मन पर जाता है, उसकी कल्पना में जाता है। वो अपने आप कम्युनिकेट होता है। कई बार हम कम्युनिकेट करने की कोशिश नहीं करते, कम्युनिकेशन होता है। कम्युनिकेशन सिर्फ ये नहीं है कि मैंने किया आपने समझा। मैंने किया आपने समझा और मुझे समझ में आ गया कि आपने समझा है। दैट इज कम्पलीट राउंड एण्ड सर्कल ऑफ कम्युनिकेशन। इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ।

विनय उपाध्याय

नाटक में वाचिक शक्ति का क्या महत्त्व है, आलोक भाई से ये अपेक्षा भी थी कि वे अभिनेता के बतौर इस बात को रेखांकित करें। खासतौर पर जब तक हम कहानी विधा से रंगमंच के रिश्ते की बात कर रहे हों। बहुत-बहुत धन्यवाद आलोक भाई और अब मैं आमंत्रित करना चाहूँगा आदरणीय श्री रामप्रकाश त्रिपाठी जी को। रामप्रकाश जी का एक आलोचकीय व्यक्तित्व है, आप सब जानते ही हैं। लेकिन संतोष चौबे जी की हर रचनात्मक करवट के साथ वे जुड़े रहे हैं।

रामप्रकाश त्रिपाठी

असल में मैं नहीं चाहता कि मेरे हिस्से का समय भी विनय भाई ले लें। और बहुत लंबे-चौड़े परिचय की आवश्यकता नहीं है। हालाँकि बहुत सारे नाट्य क्षेत्र से जुड़े हुए लोग, बल्कि पुरोधा लोग, बोल चुके हैं– राजेश जोशी बोल चुके हैं, उन्होंने आलोक भाई को निर्देशित किया है– मैं इसके बावजूद कुछ कोशिश करूँगा। यहाँ जो चर्चा की शुरुआत हुई थी, उसमें अंकुर जी ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही थी कि नाटक में जो अर्थ-पिशाच का भैरव नर्तन होता है, उसमें सबसे आखरी पायदान पर अभिनेता रहता है। मुझे लगता है कि वो हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी हैं, एक चीज वो भूल गये कि उससे भी निचली पायदान पर लेखक रहता है। थोड़ा बहुत, और कुछ नहीं तो एक पार्टी तो मिल जाती है अभिनेता को, अंत में समोसे वगैरह तो मिल जाते हैं। लेकिन लेखक के हिस्से में तो वो भी नहीं आता। बाहर बहुत बड़ा बोर्ड टँगा है, अखिल भारतीय एक नाट्य समारोह का उसमें सबके नाम हैं, अभिनेताओं की तस्वीरें हैं। डायरेक्टर्स के नाम हैं, लेखक का नाम सिरे से गायब है। लेखक पूरी तरह एलिमिनेटेड है। अब संतोष चौबे का कुछ बिगाड़ नहीं सकते क्योंकि उन्हीं पर केंद्रित है यहाँ तो सारा मामला। इसीलिए आपको संतोष चौबे पर बातचीत तो करनी पड़ेगी।

बहुत सारी बातें यहाँ हो चुकी हैं और मैं कुल मिलाकर कहना चाहता हूँ कि संतोष चौबे की कहानियों में अगर नाटकीयता तलाशनी है, खोजनी

है, तो उससे पहले जरूरी होगा संतोष को खँगालना। बहुत कम लोगों को उनके इतिवृत्त के बारे में पता है। संतोष चौबे खुद बहुत अच्छे अभिनेता रहे हैं और बहुत सारे नाटकों में, दिल्ली से लेकर भोपाल तक मंचन किया है। उसके बहुत सारे लोग साक्षी भी रहे हैं, लेकिन अभी हाल में उन्होंने ये सब नहीं किया है। हम बहुत लंबे समय से साक्षरता के आंदोलन में, विज्ञान के आंदोलनों में इनके साथ जुड़े रहे हैं। संतोष ने किस प्रकार विज्ञान आंदोलन के दौरान कार्यशालाएँ कर के, विज्ञान के लोगों से डिस्कस कर के, विज्ञान के सब्जेक्ट्स को डिस्कस करके और फिर उनके ऊपर नाटकीय स्थितियों की कल्पना करके, परिकल्पना करके ग्रुप्स में नाटक किस तरह से तैयार किये और वर्कशॉप्स में नाटक कैसे बनायें, इसका मैं साक्षी हूँ। इसी तरह साक्षरता के बहुत सारे नाटक तैयार हुए। जिसमें बाद में बहुत सारे लेखक भी जुड़े। उनने उन नाटकों का पॉलिशिंग भी किया। ये तमाम सारे काम किये। तो ये उनके व्यक्तित्व का एक हिस्सा है। अगर इसको मजाक ना समझा जाये तो कहना चाहूँगा कि संतोष चौबे अपने आप में टोटल थियेटर हैं। उनमें कविता भी है, उनमें कहानी भी है, उनमें नाटक करने की क्षमता भी है और खुद भी इंशाअल्लाह मंच पर आते हैं तो आप उनकी अदाएँ देखिये। आपको पता चल जायेगा कि ये है थियेटर। उनकी बोलचाल में भी थियेटर है, उनकी मुद्राओं में भी थियेटर है। ये सब है, ये हमने देखा है। इनकी कहानियों में बहुत ही सहज है। जिसे अंतरावलंबन की हम बात करते हैं साहित्य में, उस अंतरावलंबन को बहुत सायास नहीं करना पड़ता। उन्हें वो अंतरावलंबन अपने आप ही आता है। वो कल्पना ही नहीं कर सकते बिना नाटक के किसी कहानी की, चाहे वो सूर्यास्त ही क्यों न हो। सूर्यास्त कहानी में कोई नाटक आवश्यक नहीं है। अजीब से कुछ लोग हैं, कुछ बच्चे हैं, कुछ बड़े-बूढ़े आ-जा रहे हैं और एक पहाड़ी पर चढ़-उतर रहे हैं और उनका एक एटीट्यूड है। वो एटीट्यूड कौन-सा है, कौन सी परंपरा से वो आते हैं। वो तमाम सारी चीजों को वो एक्स्पोज करते चलते हैं और नाटकीय स्थितियों को उसमें पैदा कर देते हैं। 'बीच प्रेम में गाँधी' में इस तरह की तमाम सारी चीजें हैं जो बहुत बारीकी से देखने की चीजें हैं जैसे

'रेस्त्राँ में दोपहर'।

रेस्त्राँ में दोपहर में जो हाथ देखने वाला है, वो बाहर से आता है। वो हमारे रोजमर्रा के जो बैठने वाले लोग हैं उनका हिस्सा नहीं है। वो बाहर से आता है और ज्योतिष की पूरी की पूरी परंपरा है, चाहे जितनी हमारे यहाँ उसने जड़ें जमा ली हों, लेकिन वो हमारी परंपरा नहीं है। वो मेसोपोटामिया और बेबीलोन की सभ्यता से आती है। ज्योतिर्विज्ञान तो भारत की परंपरा का हिस्सा है और वो गणितीय है। गणनाएँ हैं वो इस तरह की तो तमाम सारी तरह की चीजें आती हैं। लेकिन उसके अंदर वो चीजें नहीं आतीं अंधविश्वास जिस तरह से घुसा है। हाथ देखकर के या माथे की रेखाएँ देखकर के या चाल-ढाल देखकर के जो बताया जाता है भविष्यफल वो हमारी परंपरा नहीं है, इसलिए हमारे तमाम सारे संस्कृत के मनीषियों से लेकर चाणक्य तक सभी लोगों ने ज्योतिष की बहुत मुखालिफत की है। इसलिए उस कहानी में जिस कहानी के तत्त्व को पकड़ा जाना चाहिए, उस कहानी का महत्त्वपूर्ण हिस्सा ये है तो वो ज्योतिष खुद अपने आप में हास्यास्पद स्थिति को प्राप्त होता है। मैं कल के मंचन के बारे में सिर्फ इतना सा कहना चाहता हूं कि कल के मंचन में जो कहानी आस्वाद की तरह अंदर घुलती है, पढ़ते वक्त भी या लेखक के द्वारा नरेट करते वक्त भी या मंच को देखते वक्त भी। कहानी को पढ़ते वक्त जो म्यूजिक हमारे अंदर होता है, म्यूजिक की जो स्पेस बनती है, तानों की जो गति बनती है और तानों का जो स्पेस बनता है, वो स्पेस कल के नाटक में बहुत ही स्पष्ट तौर पर दिखा था. बिना किसी नाटकीयता के। ये तो नहीं कहना चाहिए था, गलत शब्द कह गया नाटकीयता, बिना किसी अतिरिक्त नाटकीय स्थितियों को पैदा किए हुए ये कहना चाहता था। तो ये कल की स्थिति में वो बात बनी। तो मैं कुल मिलाकर कहना चाहता हूँ कि ये जो स्थितियाँ हैं, इनबिल्ट हैं। ये संतोष चौबे के जो इंटरनल कैरेक्टरिस्टिक्स हैं, उसी में से निकल कर आती हैं।

मेरा जो पहला परिचय संतोष से हुआ था, तब मैं संतोष को जानता भी नहीं था। एक स्पिरिट 75 यहाँ हुआ था, जो तकनीकी महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की एक बहुत बड़ी कल्चरल मीट यहाँ पर हुई थी स्पिरिट

75 के नाम से, उसमें बहुत सारे लोग थे विनोद चोपड़ा थे, अरुण कुमार सेन थे, शंकर होम्बल थे। इनके साथ मैं भी एक समीक्षा-वमीक्षा लिखा करता था। कला समीक्षक के रूप में। मैं भी एक निर्णायक था। उसमें संतोष ने जलतरंग बजाया था। मैं ग्वालियर का हूँ मैं जानता हूँ दुर्लभ वाद्यों में, सबसे दुर्लभ। कटोरियों में जिस तरह से पानी को संयोजित करके जिस तरह से उसको मिलाया जाता है, वो मिलाना ही सबसे कठिन काम होता है। संतोष ने जिस तरह से उसको नियोजित किया था और बजाया था। प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था वो अलग बात है। बहुत सारे पुरस्कार मिल चुके हैं, उसका वर्णन करने का कोई मतलब नहीं है। तो वो जो उनको प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। उसमें वो संगीत है। मैं जानता हूँ कि संतोष ने अपना पुश्तैनी मकान जिसमें उनके बचपन की तमाम सारी स्मृतियाँ पोशीदा हैं। वो मकान केवल इसलिए छोड़ दिया क्योंकि वो शोर को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। शोर जैसे नाटक भी तैयार हुए हैं उसके बीच में। तो शोर को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे तो शोर को बर्दाश्त करने के बदले शहर से बहुत दूर घर बनाया, अब ये अलग बात है कि शोर वहाँ तक पहुँच जाए। उससे आप कहाँ तक बचेंगे। जो विकास के मॉडल में हम लोग चल रहे हैं उसमें शोर से बचना बहुत मुश्किल है। संतोष भाई कितने भी दूर भाग जाइये, आप बचेंगे नहीं। तो ये हैं तमाम सारी चीजें जो उनकी कहानियों को परिभाषित करती हैं। तो मैं कुल मिलाकर ये कहना चाहता हूँ कि अगर कहानी है, कहानी को आप प्रस्तुत करना चाहते हैं तो कहानी को आप कहानी की तरह ही प्रस्तुत करिये। कहानी और नाटक को अलगाने की जो कोशिश है, मेरी समझ में नहीं आता कि कोई नाटक बिना कहानी के कैसे हो सकता है। बिना थीम के कहानी नहीं हो सकती और बिना कहानी के नाटक नहीं हो सकता। तो इस तरह के अलगाने का कोई मतलब नहीं है। लेकिन कहानी को आप प्रस्तुत कर रहे हैं तो कहानी को कृपा करके कहानी की तरह ही प्रस्तुत करिये। जैसे कल इसकी प्रस्तुति हुई और भी कई प्रस्तुतियाँ हुईं। बस मैं इतना कहना चाहता हूँ, मेरे ख्याल में इतना हस्तक्षेप काफी है। धन्यवाद।

विनय उपाध्याय

बहस में शामिल होकर नई बहस को जन्म देना रामप्रकाश त्रिपाठी जी की हमेशा से फितरत रही है। लेकिन बहुत-सी अच्छी बातें उन्होंने हमसे शेयर की। गोपाल दुबे जी बैठे हैं वो भी संक्षेप में अपनी बात कहें, उसके बाद उदय शहाणे जी, बालेन्द्र, सुदीप हैं, सौरभ हैं हस्तक्षेप के लिए भी आप यहाँ आमंत्रित हैं। फिलहाल गोपाल दुबे जी, आप सब जानते ही हैं रंगमंडल से लंबे समय से जुड़े हैं और 'भूमिका' नाम से संस्था का संचालन करते हैं।

गोपाल दुबे

मंच पर आसीन महानुभावो, मित्रो, संदर्भ मुझे मालूम है इसी पर बात करूँगा। कहानी में नाट्य तत्त्व मैं नहीं ढूँढ़ता हूं। कहानी मुझे देती है। अगर हम ज्यादा ढूँढ़ने जाएँगे, मुझे कहानी करना है, ऐसी कहानी ढूँढूँ मैं तो उलझता जाता हूँ। इसलिए कहानी मुझे देती है। संतोष जी की कहानी 'लेखक बनाने वाले' वर्षों पहले मैंने पढ़ी थी। किसी मैग्जीन में पढ़ी। बाद में भूल गया, कौन लेखक था भूल गया। लेकिन हाँ कहानी मुझे याद रही। बार-बार चोट करती थी वो कहानी मुझे। बाद में मैंने वो कहानी फिर पढ़ी, मालूम पड़ा संतोष जी की कहानी है। उनसे बात भी हुई। संजय ने की थी। वो कहानी तब तक कहानी मुझमें पैठ जमा चुकी थी। तकनीकी सुविधा है पर सबकुछ नहीं। कभी-कभी वो मजाक बन जाती है। इसी विचार से संतोष जी ने वो कहानी गढ़ ली। 'लेखक बनाने वाले' इस कम्प्यूटर युग में संतोष सुखान्त बन कर उभरते हैं। बाजारवाद में उनकी कहानी दस्तक देती है। उनकी कहानी पाठक और दर्शक दोनों के लिए है। शेक्सपियर को मत भूलना अलग तरह का रियेक्शन है। लॉ की भाषा में उसे चुप्पी कहते हैं, वो चुप्पी कपट भी होती है। लेकिन यहाँ संतोष कपट नहीं करते हैं। उनका रियेक्शन है उस कहानी में। कार्तिक की चुप्पी रियेक्शन नहीं है, एड है। ये उनकी शैली है उस कहानी में। सारा लोहा आपका, अपनी केवल धार उस कहानी में है। अब नाटकीय तत्त्व कहानी में हो या ना हो ये आपकी पसंद है। कहानी आप कैसे चुनते हैं। घटनाक्रम

क्या है कितना है, वो आपके ऊपर है। कई बार लगता है कि कहानी में नाटकीयता ना भी हो तो कहानी अच्छी लगती है। जरूरी नहीं कि वही कहानी अच्छी है जिसमें नाटकीयता हो। मेरे ख्याल से जिसमें नहीं है वो कहानी भी अच्छी हो सकती है। किसी को ज्यादा तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। किसी को नहीं दिखाई पड़ते हैं। लेखक बनाने वाले, उनके हिस्से का प्रेम, शेक्सपियर को याद रखना, बीच प्रेम में गाँधी, रेस्त्राँ में दोपहर– ये कुछ कहानियाँ हैं जिन्हें पढ़ा तो लगा कि उन कहानियों में कहीं ना कहीं ऐसी चीजें हैं जो हमें अपनी ओर खींचती हैं। हम ये नहीं कह सकते कि हर कहानी संतोषनुमा कहानी है। नहीं, हर कहानी का अलग क्राफ्ट है, हर कहानी की अलग माँग है। तरीका लिखने का है। एक तरीका वह भी है जिससे लगता है कि ये कहानी रेणु की तरह की कहानी है, वैसी बात नहीं है। हर कहानी का अलग तरह से ट्रीटमेंट है। और कभी कहानी उनकी इनडायरेक्ट है, कभी डायरेक्ट मार करती है, व्यंग्य की तरह। व्यंग्य हमेशा इनडायरेक्ट होता है। कभी लगता है कहानियाँ डायरेक्ट हैं। मुझे बहुत मजा आया उनकी कहानियों को पढ़ के। कोशिश करूँगा आज तक कभी मैंने कहानियाँ की नहीं हैं, पर अब कोशिश करूँगा कि उनकी कहानियाँ करूँ। धन्यवाद।

विनय उपाध्याय

बालेन्द्र, आप कुछ कहना चाहेंगे। शहाणे जी उसके बाद आप तैयार रहें।

बालेन्द्र सिंह

आदरणीय नन्दकिशोर आचार्यजी, अंकुर जी, मलकानी जी, चौबेजी, आप सभी श्रोता। कहानी के रंगमंच पर और उसके नाट्य तत्त्वों पर बहुत ज्यादा चर्चा हो चुकी है और बहुत सारे पहलू भी उभर कर आए हैं कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। बहुत सारे कंफ्यूजन भी क्रियेट हो गये हैं कि मंचन की सुविधा देखनी चाहिए या नहीं देखनी चाहिए। अगर वो कहानी मंचन के लायक है तो ही करना चाहिए या उस कहानी में कितने नाटकीय तत्त्व हैं तभी वो कहानी हमारे मंचन के लिए होगी। ऐसा

जरूरी नहीं है। कई बार क्या होता है, हम अपनी सुविधानुसार चीजें ढूँढ़ते हैं। चौबे जी ने कविताएँ भी लिखी हैं, मैंने भी कविताओं का रंगमंच किया है। कविताओं का रंगमंच या कविता-पाठ ये दोनों हो सकते हैं। दोनों अलग-अलग तरीके से। आप क्या करना चाहते हैं कविताओं का पाठ करना चाहते हैं या कविता का रंगमंच करना चाहते हैं। तो अलग-अलग कविताओं को चुन कर एक कोई थीम बनाकर उस कविता के आधार पर भी कविता का रंगमंच हो सकता है, वैसे ही कहानी का रंगमंच या कहानी का नाट्य-पाठ या कहानी-पाठ या कहानी का नाटकीय रूपांतर करके उसका मंचन करना।

तो मुझे जहाँ तक लगता है कि कहानी का नाट्य रूपांतर करके नाटक को बना कर प्रस्तुत कर देना एक बहुत ही आसान तरीका है। लेकिन कहानी को, कहानी की तरह प्रस्तुत करना, खासकर के अभिनेताओं के लिए सबसे मुश्किल काम होता है। कहानी को ऑब्जर्व करना और उसको फिर प्रेजेंट करना। जबकि हम कहानी, कहानी की तरह प्रस्तुत करेंगे तो उसमें सबसे ऊपर जो आता है वो है अभिनेता। अब हमें कहानी को पढ़ने के बाद में उसमें शिल्प का ध्यान आता है, कि किस तरीके से हमको उसको रचना चाहिए। रचना-संसार। जैसे अंकुर जी की कहानियों में देखने को मिलता ही है कि एक अभिनेता जो सारी घटना हो रही है या उसके अंदर जो अंतर्द्वन्द्व चल रहा है, उसे बताता भी जा रहा है और एक्सप्रेस भी करता जा रहा है। तो हमें अलग से एक सूत्रधार की आवश्यकता महसूस नहीं होती है। तो हम लोग कई बार क्या करते हैं, कहानी के रंगमंच में एक सूत्रधार ढूँढ़ लेते हैं या फिर मैंने कुछ कहानियों का रंगमंच किया है। उसमें मिमिक्री के शिकार बहुत सारे आर्टिस्ट हो जाते हैं। ये बहुत बड़ी कमजोरी है कि हम मिमिक्री करना शुरू कर देते हैं कि एक पात्र से दूसरे पात्र को निभाने के लिए। उसमें चले जाते हैं, तो कहानी का पूरा सत्यानाश हो जाता है। हम क्या कहना चाहते हैं, उससे भटक जाते हैं, पूरी तरीके से। दो-एक बातें और थी जेहन में। चौबे जी की कहानियाँ, मैंने जो प्रतिनिधि कहानियाँ हैं, लगभग सभी पढ़ी हुई हैं। सबकी एक अलग भाषा है, एक अलग बोली है, एक अलग शिल्प है, एक अलग

कथ्य है– ये मुझे देखने को मिला है। आज से तीन साल पहले हमने कहानी के रंगमंच पर एक वर्कशॉप भी रखा था। अंकुर जी ने संचालित किया था उसको और हमने 'लेखक बनाने वाले' को ही चुना था। उसमें इतने सारे तत्त्व है, इतनी सारी चीजें हैं और उसमें एक जो ड्रीम सीक्वेंस है, वो बहुत ही बढ़िया है। आज शाम को वो कहानी आप लोगों को देखने को मिलेगी। दूसरी एक कहानी और है 'मगर शेक्सपियर को याद रखना'। वो कहानी चौबे जी ने 'मिड समर नाइट ड्रीम' जब हबीब साहब ड्रामा तैयार कर रहे थे तो उसके सराउंडिंग जो भी घटा है, उसको लेकर लिखी है। उन्होंने उसको इतने सुंदर तरीके से प्रस्तुत किया है कि कहीं से भी ऐसा नहीं लगता कि वो किसी चीज को उद्देश्य रख कर लिखी गयी है। तो उसमें भी शिल्प अलग देखने को मिलता है। उसको भी हम ड्रामा के तौर पर कर सकते हैं। मेरा सिर्फ इतना मानना है कहानी के रंगमंच को लेकर या नाट्य प्रयोगों को लेकर कि हम लोगों में जो पुरानी धारणाएँ चली आ रही हैं कि ऐसा कहानी में होना चाहिए, कि अगर हम तत्त्वों का प्रयोग करेंगे या मंच पर ज्यादा सेट उपयोग नहीं करेंगे या प्रापर्टी उपयोग नहीं करेंगे तो वो कहानी का रंगमंच हो जाएगा या फिर ज्यादा सेट का उपयोग कर लेंगे तो वो नाटक बन जाएगा। ऐसी बहुत सारी चीजें हैं जो हमारी पूर्व अवधारणा बनी हुई हैं. उससे निकल के हमें एक नई अवधारणा, एक नई सोच बनाने की जरूरत है, नित नये प्रयोग करने की जरूरत है। लोग कहते हैं कि नाटकों की कमी है। नाटकों की कमी नहीं है। दरअसल हमारी जो पढ़ने की क्षमता है या नई चीजें खोजने की जो इच्छाशक्ति है वो थोड़ी सी कम हो गई हैं। ऐसा नहीं होता है। हमें कुएँ के पास जाना होगा, कुआँ हमारे पास नहीं आयेगा। अथाह सागर है कहानियों का। हम जितनी ज्यादा कहानियाँ पढ़ेंगे, उतना ही ज्यादा हमारा विजन क्लियर होगा। जरूरी नहीं कि नाटकीय तत्त्व सबसे जरूरी है। जरूरी होते हैं, लेकिन कई बार हम उन चीजों से नाटक नहीं बना पाते हैं। हम हमेशा चाहते हैं कि कुछ ड्रामेटिक हो। कुछ ऐसा हो कि ऑडियंस जो है, सुन्न हो जाए। हम हमेशा बेस्ट करने की कोशिश करते हैं। तो बेस्ट तो तब होगा जब आप करने की कोशिश करो। हम हर चीज को अगर बेस्ट करके ढूँढ़ेंगे तो हमें

बेस्ट कुछ भी नहीं मिलेगा। अंकुर जी ने एक बहुत अच्छी बात कही थी कि चौबे जी की कहानियों में जब हम पढ़ते जाते हैं तो ऐसा नजर नहीं आता कि कुछ घट रहा है, कहानी सिंपल चलती जा रही है, फिर अंत में एक तमाचा पड़ता है। जैसे कि मंटो की कहानियों में। उनकी भी कहानियाँ हैं, जैसे लाईसेंस है, लगता है क्यों लिखी गई या काली सलवार है, और खोल दो है। इस तरह की कहानियाँ पढ़ते जाते हैं और अंत में ऐसी पंच लाइन आती है कि दिमाग के तार पूरी तरह से झन्ना जाते हैं। तो वैसे ही चौबे जी की कहानियों में है। आप आराम से पढ़ते-पढ़ते एक यात्रा करते हैं और अंत में स्ट्राइक करती है कोई चीज कि ये क्या, इतनी गंभीर बात, इतने सरल तरीके से कह गये! मैं उनके अभी कुछ उपन्यास भी पढ़ रहा हूँ और कोशिश कर रहा हूँ कुछ निकालूँ, कुछ करूँ। धन्यवाद।

विनय उपाध्याय

पाँच-सात मिनिट और हम लेना चाहेंगे। उदय भाई आप कुछ कहें।

उदय शहाणे

मंच पर बैठे सभी सम्मानीय मेहमान और मेरे साथी लोग। सब बड़े-बड़े लोग और विद्वान लोग इतना बोल गये हैं तो मुझे बोलने को कुछ है नहीं; और कहानियों का मेरा ऐसा बहुत लंबा एक्सपीरियेंस भी है नहीं, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि कहानी के स्ट्रक्चर के ऊपर, उसका सेट डिजाइनिंग होगा या नहीं होगा, ये सब कहानी के ऊपर डिपेंड करता है। क्योंकि कहानी अगर चार पेज की है और आपको एक घंटे का नाटक करना है उसके ऊपर तो उस चार पेज की कहानी से उसका आइडिया ले के जाने पर है। मैं 'तुक्के पे तुक्का' करता हूँ। वो टोटल पाँच पेज की कहानी है। अब उसके लिए आपको कहानी डेवेलप करनी ही पड़ेगी, सीन डेवेलप करने ही पड़ेंगे। इसकी एक मराठी कहानी है 'आला तमाच गेला' यानी जैसे आया था खाली हाथ वैसे ही चला गया। उस कहानी को टोटल चार या पाँच पात्रों में लेखिका ने लिखा है। उस कहानी के लिए

मंच भी बनाया जा सकता है क्योंकि वो एक घर की कहानी है और उसी में वो चार पात्र रहते हैं और उसमें मेन दो पात्र हैं, एक चोर और एक छोटा-सा बच्चा। अब अगर ये कहानी करना है तो मंच क्यों नहीं बनाना चाहिए? मंच बना के, पूरा माहौल तैयार करके और तब उसका प्रेजेंटेशन किया जा सकता है। चूँकि कहानी केवल छह पेज की है, अगर उसका उसी स्वरूप में प्रस्तुत किया जाये तो हो सकता है केवल पचीस मिनिट में ही खत्म हो जाये, चालीस मिनिट में खत्म हो जाये और आपको पचास मिनिट की बनाना है तो दृश्यों का एक कहानी में लाना पड़ेगा। जैसे पिता ने पुत्र को डाँटा लेकिन माँ को ये अच्छा नहीं लगा– केवल ये डेढ़ वाक्य हैं। इस डेढ़ वाक्य को एक बड़े सीन में इस्टेब्लिश किया जा सकता है। तो मुझे लगता है कि कहानी का वो प्रेजेंटेशन फार्मेट ऐसा कोई लेडडाऊन नियम होगा, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा है तो कहानी की बुनावट के ऊपर फर्क पड़ेगा। उसमें लेखक ही नैरेटर हो जाता है। जैसे कल की कहानी में दस दृश्य हैं तो वो आपकी मजबूरी भी है कि मंचन करते समय उन दस दृश्यों को क्रियेट नहीं कर सकते। उसका सबसे आसान तरीका है कि प्लेन स्टेज के ऊपर उसका मंचन कर लें। उसके ऊपर जब बीस पात्र चाहिए तो यह तरीका व्यावहारिक नहीं है कि आप सबको लेकर बाहर जायें। उसका तरीका यह है कि हमने पाँच पात्रों को लिया है और वो पाँचों सक्षम एक्टर्स हैं। इसीलिए वो बीस पात्रों को निभा कर ले जाते हैं और उस कहानी का मंचन सफलतापूर्वक कर लेते हैं। इसीलिए मुझे ऐसा लगता है कि हम किसी बंधन में नहीं बँधे और रामप्रकाश जी ने बहुत ही अच्छी बात कही कि नाटक में भी तो कहानी होती है। कहानी का हम थोड़ा सा नाटक करते हैं और उसको अलग-अलग तरीके से करने की हमारे पास स्वतंत्रता है। मैंने बहुत छोटी-छोटी कहानियाँ की हैं, वो इसी अवधारणा को ले के की थीं। पाँच कहानियाँ थीं क्योंकि जब कहानी को कहानी के रूप में करते हैं तो तीन पेज की कहानी है, दो पेज की कहानी है, ऐसी उनकी पाँच कहानी थी। लेकिन भोपाल की जो महत्त्वपूर्ण जगहें हैं ऐसे उनके लिंक बना कर हमनें पूरा मंच तैयार किया था। भोपाल की कहानी उसमें जोड़ी थी और उसमें बीच में कहीं संगीत भी डाला था। वो

पाँचों कहानियाँ बिना एक अक्षर बदले हमने की थीं तो लगता है कि हर तरह से की जा सकती हैं। और उसका नाम हमें कोई कहानी का मंच नहीं रखा था। राजेश जी ने ही उसका नाम प्रपोज किया था– 'देख कहानी देख'। इस तरह कहानी को हमने लोगों को दिखाया था। थैंक्यू।

विनय उपाध्याय

सौरभ अनंत, विहान ग्रुप से, संक्षेप में अपनी बात कहें और उसके बाद सुदीप अपनी बात रखें। फिर संतोष चौबे जी और नन्दकिशोर आचार्य जी।

सौरभ अनंत

नमस्कार! काफी सारी बातें हो चुकी हैं और सारे बड़े लोगों ने बोला। आप सबका काम देख कर हम सीख ही रहे हैं लगातार और संजय सर ने जो सवाल उठाये मतलब अगुवाई की, उस तरह के सवाल मेरे भीतर थे। कुछेक चीजें मैंने नोट की हैं कि कहानी जब नाटक में आती है तो वो विधा जो है एक दूसरे मीडियम में प्रवेश कर रही है तो उसके साथ में उसके सारे चरित्र भी मुझे लगता है, मीडियम बदल रहे हैं। तो शायद एक बाउंडरी हो जाती है अगर कहानी को हम एज इट इज लेके चलें। कहानी में जो चरित्र है, जो कहानीकार ने लिखा है, लिखते वक्त वो एक बात लिख सकता है पर चूँकि रंगमंच से जोड़ रहे हैं तो यहाँ विस्तार होगा और विस्तार की संभावना भी है। विस्तार के लिए कला भी जब मीडियम चेंज कर रही है तो विस्तारित तो होगी और एक नये रूप में ही आयेगी। तो मुझे लगता है कि एज इट इज करना तो विस्तार की इस संभावना को ब्लॉक करना है। संभावना यहाँ से पैदा भी होती है।

जैसे निर्देशक के लिए यहीं से चैलेंज शुरू होता है कि वो कहानीकार को साथ लेते हुए अब क्या विस्तार देगा, अब इसके साथ और क्या खोजेगा। चूँकि वो चरित्र भी कहानी में ही जी रहा है तो अभिनेता का भी चैलेंज है कि उस चरित्र को वह कैसे लेगा। अभिनेता की भी जिम्मेदारी है और चैलेंज भी है। तो मुझे लगता है कि ये बंधन टूटते रहने चाहिए। और जो मंचन के लिए उपयुक्त कहानी की बात आती है हमेशा यही हम

कहते हैं कि हमने कहानी को पढ़ा और इस कहानी को चुना तो, मतलब उसमें नाटक देखा। मतलब जो कहानी का रंगमंच है वह ऑलरेडी कहानी को खोजने की कोशिश कर रहा है। शायद मैं भी उन्हें खोजने की कोशिश कर रहा हूँ। अगर कहानी का रंगमंच है तो मुझे लगता है कि वो कहानियाँ खोजें जिनमें रंगमंच नहीं है। और एक निर्देशक जब अपने वक्तव्यों में ये लिखे या ये कहे कि मैंने इन कहानियों को पढ़ा या इनको चुना जो रंगमंच के लिये उपयुक्त नहीं लगीं, फिर मैंने उनका मंचन किया, तब मुझे लगता है कहानी का रंगमंच कहानी की विधा को सपोर्ट करेगा या उसको आगे बढ़ायेगा। मुझे इन सब बातों के बीच में लगा कि कहानी को कैसे ये मीडियम आगे ले जायेगा। ऐसा तब होगा जब एक जिम्मेदार निर्देशक यह सोचेगा कि ये उपयुक्त नहीं थी, इसीलिए मैंने उन्हें मंचन के लिए चुना। ये एक विचार आया इस बीच में। जो चौबेजी की कहानियाँ हैं, उसमें म्यूजिक भी है, विजुअल आर्ट भी है। तो विजुअल लेकर तो चलती ही हैं उनकी कहानियाँ, थियेटर काफी सारा उनमें होता है। जैसा समझ में आ रहा है वो शोर वाली बात भी कि आपने बताया कि शोर पसंद नहीं है मगर कहानियों में चरित्र के भीतर शोर है। वो शायद कल की कहानी में भी दिखता है। थोड़ा बहुत चूँकि मानव मन में शोर है और यही शायद लेखक के भीतर भी होगा, तो कहानी अगर साइलेंटली भी चल रही है तो थियेटर स्पेस देता है कि उस साइलेंस के भीतर जो या उस चरित्र के मन के भीतर जो चल रहा है, हम उसे मंच पर लेकर आ सकें। तो इसीलिए स्पेस बहुत बड़ा है, बहुत चैलेंजिंग है, सारी संभावनाएँ देता है। इसी के साथ फिलहाल अभी समाप्त करता हूँ। शुक्रिया!

सुदीप सोहनी

समय जब लगभग समाप्त हो चुका है तो मैं अब दो बातें रखना चाहता हूँ हालाँकि मेरे पास भी कहने के लिए बहुत कुछ है। मैं अपनी बात को दो चीजों के माध्यम से कहूँगा, संदर्भ वही है चौबे जी की कहानियों को लेके। जब मैं कालेज में था तो मैंने इन प्रतिनिधि कहानियों को सबसे पहले पढ़ा था और तब शायद इतनी समझ थी नहीं, पर फिर भी वो

कहानियाँ तब मुझे अच्छी लगी थीं और अब जबकि मैं पढ़ता हूँ तो वो कहानियाँ मेरे दिमाग में कहीं ना कहीं रहती हैं। मुझे लगता है कि एक पाठक बतौर कोई चीज आपको स्ट्राइक करती है या दिमाग में रह जाती है वो सबसे बड़ी नाटकीयता तो यही है कि वो दिमाग में रह गई। मेरे साथ कुछ कहानियाँ हैं चौबे जी की जो हमेशा चलती है, उनके साथ कभी बात करने का मौका मिलता है तो वो डिस्कस किया भी है। जैसे 'मुश्किल' एक कहानी है, 'बीच प्रेम में गाँधी' एक कहानी है। एक लेखक के बतौर मैं देखता हूँ कि उसमें कोई बड़ी घटना नहीं है, वो कुछ पलों की कहानियाँ हैं, लेकिन उन पलों में बहुत सारे पाइंट ऑफ व्यूज हैं; और मैं ये भी देखता हूँ चौबेजी की कहानियों में जो व्यूज हैं वो अलग-अलग लोगों के हैं। एक कहानी को ले के किसी कवि का है, कोई बिजनेसमेन का है, उसमें तो अलग-अलग पाइंट ऑफ व्यूज हैं, तो ये एक बात है। दूसरी बात जो मुझे लगती है चूँकि रामप्रकाश त्रिपाठी जी ने भी कहा कि राइटर को उतना स्पेस नहीं मिलता है, मुझे लगता है कि जब कभी हम किसी अन्य प्रयोग करने की बात करते हैं तो वो कहानियाँ एक राइटर से शुरू होती हैं उनमें नाटकीयता की संभावना एक मीडियम ट्रांसफार्म होने की संभावना से शुरू होती है और उन काहनियों में मैंने देखा कि उनके वाक्य बहुत ही छोटे-छोटे हैं और उनमें जो ड्रामा है वो छोटे-छोटे सेटों में है तो हम जब ट्रांसफार्मेशन की बात करते हैं तो ये चीजें भी बहुत इंपॉर्टेंट होती हैं। भले ही कैरेक्टर्स कम हैं, लेकिन कम में वो अपनी बात ज्यादा कह रहे हैं तो बस ये दो ही बातें मैं आपके सामने रखता हूँ। बहुत-बहुत धन्यवाद। शुक्रिया!

विनय उपाध्याय

धन्यवाद! यूँ मंच से जोड़कर रखें तो दो वक्ता ही हैं लेकिन दोनों वक्ताओं ने ये तय किया कि पहले अध्यक्षीय वक्तव्य होगा और उसके बाद चौबे जी आभार की शैली में आपसे कुछ देर बात करेंगे। आदरणीय नन्दकिशोर आर्चाय जी को मैं मंच पर आमंत्रित करता हूँ। कल से हमारे साथ हैं। सुबह के सत्र में थे, शाम के सत्र में थे। कहानी के मंचन के दौरान रहे।

इतनी देर से लगभग दो घंटे से सब लोगों की बात ध्यान से सुन रहे हैं। उनका दखल तो एक कवि के रूप में है। एक नाटककार के रूप में है लेकिन मैं आचार्य जी को बताता हूँ कि इसी सभागार में कुछ माह पहले 'देहांतर', उनका ही लिखा हुआ नाटक मंचित हुआ था और उस मंचन ने बहुत सारी बहसों को जन्म दिया। मैं आचार्य जी को उनके अध्यक्षीय वक्तव्य के लिए आमंत्रित करता हूँ।

नन्दकिशोर आचार्य

मित्रो, समय बहुत हो गया है और आपके धैर्य का इम्तेहान और अधिक अब नहीं लिया जाना चाहिए। लेकिन जब इसी काम के लिए आया हूँ तो कुछ तो कहना पड़ेगा। मुझे ये लगता है कि नाटक और क्या करता रहा है एक कहानी को दिखाने के अलावा। उस कहानी को दिखाने के कुछ ढंग होते हैं। उन ढंगों के आधार पर हम कहते हैं कि ये नाटक है। अब ये नाटक की प्रस्तुति है। कहानी की मंचीय प्रस्तुति है या कहानी का वाचन है। मैं यह मानता हूँ कि कहानी का वाचन भी अगर आप आँख बंद करके सुनेंगे तो वह उसे देखना होता है। आपके भावना पटल पर वो घटनाएँ घटित होती दिखाई देती हैं। अगर वाचन करने वाले व्यक्ति में भाषा के प्रति उतनी सजगता, उतनी संवेदनशीलता है तो। क्योंकि मुख्य तथा पारंपरिक रूप से देखें तो कहानियों को कहने के तीन ढंग अपने यहाँ दिखाई देते हैं। चाहे वो संस्कृत में लिखे नाटक हों या आज लिखे नाटक हों, वो कहीं ना कहीं कहानियों का एक नाट्य रूपांतरण हैं। यानी वो कहानी लेखक के अपने मन में है। या तो पौराणिक कहानी है या ऐतिहासिक घटना है। तो उसको एक नाट्य प्रस्तुति के रूप में... जैसे कल आपने देखा 'सुकरात'। अब 'सुकरात' एक कहानी है, वो नाटक नहीं है। और उस कहानी का एक नाट्य रूपांतरण हुआ।

दूसरा आपने शाम को एक और देखा वो एक कहानी की नाट्य प्रस्तुति या एक कहानी की मंचीय प्रस्तुति कह सकते हैं। वो आपने देखा और दोनों के बीच का फर्क आपको महसूस हुआ होगा कि आपने सुबह देखा तो लगा होगा कि नाटक देख रहे हैं और शाम को आपने देखा तो लगा

होगा कि कहानी को घटित होता हुआ देख रहे हैं। ये दोनो में फर्क है– दोनों की मंचीय प्रस्तुति में और नाट्य रूपांतरण में। लेकिन हमारे यहाँ पर और तीसरा तरीका भी है जिसका जिक्र अंकुरजी ने किया था कि एक नैरेटर खुद ही अपनी कहानी पढ़ दे, आपके सामने सुना दे, ये तीनों ढंग हमारे यहाँ परंपरा में रहे हैं। पहला ढंग है जो हमारा दुनिया–भर के एपिक से लेकर के वहाँ के चरित्र से कोई कहानी उठा कर के आपने नाटक लिखे और प्रस्तुत किये। ये उप कहानियों का नाट्य रूपांतरण या लेखक के मन में जो आया जो कहानी उसने बुनी, उसका नाट्य रूपांतरण था। दूसरा जो था उसमें नेरेटर वो खुद एक नाट्य पाठ करता है। आप पायेंगे कि हमारे यहाँ एक परंपरा रही है कथा वाचकों की और दास्तानगोई की। अगर आप दास्तानगोई की परंपरा से वाकिफ हैं तो आप पायेंगे कि दास्तानगोई एक आदमी या दो आदमी होते हैं और वो एक कहानी आपको सुना रहे होते हैं तो आपको लगता है कि घटना आपके सामने घटित हो रही है। वो कुछ नाटक नहीं कर रहे, वो अपनी आवाज से, अपनी वाचिक परंपरा से, जिसका जिक्र आलोक चटर्जी कर रहे थे, दृश्य निर्माण कर देते हैं। उन घटनाओं का होना उस वाचिक से आपको अनुभव होता है। अगर ऐसा नहीं होता तो नाट्यशास्त्र में वाचिक को अभिनय का एक प्रकार क्यों माना गया होता। इस बात पर गौर करिये कि हमारे यहाँ पर अभिनय के जितने प्रकार बताये गये हैं सभी दुनिया भर में वही प्रकार है। उसमें वाचिक एक प्रमुख प्रकार है। तो ये वाचिक है क्या? ये वाचिक है भाषा का खुद अभिनय हो जाना। भाषा स्वयं अभिनय का रूप धारण कर लेती है, उस रूप में प्रकट होती है, तब वाचिक होता है। कुछ भी पढ़ देना वाचिक नहीं है। और अभिनय का रूप बन जाती है इसका तात्पर्य ये होता है कि काव्य दृश्य बना जाता है। तो काव्य के दो प्रकार माने गये हैं– दृश्य और काव्य। ये मूलतः एक ही हैं क्योंकि काव्य तो दोनो हैं। तो एक तात्त्विक दोनों के बीच है। आप रेडियो नाटक में क्या करते हैं? जब आप सुनते हैं, देखते थोड़े ही हैं, लेकिन सुनते हुए आपको ये लगता है कि आप नाटक देख रहे हैं। तो ये भाषा का अभिनय हो जाना, यानी सुनने का देखना हो जाना होता है। इसीलिए अगर एक दास्तानगो, हमारे राजस्थान में

उसको कहते हैं बातपोश, बात सुनाता जो है, बात को रातभर सुनाते हैं सैकड़ों की संख्या में लोग सुनते थे और लगातार उसको इस तरह सुनते रहते थे जैसे घटना उनके सामने घटित हो रही है। तो सुनाने की जो शैली है वो नाटकीय शैली, वो बैठा रहेगा एक प्रकार से आपका देखना हो जाता है।

तीसरा जो प्रकार है जो छत्तीसगढ़ या मध्यप्रदेश का मानना चाहिए, वो है कि वो कहानी सुना रहा है और अभिनय भी कर रहा है। उसके पास कोई प्रॉपर्टीज नहीं होती। बीच में गा रहा होता है तो वह गायक भी है कथावाचक भी है वो अभिनेता भी है और नैरेटर भी। तीजन बाई की अगर आप बात करें तो वो जो प्रस्तुति देती हैं, तो उसमें एक कथा सुनाई जा रही है और उसमें कई कैरेक्टर्स आते हैं, जो वो स्वयं हो जाती हैं और एक तरीके से जो तंबूरा उनके हाथ में है, उसकी गदा भी बना लेती हैं उसी को धनुष भी बना लेती हैं, उसी से सारा काम चलाती हैं। तो एक प्रकार से ये भी नाट्य का एक प्रकार है। तो मेरा कहने का तात्पर्य ये है कि हमारी अपनी परंपरा को देखें तो ये एक ऐसी परंपरा रही है जिसमें तीनो प्रकार हैं। और ये तीनों एक प्रकार से कहानी को प्रस्तुत करने के भिन्न-भिन्न ढंग है जिसका जिक्र अंकुर जी ने किया था। अब सवाल इसमें सिर्फ ये उठता है कि भाषा अभिनय

मुझे तो सबसे अच्छी कहानी 'बीच प्रेम में गाँधी' लगी थी। याने एक तरीके से उसे करना मुश्किल है उसका केवल वर्णन किया जा सकता था। लेकिन इस तरह की जो सूक्ष्म भाव वाली कहानी होती है, जो ज्यादा अभिनय के लिए भी, वाचन के लिए भी और प्रस्तुति के लिए भी ज्यादा स्किल की माँग करती है, अपने में डूब जाने की माँग करती है और डूब कर अपने से बाहर आने की माँग भी करती है, अपने को डूबे हुए देखना, जिसे साक्षी भाव कहा गया है, वही कला है।

कब होती है। राजेश ने एक बहुत अच्छा निर्मल जी की कहानी को लेके सवाल किया था कि वो तो नैरेशन ही है, उसमें घटनाएँ नहीं हैं। अगर नैरेशन ही है और मेरे ख्याल से 'तीन एकांत' नाम से तीन कहानियाँ अंकुर जी ने की थीं, उसमें तो वो सब वैसी ही कहानियाँ हैं। ज्यादातर तो देखिये एक सामान्य विवरण में और जब भाषा जहाँ अभिनय हो जाये, इस तरह के विवरण में फर्क होता है, इसे समझने की जरूरत है। भाषा काव्य तभी होती है, शब्द काव्य तभी होता है जिसमें एक भावात्मक सघनता या एक भावात्मक आकुलता जिसमें प्रकट हो। अगर वो नहीं है, केवल विवरण है तो वो काव्य का दर्जा हासिल नहीं करता। उसमें कितना ही उपदेश भी हो, बहस भी हो तब भी वो काव्य का दर्जा हासिल नहीं करता। वह तभी साहित्य का दर्जा हासिल करता है जब वो भाषा या शब्द एक भाव सघन रूप से प्रस्तुत हो। तो जहाँ भाव है वहाँ अभिनय है, इस चीज को समझने की जरूरत है। इसीलिए नाट्यात्मकता को कोई अलग से ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है, अंकुर जी सहमत होंगे इससे। कोई भी अच्छी कहानी, मेरा मतलब है वो कहानी जिसमें इस बात के प्रति सावध ानी रखी गई है, की जो भाषा है वो भाव सघन हो या द्वंद्वात्मकता जिसे हम कहते हैं, वो प्रकट होती है, वह नाटकीय हो सकती है। क्या रोमेंटिक ड्रामा नहीं लिखे गये हैं? क्या एक ही भाव को चरित्र करने वाले नाटक नहीं लिखे गये हैं?

ऐसा नहीं है कि वो नाटक नहीं लिखे गये। द्वंद्व भी जीवन का एक हिस्सा है और दूसरे भी जीवन के बहुत से हिस्से हैं। इसका मतलब क्योंकि द्वंद्वात्मक नहीं है तो नाटक नहीं है तो आप नाट्य को कितना सीमित करते रहे हैं, जीवन के वो दूसरे अनुभव है। वो यदि नाटक में नहीं आ सकते तो नाटक कितना संकीर्ण हो जाता है। इसीलिए ये देखने की आवश्यकता है कि वो भावनात्मक सघनता यदि नाटक में है तो वो नाटक है और वो नाटक विशेष घटनाओं को लेकर के हो या सामान्य जीवन की घटनाओं को लेकर हो, जैसे चौबे जी की कहानियों के बारे में कहा गया कि वो सामान्य जीवन की घटनाएँ उठाती हैं। अगर ये चीजें हैं मुझे मुक्तिबोध याद आते हैं। राजेश मेरे मुँह से तुमको सुनकर मजा आ रहा

होगा। वे कहते हैं कि भावानुभूत ज्ञान ही साहित्य है। ये जो भावानुभूत ज्ञान है वो ही काव्य ज्ञान, साहित्य या कला है। अगर नहीं तो, कबीर तक के बारे में वो कहते हैं, कबीर जहाँ पर जीवन को मस्त होकर गाता है, वहाँ तो वो कवि है और जहाँ वो दर्शन वगैरह में चला जाता है, वो वहाँ कवि नहीं है। दर्शन का एक अलग क्षेत्र है और उसका स्टैंडर्ड भी अलग है। ये कबीर के बारे में मुक्तिबोध कहते हैं। तो इसीलिए हमें ये समझने की आवश्यकता होती है कि वो हर कहानी, हर कविता, वो हर उपन्यास नाटक है, उसको किया जाये या किया नहीं जाये, ये अलग बात है। अंकुर जी की कोशिश ये रही, अभी सारे जो चरित्र आपने देखे, चौबे जी की जो कहानी कल मंचित हुई, उसमें ये सारे चरित्र नैरेटर भी हैं वो जो चारों पाँचों कथावाचक भी हैं और अभिनेता भी हैं। और आजकल भी ऐसे नाटक लिखे जाते हैं जिसमें प्राचीन सूत्रधार जैसी परंपरा नहीं रही है लेकिन एक चरित्र है जो आपको सब दिखा रहा है और वो खुद इसके अंदर है, एक पात्र भी है। ये ठीक वैसा ही है जैसे रामायण और महाभारत में व्यास और वाल्मिकि पात्र भी हैं और नैरेटर भी। तो एक प्रकार से आप देखिये कि हर अच्छी कहानी नाटक है, क्योंकि उसके मंच पर दिखाने का साहस उसकी भाषा, उसके वाचन में है और अभिनेता साथ में वाचक नैरेटर हो जाता है तो और भी अच्छा अभिव्यक्त होता है। सारी कला अभिव्यक्ति से पहले अंवेषण होती है। जो अभिव्यक्ति हो रही है वो अभिव्यक्ति ही नहीं, अंवेषण भी है। साथ में अंवेषण ही एक तरह का संप्रेषणात्मक अंवेषण है या अंवेषणात्मक संप्रेषण है। वो तब होता है तभी कला बनती है। कम्यूनिकेशन भी तभी होता है। अभिव्यक्ति होती है।

अभिव्यक्ति तो अन्यथा आप कहें तो विज्ञान के लेख में भी होती है। उसमें एक विचार अभिव्यक्त किया गया होता है पर उसे हम कला नहीं कहते। तो ये जो फर्क है, उसका रूप क्या देंगे, आप किस विधा में डालेंगे तो किसी विधा में डालना अनिवार्य नहीं है ये आवश्यक ही है कि एक भावात्मक संप्रेषण करती है, वो कृति आपके सामने नाट्य प्रस्तुति, पाठ्य प्रस्तुति के रूप में करती है एक काव्य प्रस्तुति के रूप में करती है और वो ऐसा करती है तो वो एक सफल कृति है। इसे नाम आप जो भी दें।

उसको आप कहानी का रंगमंच कहें, कविता का रंगमंच कहें, रंगमंच कहें, कि कहानी का पाठ कहें इत्यादि। उससे कोई लंबा चौड़ा फर्क वास्तविक स्तर पर नहीं पड़ता है। केवल हम उसे क्या नाम देते हैं इसका। तो मुझे ये लगता है कि उसमें इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि उसमें जो भावात्मक सघनता है, उसको ना भूलें। अक्सर कहानीकारों के साथ, गद्य लेखकों के साथ होता है कि वे कोई निष्कर्ष देने के लोभ से नहीं बच पाते और एक विचार के रूप में निष्कर्ष के रूप में कुछ पंक्तियाँ देते हैं। आप देखेंगे महाभारत में कितनी नीतियाँ बताई गई हैं वे सब काव्य नहीं हैं। काव्य वही है जहाँ पर भावनात्मक आकुलता और सघनता है। आप गीता को पढ़ेंगे तो जहाँ विराट पुरुष का वर्णन होता है वहाँ वो काव्य है, वो सारा वर्णन काव्य है, अभिभूत हो जाते हैं आप उसको पढ़ते हुए। बाकी जो उपदेश पढ़ते हैं, वो काव्य नहीं है। दर्शन बहुत ऊँचा हो सकता है। जिस समय आप रामानुजाचार्य का दर्शन पढ़ते हैं या वल्लभाचार्य का वो दर्शन होगा, सूरदास का काव्य होगा चाहे वो उस दर्शन से प्रभावित होकर लिखा गया हो, तो ये जो फर्क है, भावनात्मकता का, अनूभूति का और एक वैचारिक बहस का या एक विचार को प्रकट करने के पचासों तरीके हो सकते हैं उसका, उन दोनों में फर्क करें। तो जिन कहानियों में, जिस गद्य में, जिन कविताओं में ऐसा होता है, वो फिर वहाँ पर थोड़ा चूक जाती हैं उतनी श्रेष्ठ कृति बनने से जितनी वो हो सकती थीं। क्योंकि वो भाव तो अंत में जो कहा गया वो तो आपके मन में आ जाना चाहिए उसके पढ़ते हुए या देखते हुए। अगर आपके मन मे वो भाव आ गया तो वो सफल कृति है उसको अलग से कहने की जरूरत पड़ती है तो अपने मन में संदेह बना रहता है।

चौबे जी की कहानियाँ मैंने कुछ ही अरसा पहले पढ़ी हैं। यूँ समझिये कि इसी सप्ताह पढ़ीं। एकाध पहले कभी पढ़ी थी, याद पड़ती हैं, लेकिन इतना गौर नहीं किया था और कल जब देखा तो वो कहानी पहले पढ़ी भी थी और देखी भी। मुझे ये लगता है कि जैसा कहा गया और सभी लोगों ने कहा उसमें कुछ अनुचित नहीं है कि उन कहानियों के अंदर एक भावात्मकता हर जगह मौजूद है और उसी के कारण से वो मंचीय कृति

बनती है बनी है, लेकिन मुझे चौबे जी एकाध जगह पर ऐसा लगा कि कहीं–कहीं वे स्पष्टीकरण देने के लोभ से नहीं बच पाते या कहीं–कहीं वैचारिक बहस उसमें आ जाती है जैसे कल की हम पायेंगे कि बहुत अच्छा है, सारा विवरण चल रहा है, अभिनय भी हो रहा है और उसके बीच में वेजेटेरियनिज्म को लेकर एक बहस आ जाती है। हमें मालूम है कि विश्वमोहन एक भावात्मक स्तर पर शाकाहार से जुड़ गया है क्योंकि जो घटना देखी उसने बचपन में एक मनोवैज्ञानिक गहरा प्रभाव उसके मन में पड़ा। लेकिन जब हम ये कहते हैं कि साइंस ये बताता है, धर्म ये बताता है तो एक ये वैचारिक बहस बन जाती है और मेरी तुच्छ राय से तो ये थोड़ा उस प्रभाव को बढ़ाने की बजाय कम कर देता है। नाट्य कृति के रूप में और मैं कहूँगा कि कथा कृति के रूप में भी ऐसी स्थिति में वो जो विवरण है, वहीं पर अवांछनीय होता है, जहाँ पर उसमें भावात्मक सघनता नहीं होती, जहाँ वो केवल सूचनात्मक होता है केवल। एक वैचारिक बहस तात्त्विक बहस बन जाता है। उस तरह का जो नैरेशन है वो कृति को नुकसान पहुँचाता है चाहे मंतव्य कितना ही महान हो लेकिन वो कृति को नुकसान पहुँचाने वाला होता है। मुझे तो सबसे अच्छी कहानी 'बीच प्रेम में गाँधी' लगी थी। याने एक तरीके से उसे करना मुश्किल है उसका केवल वर्णन किया जा सकता था। लेकिन इस तरह की जो सूक्ष्म भाव वाली कहानी होती है, जो ज्यादा अभिनय के लिए भी, वाचन के लिए भी और प्रस्तुति के लिए भी ज्यादा स्किल की माँग करती है, अपने में डूब जाने की माँग करती है और डूब कर अपने से बाहर आने की माँग भी करती है, अपने को डूबे हुए देखना, जिसे साक्षी भाव कहा गया है वही कला है। वो अभिनय में भी है, लेखन में भी है और अन्य कलाओं के अंदर भी। तो इसीलिए मुझे लगता है कि अगर हम इस चीज का ध्यान रखें, शायद ज्यादा बेहतर कहानियाँ हो पायेंगी, ज्यादा बेहतर कविताएँ हो पायेंगी। तो ये समझना जरूरी है कि भाषा अभिनय कब होती है और कब वो सूचना या विवरण–मात्र रह जाती है। इस चीज को अगर हम समझें तो हम कहानी के रंगमंच को लेकर के जो सवाल उठ रहे हैं उनको एक सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देख पायेंगे और अंकुर जी की तो मैं इस बात

में तारीफ करूँगा। जबसे उन्होंने काम शुरू किया तो सन्देश यही था कि क्या हो रहा है, क्यों कर रहे हैं और जो आज हम देख रहे हैं तो इस बात से सहमत होंगे कि हर वो अच्छी कहानी यदि वो सुगठित है, तो मंचीय प्रस्तुति के लायक है। नमस्कार!

विनय उपाध्याय

अंकुरजी की उड़ान का समय बहुत निकट आ चुका है, वे अब निकलेंगे। मैं आप सबकी ओर से, वनमाली सृजनपीठ की ओर से उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ और दो शब्द कुछ...

देवेन्द्रराज अंकुर

मैं आप सबका बहुत आभारी हूँ, और दो दिन से बहुत अच्छा लगा। विनयजी, संतोषजी, और आज जितनी गंभीर चर्चा यहाँ हम सब लोगों ने बैठकर की जाहिर है, उसमें से सवाल निकलेंगे, मैं भी सवालों से जूझ रहा हूँ। इस काम को कर रहा हूँ। और आचार्यजी ने आज उसको इतना एक तरह से सैद्धांतिक रूप से भी, बहुत स्पष्ट कर दिया, उनका भी धन्यवाद। मैं आप से क्षमा चाहूँगा, इस तरह से बीच में छोड़कर जाने के लिए। धन्यवाद।

विनय उपाध्याय

इतनी लंबी चर्चा, कहानी में नाट्य-तत्त्व और रंग प्रयोग को लेकर हुई, उसका आधार आदरणीय संतोष चौबेजी की कहानियाँ और उपन्यास बने। चौबे जी इन सब विचारों को सुनने के बाद या इन विचारों के ना सुनने के पहले भी उन्होंने जो कहानी का रास्ता तय किया, इन दोनों के बीच जो एक रिश्ता उनका क्या बनता है, इन सबको जानने के हम सब बहुत उत्सुक हैं। आदरणीय संतोष चौबे।

संतोष चौबे

आदरणीय आचार्य जी, आदरणीय भाई अजय मलकानीजी, अंकुर जी जो

अब तक हमारे बीच थे, यहाँ बैठे सभी दोस्तो, मित्रो, रंगकर्मियो, साथियो।

आचार्य जी ने जिस बिंदु पर इस पूरी बहस को ला के छोड़ा है, उसके बाद मेरे लिए बहुत मुश्किल है कि मैं कहानी के रंगकर्म पर कुछ नई बात जोड़ूँ। वैसे भी मैं चाहता था कि आप लोग जब रंगकर्म पर बात कर लें तो मैं अपनी कहानी की रचना-प्रक्रिया पर आपसे बात करूँ, कि मैं कैसे कहानी कंसीव करता हूँ और कैसे वो डिलिवर होती है। पहली बात तो मैं कहूँ कि राजेश का मैं इसलिए कायल हूँ कि ये बात उन्होंने पहले पकड़ ली थी कि मैं दृश्यों में सोचता हूँ। मतलब मेरी रचनात्मक प्रक्रिया ही इस तरह की है कि विजुअॅल्स के रूप में चीजें मेरे दिमाग में आती हैं और मैं वर्षो एक थीम के ऊपर सोचने के बाद लिख पाता हूँ। मेरी कहानियाँ बहुत सी नहीं हैं, बहुत सारा मैंने लिखा भी नहीं है। एक पर्टिकुलर तापमान पर आने के बाद ही चीजें मेरे दिमाग से निकलती हैं और ये तापक्रम को बनना चाहिए अपने दिमाग में, अपने मन में, अपने भीतर। मुझे दो-दो तीन-तीन साल एक कहानी को सोचने में लग जाते हैं और वो जब निकलती है तो भी महीना डेढ़ महीना हो जाता है और मैं एक ड्राफ्ट करता हूँ, फिर दूसरा ड्राफ्ट करता हूँ, फिर तीसरा ड्राफ्ट करता हूँ, और मुझे संतुष्टि बहुत मुश्किल से किसी कहानी में मिलती है। तो पहली बात तो ये है कि मेरे लिए कहानी लिखना बहुत मुश्किल काम है। मैं जहाँ तक अवॉइड ही करता हूँ कि ना लिखी जाये और फिर अंत में जब फिर से वो भारी पड़ ही जाती है और मेरा जीना मुहाल हो जाता है और जब मुझे चैन नहीं मिलता, तब मैं उसे लिखना शुरू करता हूँ। और अब कहानी की आदत थोड़ी सी पड़ी है।

यहाँ पर कहना चाहता हूँ कि मेरे दिमाग में कहानी कई बार अंत की तरह आती है। लेकिन मजे की बात ये है कि जब मैं उसे लिखता हूँ तो अंत बदल जाता है और मैं इसे बदलने देता हूँ। वो आती मेरे दिमाग में एक चमक की तरह से है लेकिन जब मैं लिखता हूँ तो वो जो अनएक्सपेक्टेडनेस है उसमें, उसे बने रहने देता हूँ और मुझे लगता है कि वही जो चीज है वो पाठक के मन में भी आती है और वो उसको वहाँ पर आंदोलित भी करती है और इसीलिए वो कहानी उसे पसंद भी आती

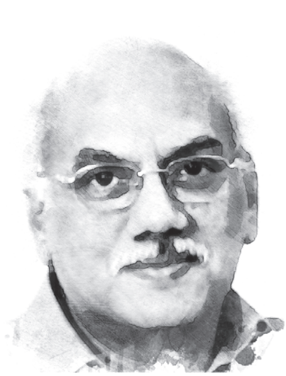

जो भी कला आप प्रस्तुत करना चाहते हैं क्या वो श्रोता और दर्शक से विच्छिन्न है? नहीं है। सबसे पहले आपको दर्शक को सामने रखना है, श्रोता को सामने रखना है और उस तक वो संप्रेषित हो पा रही है या नहीं, कला खुद अपने आप में तैयार है या नहीं? जब मैंने कहानी लिखी तो मैं चाहता हूँ कि यह कहानी सुनाई जाये और उसका मंचन हो। ज्यादा जरूरी है कि हम उसके बीच श्रोता को लायें दर्शक को लायें और ये देखें अंत में जो बात आपने कही, वो उस तक पहुँची या नहीं पहुँची! मैं कविता में मंचन इसीलिए लाया कि कविता-पाठ आजकल बहुत फ्लैट तरीके से किया जाने लगा है और ये हमारी बार-बार बहस होती है कि कोई कविता को इतना डल और बोरिंग तरीके से क्यों पढ़ता है! यदि आपने कविता लिखी है, सघन कविता लिखी है तो उसे उतनी सघनता से आपको पढ़ना भी चाहिए।

है। रघुवीर सहाय ने एक बार कई लेखकों के इंटरव्यू किये जिन्हें एक किताब में संकलित किया है। उसमें अज्ञेय का इंटरव्यू भी है। अज्ञेय ने उसमें एक बहुत अच्छी बात कही और मुझे वो बात कई बार याद रहती है कि लेखक के बस में सिर्फ एक ही बात है कि वो एक अँधेरे कोने को प्रकाशित कर दे, बाकी वो कुछ नहीं कर सकता है। और दूसरी बात उसमें ये थी कि जीवन एक चलती हुई क्रिया है, आप उसमें से एक स्लाइस काट के दिखा सकते हैं। तो ये जीवन का संघर्ष मेरे मन में चलता है। वो सुदीप ने ठीक कहा कि मेरे भीतर तो बहुत सारा संघर्ष है और शोर भी है, लेकिन उसको देखने का, बाहर जाकर देखने का, ऑब्जर्व करने का मेरा अपना तरीका है और उसमें जो प्रकाश प्राप्त होता है, वो चाहे विचारधारा के माध्यम से प्राप्त हो, घटना के माध्यम से प्राप्त हुआ हो, वो जीवन संघर्ष के माध्यम से प्राप्त हुआ हो, तो एक तरह के मौन के बीच में से वो प्रकाश अचानक

निकलता है और कहानी बनती है और उसके पास उसके आसपास का ड्रामा भी उसमें से आता है।

कहानी की फ्रीक्वेंसी को लेकर भी एक बात कहना चाहता हूँ। नवीन सागर ये बात कहा करते थे। जिस कहानी का जिक्र आलोक ने किया, 'सिगरेट' मेरी पहली कहानी है। वो एकदम शुरू में कॉलेज के दिनों की कहानी है और 'नौ बिंदुओं का खेल' आज के समय के कारपोरेट विश्व की कहानी है। तो नवीन सागर कहा करते थे, आपकी आंतरिक फ्रीक्वेंसी आपकी कहानी की लेंग्थ को डिफाइन करती है। आपकी यदि आंतरिक फ्रीक्वेंसी ऐसी है कि आप घटनाक्रम को बहुत छोटे दृष्टिकोण से देखते हैं तो कहानी छोटी होती है। कई छोटी कहानियाँ भी बहुत अच्छी कहानियाँ हुई हैं और उसमें कोई ऐसी बहस नहीं हो सकती कि छोटी कहानी अच्छी होगी या बड़ी कहानी अच्छी होगी। लेकिन जब मैंने बहुत दिन तक छोटी कहानी लिखी और आठ-दस कहानियाँ लिखीं जिसमें प्रेम कहानियाँ थीं तो नवीन ने कहा कि तुम एक काम करो, इस फ्रीक्वेंसी को तोड़ो और जब तुम इस फ्रीक्वेंसी को तोड़ोगे तो शायद नई बात बनेगी। तब मैंने एक लंबी कहानी 'मगर शेक्सपियर को याद रखना' लिखी जो एक तरह के मेरे भीतरी बदलाव को प्रस्तुत करती है। अब हालत ये है कि मुझे कोई भी बात कहने के लिए जिसे भावात्मकता या सघनता कहते हैं वो कहने के लिए मुझे बहुत सारी चीजों से डील करना पड़ता है और अभी मैंने संगीत पर एक उपन्यास लिखा है। मित्रों को पसंद आया है। संगीत के इस उपन्यास की सिर्फ रीडिंग हुई है, अभी वो छपा नहीं है। उसका नाम 'जलतरंग' है और आप संगीत को उपन्यास में कैसे बदल सकते हैं या संगीत को आप भाषा में कैसे बदल सकते हैं या संगीत को आप अपने जीवन संगीत से, और बाहर के शोर से उसके भीतर का जो सिंक्रोनाइजेशन है वो जो टूटता है बार-बार शोर के कारण, कैसे रिलेट कर सकते हैं? शोर और संगीत साथ-साथ रहता है, संगीत शोर के भीतर ही है और आप ये नहीं कह सकते कि यहाँ संगीत को अलग कर दिया, शोर को अलगा दिया। आपको उसके भीतर ही संगीत की तलाश करनी पड़ती है। तो ये उपन्यास कुछ इस तरह का बनता है।

'क्या पता कामरेड मोहन' में मैंने बहुत सारे विचारात्मक संघर्ष की बात की थी, लेकिन उसमें अंत में जीवन-संगीत की बात ही की गई थी, तो मुझे ऐसा लगता है एक फ्रीक्वेंसी को तोड़ना एक अंतर्लय को प्राप्त करना, धीरे-धीरे एक तरह की आध्यात्मिक चेतना तक पहुँचना बहुत जरूरी होता है, जिससे कहानियाँ भी अलग तरह से बनती हैं और उपन्यास भी अलग तरह से बनते हैं और जीवन की समझ भी अलग तरह से बनती है। तो ये प्रयास में लगातार करता हूँ। दूसरी बात जो कहना चाहता हूँ अपनी कहानी के बारे में या पाठ के बारे में, मैं जब भी कहानी लिखता हूँ या पाठ करता हूँ तो सबसे पहले मेरे दिमाग में दर्शक या श्रोता रहता है, मतलब मेरे दिमाग में कहानी का खुद का ट्रीटमेंट या ऐसी कोई बात नहीं रहती है कि मैं उसका ट्रीटमेंट क्या कर रहा हूँ, मेरे मन में ये रहता है कि, उदाहरण के लिए, अगर राजेश सामने बैठे होंगे या हेमंत होंगे और सामान्य श्रोता होगा तो उसको ये चीज कैसी लगेगी। इसीलिए पाठ करने के पहले मैं बड़ा रिहर्सल करता हूँ। मतलब मैं इस बारे में बड़ा सचेत रहता हूँ कि मैं जो कर रहा हूँ, कह रहा हूँ या प्रस्तुत कर रहा हूँ, उसके बारे में वो परफार्मेंस जैसा हो, प्रॉपर माड्यूलेशन उसके अंदर हो, उसमें प्रॉपर भावाकुलता हो, उसमें कहने का एक अंदाज हो, ये चीज सामने जाये और श्रोता को पसंद आये। ये मेरी पहली शर्त है। मैं अक्सर ये जानना चाहता हूँ कि मैंने जब पाठ किया तो तुम्हें कैसा लगा। यदि हम पाँच दोस्त भी बैठे हैं और मैं एक कहानी उनको सुनाता हूँ तो पूरी तैयारी करके सुनाता हूँ। ये पाँच दोस्त हैं अपना टाइम मेरे ऊपर बरबाद कर रहे हैं और मैं कोई नई बात उनके सामने कहना चाहता हूँ तो भले ही मुकेश वर्मा, महेन्द्र गगन हों, मैं कहानी के बारे में किसी भी चीज के बारे में तैयारी करके जाने में विश्वास करता हूँ। इसीलिए मेरा पाठ कहानी की पूरी भावाकुलता को प्रस्तुत कर पाता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि जो भी कला आप प्रस्तुत करना चाहते हैं क्या वो श्रोता और दर्शक से विच्छिन्न है? नहीं है। सबसे पहले आपको दर्शक को सामने रखना है, श्रोता को सामने रखना है और उस तक वो संप्रेषित हो पा रही है या नहीं, कला खुद अपने आप में तैयार है या नहीं?

और जब मैंने कहानी लिखी तो मैं चाहता हूँ कि यह कहानी सुनाई जाये और उसका मंचन हो। ज्यादा जरूरी है कि हम उसके बीच श्रोता को लायें दर्शक को लायें और ये देखें अंत में जो बात आपने कही, वो उस तक पहुँची या ना पहुँची! उसके लिए विधा का उपयोग आपने किया हो, ये संभव है। हो सकता है कि मैं थोड़ा बहुत अभिनय में विश्वास रखता हूँ। मैं कविता में मंचन इसीलिए लाया कि कविता-पाठ आजकल बहुत फ्लैट तरीके से किया जाने लगा है और ये हमारी बार-बार बहस होती है कि कोई कविता को इतना डल और बोरिंग तरीके से क्यों पढ़ता है! यदि आपने कविता लिखी है, सघन कविता लिखी है तो उसे उतनी सघनता से आपको पढ़ना भी चाहिए। तो मंचन की जरूरत वहाँ पड़ती है। जहाँ कल की कहानी में मुझे एक बात कहनी है। मुझे खुद ही बहुत सारी चीजें समझ आई कि अच्छा उसमें ये भी अंडरटोन था, जब मैंने लिखा तो मेरे मन में होगा। वो बहुत सरल तरीके से उसमें रहा होगा, लेकिन एक अच्छा निर्देशक ये काम करता है, उस कहानी के बहुत सारे अंडरटोंस को बाहर निकाल देता है और वो कई लोगों के मन में अलग-अलग तरह के पाठ प्रस्तुत करती है और वो ऐसा करती है तो वो उसे और विस्तारित करती है, उसकी ताकत को बढ़ा देती है। तो मंचन में ये बहस मायने नहीं रखती कि किस टेक्नीक का यूज करेंगे, सबसे ज्यादा जरूरी बात ये है कि आपने कहानी की ताकत को बढ़ाया कि नहीं बढ़ाया, उसका विस्तार किया कि नहीं किया? जैसे फैंटेसी के बारे में मैं कहता हूँ। कई बार लोग फैंटेसी के टूल को इसलिए इस्तेमाल कर लेते हैं कि उनको फैंटेसी के इस टूल को चमत्कार के रूप में इस्तेमाल करना है। या हमारे लोक कलाओं और लोक संगीत पर बेस नाटक हुए सिर्फ इसीलिए कि वो एक मधुरता पैदा करें। लेकिन फैंटेसी का इस्तेमाल अगर हमारे मूल सत्य को विस्तारित न करे तो वो टूल बेकार है। उसी तरह से यदि हम मंचन कर रहे हैं या हम किसी और विधा का इस्तेमाल कहानी के प्रस्तुतिकरण के लिए कर रहे हैं तो हमको ये देखना होगा कि क्या उसने कहानी के अंडरटोन को खोला? क्या उसने कहानी के अर्थ को विस्तार दिया? क्या उसने कहानी का पुनःपाठ किया? रिइंटरप्रिटेशन भी एक चीज होती है।

हमारी पूरी आलोचना एक तरह का रिइंटरप्रिटेशन ही है। तो जब आप ये करते हैं तो प्रश्न उठता है कि क्या वो दर्शक के मन में गया या नहीं गया?

अब तीसरी बात इस संदर्भ में ये है कि कहानी में जो भी कहा गया वो भाषा के माध्यम से ही कहा गया। अगर मैं दृश्य बना रहा हूँ तो वो भाषा से बन रहा है, अगर मैं चित्र बना रहा हूँ तो वो भाषा से बन रहा है, उसका टूल शब्द और वाक्य है जो भाषा के माध्यम से बन रहा है। क्या ये परिमिसिबल है कि कहानी को हम डिकंस्ट्रक्ट कर दें और फिर भी उसे कहानी कहें? डिकंस्ट्रक्ट होने के बाद क्या कहानी, कहानी रह जाती है? कहानी में एक नैरेटिव है, कहानी में कुछ संवाद हैं, कहानी में कुछ और टूल्स का इस्तेमाल किया गया है। अगर आप कहानी को अलग-अलग तरह से तोड़ के प्रस्तुत करें तो क्या वो फिर भी कहानी रह गई? अब ये सवाल बहुत ही कठिन सवाल है। मेरी पहले वाली कसौटी पर जाँचा जाये कि अगर हम कहानी में कहे हुए कथ्य का विस्तार कर रहे हैं तो ये कर सकना शायद संभव होगा। और ये हमारे मित्र ने भी कहा अपने कुछ और दोस्तों ने भी ये बात कही। विभा मिश्रा ने मेरी तीन कहानियों को मिलाकर मंचन किया था और टेक्नालॉजी का प्रयोग इतनी अच्छी तरह से किया था कि भारंगम में चयन हुआ और वहाँ वह बहुत सराही गयी। उसमें 'बीच प्रेम में गाँधी' भी थी, 'उनके हिस्से का प्रेम' और 'मुश्किल' कहानी से वह शुरू होती थी। उस समय मुझे लगा कि विभा ने जो टेक्नीक का प्रयोग किया है, प्रस्तुतिकरण किया है, ये चमत्कार पैदा करने वाला था और एनएसडी के बहुत से बच्चों को ये पसंद आया, अंकुर जी को भी याद रहा। कल जो कहानी हुई तो मुझे लगा कि पूरी की पूरी कहानी को इंटेक्ट रखते हुए भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक दृश्य के भीतर दृश्य घुलता नजर आता है कि आपको मालूम ही नहीं पड़ता और फिर भी कहानी पूरी बनती है। उसका पूरा फ्लो और ताकत और जो आलोक शक्ति की बात कर रहे थे, सारे एक्टर्स ने दिखायी। तो किसी भी एक तरह का झुकाव अपने मन में रखना थोड़ा अन्याय लगता है। मैं विभा को भी याद रखना चाहूँगा और अंकुर जी की

कहानी को भी याद रखना चाहूँगा। लेकिन यदि आप बैलेंस ऑफ ओपिनियन देखेंगे तो कल के पूरे थॉट के बाद मेरा बैलेंस ऑफ ओपिनियन है शायद कहानी को पूरा इंटेक्ट करते हुए नाटक करना। लेकिन इसके लिए आपको ज्यादा मेहनत करनी पड़ेगी। आपको बहुत अच्छे एक्टर्स चाहिए, कलात्मकता व्यापक चाहिए तो वो उस तरह से हो सकता है। थोड़ा टेक्नीक का यदि उपयोग किया जायेगा तो ज्यादा सरल हो सकता है। तो विभा की कहानियाँ भी बहुत अच्छी हुई थीं और मुझे लगता है कल की कहानी इस बात को मेरे मन को, इस तरह झुकाया है कि कहानी की भाषा के साथ के प्रस्तुतिकरण ने सही-सही ट्रीटमेंट किया जाये और वाचिक रूप से भी कहानी को प्रस्तुत किया जा सकता है।

जहाँ तक ड्रामेटिक एलीमेंट का सवाल है, मुझे दादा हर बार याद आते हैं। ये बहस जो है वो चालीस-पचास साल पुरानी बहस है। दादा ने रामनाथ सुमन को, माया के संपादक को, जो पत्र लिखा वो अभी भी रखा हुआ है उनकी हैंड राइटिंग में। वो रामनाथ सुमन ये कहते हैं कि मुझे विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की कहानी जो समतल मैदान की तरह है बिलकुल पसंद नहीं आती है। मुझे कहानी में ड्रामेटिक एलिमेंट जरूरी लगता है। दादा, मतलब वनमाली जी जो मेरे पिता थे, शुरू में मैं इस बात को समझ नहीं पाता था लेकिन वनमाली जी ने ये बात पचास साल पहले कही थी कि मुझे कहानी में ड्रामेटिक एलीमेंट मिलना जरूरी लगता है। मुझे उस थॉट से हर बार एक इंस्पीरिशन जैसा मिलता है, हालाँकि जैसा आपने कहा, मेरे यहाँ ड्रामा बहुत साइलेंट है और वो भीतर होते जा रहा है। उसमें मैंने एक टेक्नीक निकाली है कि ड्रामा घटित होता है लेकिन ये बहुत धीमे से घटित होता है। आपके जो एंटीना और संवेदनशीलता के टूल्स हैं, उन्हें गहराई से उन्हें पकड़ सकना चाहिए... लेकिन ड्रामा है तो। और दूसरी बात मैं कहानी कहता हूँ। मुझे लगता है कहा जाये। तो कहानी कहीं से भी शुरू होती है, जैसा एक पाठक ने कहा कि आपकी कहानी कहीं से भी शुरू होती है। तो जीवन कहीं से भी शुरू हो जाता है और वो कहानी जो घटित होती है उस पर्टिक्यूलर स्लाइस ऑफ टाइम में काट कर रखी गई है, इसीलिए वो कहीं से शुरू हुई है लेकिन उसके भीतर

का ड्रामा उसको एलिवेट करता है।

मित्रो, ये कुछ बातें मैंने अपनी कहानी की टेक्नीक के बारे में कहीं और मैं रिसर्च पर भी जोर देता हूँ। मुझे लगता है कि आज के जो युवा यहाँ पर बैठे हुए हैं, पुराने लोगों की बात अलग थी, आज का युवा कहानी में से कुछ प्राप्त भी करना चाहता है। यदि मैं कहूँ तो रोल डाल की कहानियाँ हैं। हममें से कुछ लोगों ने उन्हें पढ़ा कि नहीं पढ़ा, मुझे रोल डाल अच्छे लगते हैं। मुझे बहुत सारे भारतीय लेखक भी अच्छे लगते हैं, मुझे बहुत सारे विदेशी लेखक भी अच्छे लगते हैं। मुझे रोल डाल इसलिए पसंद हैं कि वो कहानी में जिस तरह से सूचना को लाते हैं, जिस तरह से तकनीक को लाते हैं, वो मुझे आकर्षित करती है। मैं अपने बच्चों से भी बात करता हूँ और लोगों से भी बात करता हूँ कि वे कौन-सा फिक्शन पढ़ते हैं। मेरे लिए ये जरूरी है कि पाठक क्या पढ़ता है, दर्शक क्या देखता है और वो भी कलात्मक रूप से हो जाये। तो मैं बहुत से लोगों से बात करता हूँ और ऐसा मैं महसूस करता हूँ कि ज्ञान के संसार की वृद्धि होना चाहिए और बहुत सारे विषयों में आवाजाही करता हूँ। राडार पर मेरी एक कहानी है, जिसमें मुहूर्त की तलाश होती है वहाँ भी मुझे ड्रामा दिखता है, दृष्टि के हिसाब से कहानी दिखती है। ये कुछ बातें थीं जो आपसे मैं शेयर करना चाहता था। शायद इन कारणों से मेरी कहानियों को ज्यादा ड्रामेटिक माना गया है और अंत में अगर मैं आभार प्रकट करूँ, इतने अच्छे वक्ता हमारे बीच में थे– नन्दकिशोर आचार्य थे, अंकुर जी से मैं शुरू से प्रभावित हूँ। दिल्ली में रहा एनएसडी बहुत जाता भी था, मलकानी जी भी झारखंड से आये और उन्होंने टूल्स की बातें कहीं। हमारे भोपाल के मित्रों ने भी बहुत-सी बातें कहीं, आप सब यहाँ बैठे, आप सबका मैं बहुत बहुत आभार व्यक्त करता हूँ। मुझे लगता है कि ये बहस जो है जिस जगह पर आचार्य जी ने समाप्त की और मैं उससे सहमत होना चाहूँगा कि कहानियों के मंचन को लेकर कई तरीके हो सकते हैं। इन सभी तरीकों की अपनी-अपनी वैलिडिटी है, लेकिन वह सफल तब होगी जब उसमें भावाकुलता हो, कलात्मकता हो। और मैं ये जोड़ना चाहूँगा कि उसमें एक तरह से मूल को विस्तारित कर सकने की क्षमता हो। उसमें

रिइंटरप्रिटेशन करने की, पाठक की क्षमता को, श्रोता की क्षमता को, बढ़ा सकने की भी क्षमता हो तो वो और भी बड़ा काम करेगी। तो ये सफल प्रयोग माना जायेगा। मित्रो, आप सबका बहुत-बहुत आभारी हूँ, आज जो हमारा ये प्रकल्प कल से चल रहा है, सुबह का नाटक शाम का नाटक और आज की गोष्ठी अपने-आप में एक बड़ा माइलस्टोन है। ये जरूर कहना चाहूँगा कि थियेटर में विचार की वापसी होना चाहिए। ऐसा हुआ है कि थियेटर बहुत ज्यादा ऐक्शन ओरियेंटेड, बहुत ज्यादा फिजिकल होता जा रहा है। उसमें विचार, वैचारिकता आनी चाहिए जैसी आंदोलन के समय थी, जैसा रामप्रकाश ने जिक्र किया, उस समय अलग तरह की बात थी। पॉलिटिकल थियेटर भी था और बॉडी लैंग्वेज की बात भी थी। लेकिन जिस तरह की वैचारिकता का आवाहन आचार्य जी करते हैं, उस तरह की वैचारिकता की वापसी होना चाहिए। अगर ऐसा होगा तो थियेटर नेक्स्ट लेवल पर जायेगा। आप सब आये, इसके लिये बहुत-बहुत धन्यवाद।

विनय उपाध्याय

बस दो मिनट और। आपने अपने धैर्य का परिचय दिया, वो भी रेखांकित करना चाहूँगा। हमारे अतिथियों को हम स्मृति-चिन्ह देना चाहेंगे। चौबे जी से निवेदन करता हूँ कि आचार्य जी को प्रतीक-चिन्ह भेंट करें। मलकानी जी, राजेश जोशी, रामप्रकाश जी, उदय शहाणे जी, बालेन्द्र, सुदीप, सौरव, गोपाल दुबे, आलोक चटर्जी, संजय मेहता, अशोक बुलानी। इस दो दिवसीय नाट्य समारोह का समापन आज शाम 7 बजे, संतोष चौबे जी की कहानी 'लेखक बनाने वाले' का मंचन, जिसका निर्देशन अनूप जोशी बंटी ने किया है, के साथ होगा। शाम की सभा में हम आप सबको सादर आमंत्रित करते हैं। इसी के साथ हमारा आज का वैचारिक सत्र संपन्न होता है। आप सबका बहुत-बहुत धन्यवाद।

देवेन्द्रराज अंकुर के निर्देशन में 'गरीबनवाज' की प्रस्तुति के बाद नाटक के कलाकारों को अभिनन्दित करते हुए 'गरीबनवाज' के लेखक श्री संतोष चौबे।

4

विधागत वर्चस्व से होड़ लेती कविता

साहित्य-पर्व के अवसर पर आयोजित कविता केन्द्रित विमर्श

22 सितम्बर 2015 को संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति के अवसर पर आयोजित साहित्य पर्व 24–26 अक्टूबर के बीच सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर हालाँकि संतोष चौबे की कविताई केन्द्र में थी, पर कविता के व्यापक परिदृश्य तथा 'विधागत वर्चस्व से होड़ लेती कविता' विषय पर देश के प्रमुख कवियों, आलोचकों और रचनाकारों ने हिस्सा लिया। इसमें शामिल थे– मुकेश वर्मा, प्रकाश उप्रेती, आशीष त्रिपाठी, निरंजन श्रोत्रिय, मोहन सगोरिया, विष्णु नागर, महेन्द्र गगन, लीलाधर मंडलोई और नरेश सक्सेना। यह सत्र आईसेक्ट विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुआ।

विधागत वर्चस्व से होड़ लेती कविता

मुकेश वर्मा
अर्ज करता हूँ, इस सुहाने मौसम में, आज सुबह जैसा आपने देखा, यह खूबसूरत जगह है, जहाँ पर हम बैठे हैं। इसमें कविता जैसे गंभीर विषय पर कुछ विचार करेंगे और इसके लिए हमारे पास जो आधार है, वह है संतोष चौबे जी की कविताओं का सहारा, जो हमें मिलेगा। जिसके बहाने, हम कविता को लेकर और उसके विभिन्न पक्षों को लेकर यहाँ बातचीत करने का प्रयत्न करेंगे। इसमें आपकी साझीदारी गंभीरता के साथ चाहेंगे। यह सत्र हमारा एक से डेढ घंटे तक चलेगा और इसमें आपकी उपस्थिति और आपकी भागीदारी बहुत महत्त्वपूर्ण रहेगी। इसीलिए उम्मीद और आशा के साथ मैं यहाँ बहुत विनम्रता के साथ विनय उपाध्याय जी से निवेदन करता हूँ कि हमारे आज के मेहमान हैं, उन्हें मंच पर लेकर आयें।

नरेश सक्सेना जी से हमारा निवेदन है कि हमारे कार्यकम की अध्यक्षता को स्वीकार करें। हम उन्हें प्रणाम करते हैं। वे देश के बहुत ही प्रतिष्ठित रचनाकार हैं। नरेश जी इंजीनियर हैं और हमारी और चौबे जी की बिरादरी के हैं। उसके बाद वे कवि हैं और वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण कवि हैं। हम उनका स्वागत करते हैं। जोरदार तालियाँ जरूर बजायें, ताकि ये माहौल जीवंत हो जाय, जैसा कि कविता जीवंत होती है। विष्णु नागर हमारे बीच हैं। उनकी प्रतिष्ठा एक संपादक की है और एक रचनाकार और कवि की है। हम उनका बहुत सम्मान करते हैं। लीलाधर मंडलोई ज्ञानपीठ जैसी संस्था से हैं। वे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। हम उनका स्वागत करते हैं। निरंजन श्रोत्रिय जी को आप लगातार पढ़ रहे होंगे। बड़ा ही सुंदर काम वो आजकल अपनी पत्रिका ‘समावर्तन’ में कर रहे हैं। वे

देश के युवा कवियों को उसमें शामिल करते हैं। उसका संपादन करते हैं। हम उनका सम्मान करते हैं, स्वागत करते हैं, आदर करते हैं।

आशीष त्रिपाठी हमारे बीच हैं। मैं उनका भी स्वागत करता हूँ। उन्हें सम्मानपूर्वक मंच पर बुलाता हूँ। ये युवा आलोचक हैं और बनारस से हैं। बहुत गंभीरता से सुंदर काम वे साहित्य में कर रहे हैं। उनका इसके लिए सम्मान किया जाना चाहिए। मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। महेन्द्र गगन जी बहुत सुंदर प्रेम की कविताओं के लिए जाने जाते हैं। प्रेम कविताओं पर उनका बड़ा गंभीर काम है और इस समय प्रेम बड़ी केन्द्रिय भूमिका निभा रहा है। पूरी जड़ता का वातावरण आज देश में है। इससे प्रेम महत्त्वपूर्ण विषय हो जाता है जो हमें इस सारे संकट से उबार सकता है। तो महेन्द्र गगन का स्वागत है। प्रकाश उप्रेती जी जो आज के कार्यक्रम का आधार वक्तव्य भी रखेंगे, इनका तालियों के साथ स्वागत किया जाये। इन्हीं के विचारों के बाद आज के कार्यकम की पूरी बातचीत चलेगी, उन तमाम मुद्दों का जिक्र होगा जिनका आज की कविता सामना कर रही है।

हम स्वागत करते हैं, मोहन सगोरिया जी का जो आपके ही बीच के हैं। वे बहुत ही सुंदर कविता के साथ हमारे बीच में आये हैं। वे नये और युवा कवि हैं। हिंदी कविता की दिक्कत यह है कि 30-40 और 50 साल के कवि की युवा कवि की तरह शुरुआत होती है। मोहन सगोरिया जी को लिखते हुए बड़ा समय हो गया है। कई पत्रिकाओं का उन्होंने संपादन किया है। इस बीच उनका कविता संग्रह आया है, जिसकी चर्चा है। संतोष जी ने इसकी भूमिका लिखी है। उनकी आगे भी सुंदर रचनाएँ आती रहेंगी।

मैं विनय उपाध्याय जी से निवेदन करूँगा कि वो फूलों से हमारे सभी अतिथियों का स्वागत करें। यह स्वागत आपकी सबकी ओर से है। तालियों के साथ स्वागत करें। हम अतिथियों का हृदय से, बहुत प्रेमपूर्वक स्वागत करते हैं। वे हमारी इस विनम्रता को स्वीकार करें। इस आग्रह को स्वीकार करें।

कमलेश शर्मा जी से निवेदन है कि वे लीलाधर मंडलोई और प्रकाश उप्रेती जी का स्वागत करें। आशीष त्रिपाठी और महेन्द्र गगन के स्वागत के लिए प्रशांत सोनी जी निवेदन है कि वे आयें और उनका स्वागत करें।

यह जो लोग स्वागत में शामिल हैं, हमारे-आपके तरफ से जो अपने स्वागत-भाव प्रस्तुत कर रहे हैं, वो सब हमारे बीच से हैं। ये वो लोग हैं जिनकी इस आयोजन के पीछे बड़ी मेहनत है। मै उनका भी स्वागत करता हूँ। रवि जैन साहब से निवेदन है कि वे प्रकाश उप्रेती जी और मोहन सगोरिया जी का स्वागत करें।

यह जो स्वागत की तीव्रता है, कविता में इसकी बड़ी केन्द्रिय भूमिका है। जिस तरह से आप लोग शामिल हुए हैं, मै चाहूँगा कि आगे होने वाले विमर्श में भी आप शामिल हों।

चौबे जी की कविता पर बात यहाँ पर हो रही है। हम और आने वाले वक्ता यहाँ पर कविता पर विस्तार से बातचीत करेंगे। यहाँ आज सबसे महत्त्वपूर्ण चौबे जी की कविता है। सबसे पहले हम उन्हें बधाई देते हैं। जो यह उनकी वर्षगाँठ का सिलसिला चल रहा है, यह हमारा मंच जो यहाँ पर उपस्थित है, सारे रचनाकारों की तरफ से हम उनके यशस्वी जीवन के लिए उनकी इस वर्षगाँठ पर उन्हें बधाई देते हैं। हम जो साहित्य-पर्व मना रहे हैं, जिसका बहाना उन्होंने हम सबको दिया है, हम सारे मित्र-गण यहाँ जो बैठे हैं और रचनाकार, अपनी तरफ से उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं। आप भी तालियों के साथ स्वागत कर उन्हें बधाई दीजिये, उनका स्वागत कीजिये, हम उनके यशस्वी जीवन की कामना करते हैं।

इसी कामना के साथ यह मंच आज की कार्यवाही को प्रारंभ करने के लिए प्रकाश उप्रेती जी को आमंत्रित करता हूँ। उप्रेती जी युवा आलोचक हैं। उनसे मेरा निवेदन है कि वे अपना आधार वक्तव्य यहाँ पर रखें, जिससे आज की बातचीत आगे बढ़े। प्रकाश उप्रेती जी का तालियों के साथ स्वागत करें।

प्रकाश उप्रेती

आदरणीय मंच और सभागार में बैठे साथियो, जैसा कि कविता का विषय है 'विधागत वर्चस्व से होड़ लेती कविता', इसके बहाने से हमें संतोष जी की कविताओं पर भी बातचीत करनी है। लेकिन इस विधागत वर्चस्व से होड़ लेती कविता से पहले कुछ प्रश्न खड़े करना चाहता हूँ? आखिर

कविता की होड़ किससे है? क्या यह होड़ है भी या यह एक हल्ला है, एक चीज। दूसरा यह कि आखिर क्यूँ? अन्य विधाओं का वर्चस्व है तो हम यह देखें कि साहित्य का भी वर्चस्व बन रहा है या जिस हैजेमनी की बात हम लोग करते हैं या जिससे राजनैतिक या सांस्कृतिक वर्चस्व बन पाता है, साहित्य का वैसा वर्चस्व समाज में बन पा रहा है या नहीं?

आखिर उस वर्चस्व के कारण क्या-क्या बन पा रहा है? और कविता से उनका क्या कनेक्शन बनता है? इन सब चीजों पर हम बातचीत करेंगे। तो इस आधार वक्तव्य को मैं उन्हीं संदर्भो के साथ शुरू करता हूँ।

समकालीन हिंदी कविता के समक्ष उपस्थित आसन्न संकट और पूँजीवाद और तकनीक के गठजोड़ से उपजी शुष्कता की चर्चा, पिछले कुछ वर्षों से निरंतर गंभीर बहस का विषय बनी हुई है। 20वीं सदी को, जिसको कथा साहित्य की सदी माना जाता है, माना गया कि जीवन के जटिल और संश्लिष्ट यथार्थ को व्यक्त करने में कथा साहित्य ने बड़ी भूमिका निभाई है। इसी के साथ ही कविता की विधा को हाशिये के तौर पर देखा जाने लगा। कविता के संदर्भ में कई बातें कही जाने लगीं। जिनमें कविता के अंत से लेकर कविता के मृत होने की घोषणा बड़े-बड़े आलोचकों ने की। वह किताब आपको याद होगी। कहा गया कि कविता संचार के मकड़जाल में तेजी से बदलते समय को पकड़ पाने में कहीं चूक रही है। और यह अपने समय के यथार्थ को पकड़ नहीं पा रही है। इसलिए कविता की सामाजिक जरूरत को लेकर इसकी पहचान के सफर तक जोरों-शोरों से बातें होने लगीं। कवि भी कविता के माध्यम से कविता की जरूरत पर सवाल उठाने लगे। मंगलेश डबराल ने लिखा-

कुछ देर के लिए मै कवि था, कि पुरानी मरम्मत करता हुआ सोचता हूँ कि कविता की जरूरत किसे है?

कवि की यह चिंता कि कविता की जरूरत किसे है? पिछले तीन दशकों की कविताओं के संकट के कौन-कौन से कारण हैं? या कविता पर संकट है भी या यह विधागत वर्चस्व का मसला है? जब भी कविता के संकट पर बात की जाती है तो कुछ बिंदुओं को लेकर अकसर चर्चा होती है। जो पिछले तीन दशकों से चली आ रही है, लगातार वो कुछ बिंदु

इस तरह से बनते हैं कि कविता की पाठकों पर से पकड़ कमजोर हो रही है। दूसरा कि आज भी कविता सुगमता से ग्राह्य नहीं है और दिन प्रतिदिन दुरूह होती जा रही है। तीसरा यह कि कविता अपने समय के यथार्थ को पकड़ने में कहीं चूक रही है अन्य विधाओं के मुकाबले।

चौथा एक विचारधारा का मसला है जो पुराना है लेकिन लगातार विषय के तौर पर बना रहता है कि कविता में विचारधारा के आने से कविता में उसका काव्य-तत्त्व थोड़ा कम हो जाता है। इस तरह की लगातार बहसें कविता में बनी रहीं।

लोग इस समय अक्सर कहते हैं कि बुरी कविताओं के ढेर में अच्छी कविताएँ कहीं ना कहीं नीचे दब गयीं हैं, इसलिए यह भी कविता पर एक बड़ा संकट है।

फिर यह भी कि शिल्प और बाजार में चमकने की होड़ ने कविता के मूल को नष्ट करने मे सबसे बड़ी भूमिका निभाई है। चूँकि बाजार का एक सीधा-सा संदर्भ है कि जो दिखेगा वही बिकेगा और दिखने और बिकने की होड़ में जो अच्छी कविता है, वह कम से कम पीछे तो रहेगी।

कविता का गद्य रूप भी आलोचकों को बड़े संकट के तौर पर नजर आता है। खैर कुछ ही आलोचकों का मानना है कि काव्य प्रयोजनों की अनदेखी करना भी कहीं ना कहीं कविता के लिए संकट की तरह है।

कविता का अनुभव-संसार सिकुड़ता जा रहा है। हम एक स्पेस में बँध रहे हैं। एक बड़ा अनुभव था जो कहीं ना कहीं हमसे छिनता जा रहा है, इसलिए कविता पर संकट आ रहा है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कविता से कवित्व गायब हो रहा है।

यह कुछ ऐसा बिंदु है जिस पर लगातार दो-तीन दशकों से कविता के संकट और जिस विषय पर हम बातचीत कर रहे हैं, इसके मूल में, लगभग रेखांकित किये जा रहे हैं। यह कुछ बिंदु हैं जिनको लेकर आलोचकों को कविता पर संकट नजर आता है। अब प्रश्न उठता है कि कविता कवियों का संकट है या आलोचको का भी संकट है? क्योंकि कविता में आलोचकों की भी बड़ी भूमिका होती है। सवालों में कविता के भविष्य का सवाल भी कहीं छिपा है। बिना इस पर विचार किये वर्तमान

कविता के कैनवास को समझना थोड़ा मुश्किल है क्योंकि यह बात तो सच है कि कविता पर चौतरफे हमले हो रहे हैं। उसके रूप से लेकर अंतर्वस्तु तक और अच्छी एवं सच्ची कविता से लेकर बुरी कविता तक को लेकर एक बहस का माहौल है, जो खड़ा किया जा रहा है इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है।

कविता के प्रति पाठकों की रुचि कम हुई है। भले ही कई कारण रहे हों पाठकों की रुचि का। इस आलोचना की मौजूदा स्थिति के संदर्भ में राजेश जोशी की एक कविता है–

मच्छरों द्वारा कवियों के काम में पैदा की गयी
अड़चनों के बारे में अभी तक आलोचना में विचार नहीं किया गया है।
ले देकर अब कवियों से ही उम्मीद बची हुई है,
कि वे कविता की कई अलक्षित खूबियों और दिक्कतो के बारे में सोचें
जिन पर आलोचना के भीतर सोचना निषिद्ध है।

एक कवि जो अकसर नाराज रहता है, बार–बार यही कहता है– बच्चो, ऐसे क्लास रूम के अगल–बगल से भी मत गुजरो जहाँ हिंदी का अध्यापक कविता पढ़ा रहा हो। और कविता के बारे में राजेंद्र यादव की बात तो बिल्कुल मत सुनो।

आखिर क्यों नहीं सुनें? इस पर थोड़ा–सा ठहर कर हम विचार करें लेकिन मैं आगे चलता हूँ। आखिर कविता को लेकर पाठकों में इतनी उदासीनता क्यों है? इस बात पर विचार करना भी उतना ही जरूरी है। जहाँ तक प्रश्न है, कविता के फार्म या रूप से जुड़ा हुआ प्रश्न है, कविता में जितना चमत्कार को पैदा करने की कोशिश की जायेगी कविता उतनी ही कठिन और दुरूह होती चली जायेगी। इसलिए कठिन काव्य के प्रेत भी कविता में ही मौजूद हैं। लेकिन कविता की दुरूहता का प्रश्न सब कवियों के साथ नहीं जुड़ता है, इसलिए इसे कविता के संकट की तरह सामान्य तौर पर देखना, कविता की अनदेखी करना है। जिस वर्चस्व की बात को लेकर हम लोग बात कर रहे हैं और जिसके पीछे के कारणों को ट्रेस करने में, मैं अपने आपको असहज पा रहा हूँ कि कविता का संकट और कविता पर हो रहे चौतरफे हमले, खासकर कवियों और आलोचकों

की अपनी बहस, उसके कारण हम लोग कहीं ना कहीं विधागत वर्चस्व के मसले पर भी बात कर पा रहे हैं और यहाँ तक अपनी बात पहुँच रही हैं।

अवध नारायण ने यतीन्द्र मिश्र को अपना एक इंटरव्यू दिया और उसमें उन्होंने जब प्रश्न किया तो अवध नारायण क्या कहते हैं, कोट है अवध नारायण जी का, ''कविता को लेकर खतरा तभी नजर आता है, जब हम उसे जीवन की किसी ना किसी तरह की स्थूल या भौतिक चेष्टा के विरुद्ध या समतुल्य रखकर सोचते हैं। कविता का जीवन हजारों साल पुराना है और आज भी उतना ही नया भी है। ऐसे कितने समय आये हैं जब लगा कि कविता समाप्त हो जायेगी या उसका महत्त्व नहीं रह गया है, लेकिन अक्सर ऐसे विषम समयों में ही कविता ने मनुष्यता की आवाज को सबसे अधिक मुखर किया है। जीवन की तरह कविता के रूप भी बदलते रहे हैं और किसी ना किसी रूप में वह जीवन की तरह जीवित रहेगी। मनुष्य और कविता का घनिष्ठ संबंध है। जीवन के अंतर्द्वन्द्वों से कविता उपजती है, इसलिए जब तक मनुष्य रहेगा, तब तक कविता के खत्म होने का सवाल ही नहीं उठता है।''

उसके बावजूद भी कविता के भविष्य और संकट को लेकर आज जितनी चिंता है उतनी पहले कभी नहीं थी, जबकि पहले की अपेक्षा कविता का स्वर ज्यादा जनोन्मुखी और प्रतिरोधात्मक है। यह बात पूरे वैश्विक फलक पर देखी जा सकती है कि अन्य विधाओं से अलग कविता पूरे विश्व के मोर्चे पर तो अपनी लड़ाई लड़ ही रही है। याद कीजिये अमरीकी लेखक इमान्युल की कविता 'एक मिनट का मौन', जिसका अनुवाद असद जैदी ने किया है। अमरीकी सामग्रज्यवाद के खिलाफ लोगों के प्रति यह कविता 'एक मिनट के मौन' से एक सदी के मौन तक पहुँच जाती है।

वहीं राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, लीलाधर मंडलोई, वीरेन डंगवाल और अन्य कवि हैं जिनकी कविता अपने समय और समाज के विद्रोह और विद्रूप चेहरे को इंगित करती है और कविता के होने का हमें अहसास कराती है।

अब एक बड़ा प्रश्न, जो मैं कह रहा था कि कविता में विचारधारा के संकट को लगभग लोग शुरुआती दौर से रेखांकित करते आये हैं और कुछ लोगों ने कहा कि कहीं ना कहीं यह कविता को कमजोर कर रहा है लेकिन विचारधारा को लेकर हमारी समझ क्या बनती है?

पिछले दिन भी बात हुई है, लेकिन इसको लेकर हमारी समझ क्या बनती है? उस पर थोड़ी बात कि कविता में हमेशा विचाराधारा का मतलब इसके मार्क्सवादी विचारधारा में तब्दील हो जाना है जिसका बड़े-बड़े आलोचकों ने विरोध किया और कविता के संकट में विचारधारा के बढ़ते दखल को जिम्मेवार ठहराया गया। दरअसल विचारधारा को हम बहुत ही स्थूल अर्थ में लेते हैं। इस संबंध में हमारे पूर्वाग्रह भी अजीब किस्म के हैं। हम समझते हैं कि विचारधारा का अर्थ है, ऐसा राजनैतिक वक्तव्य जो रचना को प्रभावित करता है। वह रचना का सबसे बड़ा शत्रु है और रचना के स्वतंत्र विकास में बाधक है, जबकि कविता की महीन पड़ताल की जाये तो पायेंगे कि कविता में विचारधारा को लेकर अलग से कोई स्पष्ट रूप नहीं बनता है। लेकिन आदतवश हम हर कविता में कोई ना कोई विचारधारा खोज लेते हैं। जब हम ऐसा करते हैं तो हमारा पूर्वाग्रह काम करता है, जिसका कि जिक्र किया गया है।

कविता कभी भी राजनैतिक बयान नहीं हो सकती है और ना ही गणित का सूत्र। इसलिए कविता को समग्रता में समझें तो विचारधारा उसमें बाधक नहीं है बल्कि सहायक होगी, फिर चाहे वह प्रेम की कविता हो या क्रांति की कविता। विचारधारा कभी बाधक के तौर पर समाज में नहीं आ सकती है।

जब हम कविता के संकट और इसके साथ वर्चस्व की बात भी कर रहे हैं, तो किताब आई थी नन्दकिशोर नवल की, जिसका शीर्षक था– 'कविता : पहचान का संकट'। कविता के पहचान का संकट उनको क्यों नजर आ रहा है? उन्होंने लिखा, उनका ही कोट है कि "वैसे तो पहचान के संकट की शिकार साहित्य की सभी विधाएँ हैं, लेकिन कविता की आलोचना में यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष है। कारण यह है कि और विधाएँ किसी हद तक वस्तु-विश्लेषण को स्वीकार कर सकती हैं, कविता नहीं

कर सकती है। क्योंकि इसका सौंदर्य या कवित्व वो आधार है जिससे उसका वजूद अलग नहीं किया जा सकता है। आज हिंदी में काव्य आलोचना रचना के प्रतिमान सौंदर्य निरूपण के हैं। आलोचक रूपवाद और अपने को सामाजिक संदर्भ या वैचारिक अभिप्रायः तक सीमित देखने का आसान रास्ता चुन लेता है।''

जिस आसान रास्ते की बात आलोचक कह रहे हैं, वह इतना भी आसान नहीं है। सामाजिक संदर्भों से टकराव बिना कविता का रास्ता नहीं बनता। सामाजिक संदर्भों के बिना जो कविता बनी होगी, वह कल्पना ही होगी कविता नहीं। लेकिन मूल बात यह है कि कविता का संकट मूलतः कवि का संकट भी है या फिर यह काव्य आलोचना का संकट है। इस पर हमें विचार करना होगा। इसको प्रश्न के तौर पर यहाँ पर छोड़ रहा हूँ।

संतोष चौबे के लिए कविता राजनैतिक जुमला नहीं है, बल्कि जीवन के अनुभवों की यात्रा है। जीवन की छोटी-छोटी और मामूली चीजों में संघर्ष करने की ताकत कविता में होती है। ऐसी छोटी-छोटी चीजों और जीवन अनुभवों के कवि हैं, संतोष चौबे। उनकी कविता में ना कोई शोर है ना ही राजनैतिक जुमले, इसलिए रचना के संबंध में उनकी समझ भी अकादमिक कवियों की पूरी तैयारी से लिखने की समझ से पूरी तरह भिन्न है। उनकी कविताओं में भावों का बहाव सरलता और सौंदर्य की परिचेतना के साथ ऐंद्रिकता का संप्रेषण गहरे रूप में है।

अब इन संदर्भों और कविता के इस पूरे कैनवास पर और पूरा स्ट्रक्चर जो कविता का बन रहा है, इन संदर्भों में हम देखेगें कि संतोष चौबे जी की कविता हमें कहाँ नजर आती है। और आज के समय में उन कविताओं की क्या स्थिति बनती है। यहाँ हमें लगता है कि कविता दरअसल प्रकृति पर लिखी जा सकती है। कविता प्रेम पर लिखी जा

सकती है। कविता कोमल भावनाओं का संदर्भ है तो क्या विज्ञान और टेक्नोलॉजी से जुड़ा व्यक्ति कविता को विज्ञान से जोड़ सकता है।

संजीव का नया उपन्यास हमको ध्यान आ रहा है कि उन्होंने किस तरीके से विज्ञान के संदर्भों को लेकर उपन्यास लिखा। क्या कविता भी कहीं ना कहीं इन संदर्भों को रेखांकित कर रही है। तो इन संदर्भों को हमें देखना होगा। इन सबके बीच कई संदर्भ ऐसे हैं, जो बदलती परिस्थिति और राजनैतिक मुहावरों से अलग कविता के लिए एक स्पेस बना रहे हैं।

उनके लिए कविता राजनैतिक जुमला नहीं है, बल्कि जीवन के अनुभवों की यात्रा है। जीवन की छोटी-छोटी और मामूली चीजों में संघर्ष करने की ताकत कविता में होती है। ऐसी छोटी-छोटी चीजों और जीवन अनुभवों के कवि हैं, संतोष चौबे। उनकी कविता में ना कोई शोर है ना ही राजनैतिक जुमले, इसलिए रचना के संबंध में उनकी समझ भी अकादमिक कवियों की पूरी तैयारी से लिखने की समझ से पूरी तरह भिन्न है। उनकी कविताओं में भावों का बहाव सरलता और सौंदर्य की परिचेतना के साथ ऐंद्रिकता का संप्रेषण गहरे रूप में है।

एक कविता है 'आना जब मेरे अच्छे दिन हों'। काफी चर्चित कविता रही है। बहुत पहले मैंने इसको एक ब्लॉग पर पढ़ा था। इस लंबी कविता को पढ़ते हुए आप जीवन के बहाव में बहते चले जायेंगे। अच्छे दिन कब आयेंगे? यह कविता नहीं, बल्कि हमारे समय का सबसे बड़ा सवाल है। जो लगभग एक साल से और भी मुखर होकर सामने आ रहा है। वे अपनी कविता में कहते है कि-

आना जब शहर में अमन चैन हो
और दहशत से अधमरी ना हो रही हो सड़कें।
जब दूरदर्शन ना उगलता हो
किसी मदांध विश्व नेता के द्वारा छेड़े गये युद्ध की दास्तान।
आना जैसे ठंडी हवा का झोंका आया अभी-अभी।
आना जब युद्ध समाप्ति की घोषणा हुई हो अभी-अभी।

इन अच्छे दिनों की कल्पना कवि करता है। काश वे आ पाते! आज ऐसा कोई चैनल नहीं, जो युद्ध की विभीषिका के चित्र ना दिखा रहा हो।

और ऐसा राजनेता नहीं जो हर पल जहर ना उगल रहा हो। ऐसे कठिन समय में अच्छे दिनों की आहट स्वप्न-सी लगती है, लेकिन उन सबके बावजूद कवि में वह आशा बची हुई है। कवि को विश्वास है कि कभी तो अच्छे दिन आयेंगे और बुरा समय बीत जायेगा। कहते हैं कि कभी तो खत्म होगी परियोजना, 'कभी तो लौटेगी, हमारी पुरानी ताकत और उन्हीं के साथ कभी तो लौटेंगे हमारे अच्छे दिन!'

अच्छे दिनों की आशा कवि में लगातार बची हुई है। कविता की यही मजबूती भी है कि वह आशाविहीन नहीं होती है। परंपरा, संस्कृति, इतिहास के जरूरी संदर्भों, साहित्य और विज्ञान की गहरी समझ के साथ मानवीय सरोकारों से जूझते हुए संतोष चौबे अपने समय के सवालों की पड़ताल करते हैं।

अभिव्यक्ति के सिकुड़ते सवाल में भी वे कविता में आज कुछ बचा लेना चाहते हैं। बड़ी आकांक्षाओं व होड़ के बीच बस इतनी-सी इच्छा है कि 'आना जब धन बहुत ना हो, पर हो इतना कि बारिश में भीगते हुए ठहरकर, कहीं पी सकें, एक प्याला गर्म चाय'। सिर्फ इतनी आशा करते हैं कि एक प्याला चाय का कहीं पी सकें। बहुत कुछ ना समेटने की इच्छा और थोड़े में ही जीवन को बड़ा बनाने की सोच, यह दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है।

ऐसे में कवि की यह पंक्तियाँ हमारे समय को रास्ता भी दिखाती हैं। आज लोग ऐशो-आराम की तलाश में पूरा जीवन खपा देते हैं और खुद के लिए उनके पास थोड़ा-सा समय भी नहीं बचता। कभी इसी भाग-दौड़ भरे जीवन में रेत की तरह फिसलती इन छोटी-छोटी चीजों का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है, 'सुई' और 'जमीन पर पड़ी घड़ी' जैसी कविताओं के माध्यम से देखा जा सकता है।

घड़ी जमीन पर पड़ी है, अपने ऊँचे सिंहासन से गिरकर, झाँकती है।
दरक गये काँच के पीछे से अजीब दयनीयता के साथ।

घड़ी का शायद ही किसी ने इतना अच्छा मूर्त चित्रण किया हो! कवि के लिए घड़ी केवल समय बताने वाला यंत्र नहीं है, बल्कि जीवन का एक अभिन्न हिस्सा है। हमारे समय में बाजार का बहुत ही आतंक है और

कई बार हम बाजार का विरोध करते-करते उसी बाजार के अंबेसडर भी हो जाते हैं और कई बार हम कहते हैं कि हमारी कविता उसी बाजार का विरोध करती है। मतलब यह अपने आपमें कितना विरोधाभास है, इसका आलोचक कवि भी है। इस बारे में हमारे सीनियर लोग सोंचेगे।

बाजार ने मनुष्यता से लेकर कविता को नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। कविता के इस संकटमय बाजारवाद ने शिल्पगत एकरसता की बड़ी भूमिका निभाई है। बिकने, छपने तथा चमकने की इच्छा तथा बाजार की चकाचौंध ने कवियों के बड़े-बडे ढेरों को जन्म दिया है। कवियों की कविताओं को गौर से देखेंगे तो एक खास किस्म की एकरसता उसमें नजर आयेगी। कवि का नाम हटा दें तो कविता में फर्क करना मुश्किल हो जायेगा कि वह राम की या रहीम की है।

ऐसे दौर में जेनुअन कवि निःशब्द है क्योंकि कविताओं का ढेर बाजार में ज्यादा प्रभावी है।

मंगलेश डबराल की एक कविता है, वह कहते हैं– 'बाजारों में घूमता हूँ निःशब्द / डिब्बों में बंद हो रहा है पूरा देश, पूरा जीवन बिक्री के लिए / एक नई किताब है जो मेरी कविता के विरोध में आई है। / जिसमें छिपे सुंदर चेहरों को कोई कष्ट नहीं, / जगह-जगह ऋण की मुद्राएँ हैं, / विचार के बदले।'

बाजार के लिए ना मूल्य जरूरी है ना ही कविता का संस्कार। उसका तो सीधा-सा फार्मूला है– जो दिखेगा वही बिकेगा। दिखने का संबंध आत्मप्रचार से है, जो इससे बाहर होगा उसे बाजार धकिया ही देगा। बाजार की इस चकाचौंध ने कविता ही नहीं, मनुष्य की संवेदनाओं का भी गला घोंट डाला है। बाजार की दौड़ में जो पीछे छूट जाता है, वह कुचला जाता है। इस दौड़ में वही बचेगा जिसके पास क्रय की शक्ति है। जो बाजार को देगा, वही बचेगा– वो चाहे मनुष्य हो या कविता।

आप उपभोक्ता नहीं हैं और आपकी जेब में पैसा नहीं है तो बाजार में आपकी कोई भी हैसियत नहीं है। संतोष चौबे जी की एक कविता है। जिसकी कुछ पंक्तियों में वे कुछ इस प्रकार कहते हैं–

'काँच के पीछे वाले जूते ने हँस कर कहा

टुच्चे आगे बढ़ लो, मैं तुम्हारे बस का नहीं।'

यह कविता एक ऐसे बाप का बेबस चेहरा प्रस्तुत करती है जिसका बाजार में कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि उसके पास क्रय शक्ति नहीं है। बाजार भावनाओं और संवेदनाओं से नहीं, बल्कि पैसों से चलता है। कवि ने बहुत ही बारीकी से बाजार में असमर्थ खड़े पिता की बेबसी के साथ बाजार के चित्र को भी दिखाने की कोशिश की है।

कविता जीवन-अनुभवों की यात्रा है। हमारे जीवन-अनुभवों का दायरा जितना अधिक होगा, कविता उतनी ही समृद्ध होगी। आज के कवियों पर यह आरोप लगता है कि उनके पास सीमित जीवन-अनुभव है। उनके अनुभवों का दायरा संचार के मकड़जाल तक सीमित हो चुका है। यही कारण है कि कविता जमीन से जुड़ने की बजाय विमर्शों में सिमटती जा रही है। लेकिन संतोष चौबे की कविताओं में जीवन-अनुभवों की एक लड़ी नजर आती है। उनकी कविताओं से गुजरते हुए प्रतीत होता है कि आप एक लंबे जीवन की यात्रा में हैं। उनकी कुछ कविताएँ हैं जैसे जीवन-वृत, अनिवासी, चिकित्सक, अम्मा का रेडियो, आईना आदि। ये ऐसी हैं जो जीवन-अनुभवों की उपज ही हो सकती हैं।

विदेश में रह रहे बच्चों के माता-पिता का रूप और उनके आने की खुशी और उनके जाने का गम 'अनिवासी' कविता में कवि ने बहुत ही मार्मिकता से व्यक्त किया है। कविता की पहली ही पंक्ति है–

शहर की उस संभ्रांत बस्ती के उस विशाल अहाते वाले मकान में
सिर्फ गर्मियों में ही आती है बहार।

और कविता की अंतिम पंक्ति है–

घर पहुँचेंगे वो निढाल
जैसे छोड़ आये हों, शरीर का एक हिस्सा पीछे
और करेंगे अब अगली गर्मियों का इंतजार
जब फिर लौटेंगे जीवन और खुशी उनके घर में
तब तक रहेंगे वे अकसर बंद रहने वाले
उस विशाल अहाते वाले मकान में अनिवासी।

बच्चों के प्रवास का यह दुख आयातित नहीं बल्कि अनुभवों की उपज

है। कविता यह सोच, संघर्ष और जीवन के अनुभवों से बनता है। कवि ने उन अनुभवों की अभिव्यक्ति को बहुत ही सहज रूप में अभिव्यक्त किया है।

कविता अपने समय और समाज का जीवंत दस्तावेज होती है, इसलिए कवि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने समय की हलचल अंकित करे और हाशिये पर निःशब्द लोगों की आवाज बने। किसी अन्य विधा के मुकाबले कविता से यह अपेक्षा ज्यादा की जाती है। कविता कुछ शब्दों में कहने की अद्‌भुत ताकत रखती है। हो सकता है कि अन्य विधा ज्यादा खर्च करके भी अपनी बात ना कह सके। यही इसकी ताकत भी है।

20वीं सदी और 21वीं सदी के चरित्र को लेकर चंद शब्दों में एक कविता में एक कवयित्री ने लिखा कि सदी का एक इंसान अच्छा और ताकतवर एक साथ नहीं हो सकता। यह कविता की ही ताकत है जो वह यह कह रही हैं।

कविता आज भी हाशिये के समाज के साथ खड़ी नजर आती है। वर्चस्व और सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने पूरी दुनिया के पूरे समुदाय का जीवन छीन लिया है और सत्ता ने इसे नाम दिया विकास। आज आदिवासियों से उनकी जमीन, जंगल और जल को छीनने की कवायद जोरों पर है। कवि विकास के इस विकृत चेहरे पर तीक्ष्ण व्यंग्य करते हुए लिखता है कि 'मेरे अच्छे आदिवासियो / विस्थापित हो जाओ / ताकि हम स्थापित हो सकें। / लेकिन अपना पता दे देना, / कि बुलायेंगे हम तुम्हें / कभी-कभी नाचने अपने राष्ट्रीय पर्व पर।'

आदिवासियों की जमीन पर बड़े-बड़े उद्योग लगाये जा रहे हैं। मल्टीस्टोरी बिल्डिंगें बन रही हैं। उन्हें उनकी जमीन पर ही कैद किया रहा है। वे हमारे लिए अब केवल मनोरंजन का साधन हैं। हमने उन्हें मानव से वस्तु बना दिया है। सभ्यता जिस शब्द के साथ खत्म होती है, वहीं से दरअसल आदिवासी की सभ्यता शुरू होती है।

'देखो मेरे अच्छे भाइयो, विस्थापित हो जाओ, वरना...' कविता जहाँ खत्म होती है, ऐसा एक शब्द छोड़ जाती है, 'वरना', जिसका कोई अंत नहीं है।

अब कुल मिला कर समग्रता में देखा जाये तो कविता का संकट आलोचक का संकट है। यह बात आलोचना में सार्थक नहीं है और मंगलेश डबराल की इस बात से कि आलोचना में सार को गही रहने और थोथा उड़ा देने की नैतिकता बहुत कम है, इसलिए सार और थोथा साथ-साथ रह जाते हैं, कुछ हद तक सहमत हुआ जा सकता है। इस वाक्य से कुल मिलाकर देखें तो कविताओं में संघर्ष का क्या रूप हो सकता है? उसके कितने चरित्र और छाया हो सकती है? जीवन-अनुभवों से उपजा उसका क्या रिश्ता हो सकता है? कवि संकुचित जीवन के अनुभवों से मुक्त हो और समाज में होने वाले व्यवहार को किस भाँति पकड़ता है और आकार दे सकता है? ये आज के समय में सबसे महत्त्वपूर्ण है, और कविता आज के समय में कहीं ना कहीं इन संदर्भो को पकड़ने में चूक रही है। इसलिए फिर हम इस बात पर आते हैं कि कविता विधागत वर्चस्व से होड़ ले रही है या नहीं ले रही है। क्या यह कविता की वाकई होड़ है? या कवियों की होड़ तो नहीं है! हमको देखना होगा। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

धन्यवाद प्रकाश उप्रेती जी। वैचारिक प्रतिबद्धता को लेकर बात कल से हो रही है और अभी भी इस पर्चे में यह बात आई है कि रचना को वह कितना आगे ले जाती है या उसके व्यवहार किस तरह आती है। चौबे जी की कविताओं के संदर्भ में चूँकि बातचीत चल रही है, तो चौबे जी का यह मानना है कि यह जो वैचारिकता प्रतिबद्धता है, यह एक किस्म का कोण है जिससे आप किसी रचनागत प्रक्रिया को देखने की कोशिश करते हैं या यथार्थ को देखने की कोशिश करते हैं।

आगे उनका यह भी मानना है जो उनकी रचना प्रक्रिया से सामने आता है, कि वैचारिक प्रतिबद्धता जिसको कहा गया, उसके कोण में वो मनुष्य पूरी तरह आता नहीं है। और जब वह पूरी तरह आता नहीं है तो फिर आपको कैसे रचना संभव करनी है।

आगे वो कहते हैं कि यथार्थ और सपनों के बीच आने-जाने से भी

रचना संभव हो सकती है। क्योंकि यह जो सपना है वो मनुष्य की बाकी जगह को भरता है, उसके अंतर्मन के तमाम सौंदर्य को रचता है, जो यथार्थ से बाहर है। तो एक हिसाब से वैचारिक प्रतिबद्धता वह कोण है, जिससे चीजों को देखा तो जा सकता है मगर वह देखना पूरा देखना नहीं होगा। यह विचार है चौबे जी का कि यह रचनागत दिक्कत है।

विधागत वर्चस्व वाली जो बात है, उनके हिसाब से अगर कविता संगीत से मिलती है, तो संगीत उसकी कई तहों को खोलता है। उसका कोई वर्चस्व का झगड़ा नहीं है। अगर वह गद्य के साथ मिलती है तो उसे और भी संश्लिष्ट करती है, ज्यादा कॉम्पैक्ट बनाती है। तो यह विचार की विभिन्न गतियाँ हैं जिन पर आगे हम बातचीत करेंगे। इसी विचार की प्रकिया को आगे बढ़ाने के लिए आशीष त्रिपाठी हमारे बीच हैं। हमने बनारस के ऐसे प्रोफेसर को बुलाया है जो आपको साहित्य और रचना के बारे मे बहुत सारी ऐसी बातें बतायेंगे, ऐसी बातें आपके सामने रखेंगे जो एकदम नयी होंगी। मैं बहुत सम्मान के साथ आशीष त्रिपाठी जी को बुलाता हूँ कि वो अपनी बात यहाँ आपके सामने रखें। उनका स्वागत है।

आशीष त्रिपाठी

आदरणीय अध्यक्ष और हिंदी के अत्यंत महत्त्वपूर्ण कवि नरेश सक्सेना जी, आदरणीय विष्णु नागर जी, लीलाधर मंडलोई जी, निरंजन श्रोत्रिय जी, महेन्द्र गगन जी, मोहन जी, बलराम गुमास्ता जी, प्रकाश उप्रेती जी, सामने बैठे हुए अनेक आदरणीय, मेरे गुरुतुल्य लोग, और आप सब युवा साथी। सबसे पहले मैं बाकी लोगों की तरह संतोष चौबे जी को उनके 60 वर्ष पूरा करने के लिए बधाई देना चाहता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि बाकी जगहों पर भी लोग अपने कवियों, कहानीकारों, रचनाकारों पर अपने संसाधानों से ही सही लेकिन इस तरह के आयोजन करेंगे। जैसा कि मंडलोई जी सम्मान सत्र में कह रहे थे, एक ऐसे समय में जहाँ मनुष्य को मनुष्य से काटने की हर संभव कोशिश संस्थानों द्वारा, व्यवस्था द्वारा हो रही है, एक तरह से सोचने-विचारने वाले, एक तरह से संवेदित होने वाले लोग, एकत्र हों और यह बात आगे बढ़े। आज का यह जो सत्र है अभी

तक इसका विषय मेरे दिमाग मे ठीक–ठीक अर्थ के साथ नहीं खुला है और स्वाभाविक है ऐसा हो रहा है। तो मैंने अपने ढंग से अपना एक अभिप्राय: अर्जित करने की कोशिश की है। क्यूँकि साहित्य की दुनिया में या कला में जिसमें संतोष चौबे जी का वास्ता है, वर्चस्व जैसी चीज प्राय: होती नहीं है। वर्चस्व जो शब्द हैजेमनी से है, वैसे भी यह सत्ता संरचना का शब्द है और जहाँ भी सत्ता संरचना का सवाल होगा, वहीं हेजेमनी होगी, वहीं वर्चस्व होगा। जो किसी जमाने में खासतौर पर आधुनिक युग में विधाओं के बीच इस तरह का संघर्ष और झगड़ा दिखाई दे रहा है/ दिखाई देता है कि कोई एक विधा वर्चस्व में रहने की कोशिश कर रही है, तो उसका संबंध साहित्यिक समाज की अपनी सत्ता संरचना से है। विधाओं का इससे कोई लेना–देना नहीं है और ना ही यह विधाओं को बहुत दूर तक बहुत गहराई से प्रभावित कर पाता है।

मोटे तौर पर आप देखें तो कि नई कहानी का एक दौर आया तब ऐसा लगा शायद कविता कहीं पीछे जा रही है और कहानी केन्द्र में आ रही है और 'कहानी नई कहानी' जैसी एक किताब आई।

बाद में जब 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव हुए तो एक समय ऐसा लगा कि कविता की जो जगह थी केन्द्र की, वह उससे बाहर जा रही है और कहानी केन्द्र में आ रही है। हमारे मित्र राकेश बिहारी ने तो इस शीर्षक से एक किताब भी लिख डाली कि केंद्र में कहानी। तो केन्द्र का परिधि का या परिधियों का सवाल होगा! केंद्रों का सवाल होगा, वहाँ तो यह बात होगी ही लेकिन ज्यादा रचनात्मक स्तरों पर अंतत: विधाओं के बीच झगड़ा इस तरह का नहीं है, द्वंद नहीं है, जिससे हेजेमनी जैसी एक बेहद जटिल अवधारणा से जोड़ा जा सके।

तो विषय से इस तरह से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए, यदि यही इसका अर्थ है, तो इसको एक दूसरे तरह से समझने की कोशिश करता हूँ, जिस क्रम में आगे संतोष जी की बात करूँगा, वो यह कि विधाओं के बीच एक पारस्परिकता हमेशा बनती–बिगड़ती रही है और नये–नये रूपाकार और नई आकृतियाँ उसमें बनती रही हैं। जब हम कहते हैं कि विधाओं के बीच पारस्परिकता, तो हम यह मान लेते हैं कि एक विधा का

कोई खास चरित्र या रूप नहीं है। यानी उस विधा को अपने दिमाग में हम बैठा लेते हैं कि यह चीज कविता होती है, यह चीज कहानी है और यह चीज उपन्यास है, यह चीज निबंध है, यह चीज यह है।

तो विधा का एक मोटा खाँचा हमारे दिमाग में फिट हो जाता है / बैठ जाता है और तब हम कहते हैं कि कविता, कविता से बाहर चली गई है या यह कहानी, कविता की तरफ लौट रही है या इस तरह का कुछ। तो जब हम कोई बात करते हैं तो विधा का मोटा प्रारूप हमारे बीच रहता है। लेकिन कविता की जो विधा है, वो वस्तुतः कोई विधा है ही नहीं।

आप चाहें तो मैं कह सकता हूँ कि मेरे हिसाब से वह एक मातृ विधा है जिसकी हरेक विधा एक उभयनिष्ठ वृत्त है। एक ऐसा वृत्त है कविता का, जिसमे कई वृत्त के पास दूसरे वृत्त जुड़े हुए हैं और हर वृत्त के पास जाकर कविता एक उभयनिष्ठ क्षेत्र कायम कर लेती है। कविता एक ऐसी चीज है ऐसा वृत्त है जहाँ कहानियों के साथ उभयनिष्ठ क्षेत्र, एक वृत्त उपन्यास का, एक नाटक का, जिसमें नाटक के साथ उभयनिष्ठ क्षेत्र और इस तरह की विधाओं का मोटा ढाँचा हमारे दिमाग में मौजूद है। कविता उन सभी मोटे ढाँचों से बाहर जाकर शायद एक सबसे बड़ा वृत्त निर्मित कर सकने वाली या निर्मित कर रहती आई एक विधा है। मैं इन बातों को थोड़ा स्पष्ट करना चाहूँगा, लेकिन उससे पहले मे एक छोटी-सी कविता पढ़ना चाहता हूँ संतोष जी की– विधाओं के सिलसिले में ही इस बात को थोड़ा समझने के लिए। इस कविता का शीर्षक है– 'थोड़ा अन्दर हूँ, थोड़ा बाहर'।

इधर घर बनाया है, शहर से कुछ दूर
इस तरह, थोड़ा शहर में हूँ, थोड़ा बाहर हूँ।
लिखता हूँ लेकिन रहता हूँ गोष्ठियों से दूर
इस तरह, थोड़ा साहित्य में हूँ, थोड़ा बाहर हूँ।
अब उमर पहुँची थोड़ा पचास
इस तरह, थोड़ा जीवन में हूँ, थोड़ा बाहर।

यह जो कविता नाम की विधा है, जिसे आप एक खास ढाँचे में सोच करके या कल्पित करके उसकी विधा की बात करते हैं तो दरअसल

कोई भी कवि जो कविता में होता है तो वो बड़े से बड़ा कवि, हिंदी में हम जिन कवियों को जानते हैं और जिनमे हमारी कविता के रूप निर्मित होते हैं, उन कवियों में 'मृगावति' लिखने वाले कवि, 'पद्मावत' लिखने वाले कवि, 'विनय-पत्रिका' लिखने वाले कवि आदि सारे के सारे कवि थोड़ा कविता में होते हैं और थोड़ा कविता के बाहर। इस तरह कविता एक मोटे तौर पर ऐसा महाकाव्यात्मक या महाआख्यानात्मक या महानाटकीय परिसर निर्मित करती है, जहाँ वो दुनिया की प्रत्येक विधा के साथ जिसे अन्य विधा माना जा सकता है, जो अन्य का कॉन्सेप्ट है, अवधारणा है, जिस भी विधा को आप कविता से इतर या अन्य विधा मानते हैं, कविता उनके साथ– उन सबमें रहकर, उन सबको लेकर उनके साथ एक उभयनिष्ठ वृत्त कायम करती है, बनाती है, फैलती, बड़ी होती है और इस तरह वह, इसी कारण वह, एक प्रारूप में बँध नही पाती या वो नहीं बँधती।

मोटे तौर पर दुनिया में अब तक जितनी कलाओं का विकास हुआ है, मैं इसको थोडा और चूँकि ज्यादा की संख्या में यहाँ पर विद्यार्थी बैठे हुए हैं और अंतत तो हम अध्यापक हैं, तो थोड़ा आसान बातें करने की कोशिश करूँगा। दुनिया में अब तक जितनी कलाओं का विकास हुआ है उनके मोटे प्रारूप इस तरह से बनते हैं। एक प्रारूप है काव्यात्मक प्रारूप, जिसमें कहानी भी काव्यात्मक हो सकती है, उपन्यास भी, तब एक फिल्म भी आपको पोयटिक लग सकती है। बहुत सारी फिल्में हैं जिन्हें देखते हुए तुरंत हमारे मन में यह विचार आता है कि यह पोयटिक फिल्म है। बुद्धदेव दासगुप्त की एक फिल्म है 'चराचर', जिसको तीन-चार बार देखिये तो हर बार यही फीलिंग आती है कि यह बहुत ही पोयटिक फिल्म है।

एक चीज है कोई जो अपरिभाषित ही सही, जिससे पूरे मोटे अनुभव को, भावना को व्यक्त करने के लिए आप एक शब्द इस्तेमाल करते हैं कि यह चीज काव्यात्मक है, दूसरा कथात्मक, तीसरा नाटकीय, चौथा निबंधात्मक और पाँचवाँ संगीतात्मक। यह जो पाँचवाँ रूप है कलाओं का, संगीतात्मक, इसको दुनिया की हर कला पाना चाहती है और काव्य एक तरह से कहें कि अमूर्तन भाषा का, साहित्य का, कविता का स्वभाव है

और अमूर्तन के साथ एक प्रतिस्पर्धा है भाषा की। कि हमारा हर एक काम दुनिया जगत को मूर्तमान करना चाहता है। मूर्तमान करने की प्रकिया में हम अनेक बार अमूर्त की तरफ जाते हैं। या अमूर्त से अमूर्त को पकड़ने के लिए एक मूर्ति विधान करना होता है। और उसमें भी एक अमूर्तन की तरफ हमारा झुकाव होता है। तो यह जो अमूर्त दुनिया है, जहाँ अंततः हर एक चीज निराकार में बदल जाती है, चित्र जिसे आज तक किसी भी आकृति में ढाल नहीं सके। दुनिया में जितनी भी कलाएँ अब तक हैं उनमें से संगीत एक ऐसी विधा है जो कला रूप के पास अंततः नहीं रहती है। उसके हाथ से उसकी विधा छूट जाती है। एक शीर्ष चरम, आदर्श या चरम कल्पना-सी रचनाकार के मन में हो सकती है कि अपनी विधा में वो संगीतात्मक हो जाये / म्यूजीकल हो जाये। तो यह चार-पाँच मोटे प्रारूप हैं- काव्यात्मक, कथात्मक, नाटकीय, निबंधात्मक और संगीतात्मक। तो हम देखेंगे की बहुत पुराने समय से रवीन्द्रनाथ टेगौर ने ऋग्वेद को हिंदुस्तान की सबसे पुरानी कविता कहा है और हमारी परंपरा मे वाल्मीकि की रामायण और इतिहास की परंपरा में / व्यास की परंपरा में महाभारत या जयकाव्य को प्राचीनतम कविता माना जाता है। ऋग्वेद, रामायण और महाभारत- इन तीनों में कहीं से भी शुरू करें, भारतीय कविता को तो आप देखेंगे के ऐसी कोई कविता संभव नहीं हुई पुराने समय में कि कविता के भीतर कथा के लिए, नाटक के लिए, यहाँ तक कि निबंध के लिए, चित्र के लिए और संगीत के लिए जगह ना हो।

मैं अपनी बोली के एक शब्द से परिभाषित करना चाहता हूँ जो मेरे मन में आता है। कि मैं कहता हूँ कि कविता एक ऐसी माँ की देह है जिसके पास यह सारी विधाएँ अंग-लगी हैं। अंग लगना, हमारी बुंदेली में अंग लगने का अर्थ/आशय यह है कि अंतःकरण के नजदीक आने के क्रम में देहों का इतने करीब आना कि ये जो एक देह और दूसरी देह के बीच दूरी है और अन्यता का जो भाव है, वो मिट जाता है। तो कविता में इन सारी विधाओं के साथ अंग लगने में, खास तरह की ऊर्जा और गर्मी के साथ, दूसरे के साथ रिश्ता रखने, उसकी देह के साथ रिश्ता रखने की उत्सुकता बनी रहती है। तो यह जो सभी के साथ एक खास तरह का

रिश्ता है और जिससे यह सारी विधाएँ अंततः कविता का अंग लगती हैं। इसके सबसे ऊपर एक विधा जिसका पूरे घटनाक्रम को ज्यादा मूर्त उदाहरणों से देखा जा सकता है, वो चीज है जिसे हमारी भारतीय संस्कृति की काव्य-परंपरा में महाकाव्य कहा जाता है।

महाकाव्य के बहुत सारे अर्थ परंपरा में भी कहे गये हैं, उसके लक्षण बताये गये हैं, लेकिन उसका एक अर्थ हमारे लिए यह भी है कि महाकाव्य ऐसी कविता है जिसमें कवि अपनी कविता के विस्तार के लिए सभी तरह की, जो अन्य की तरह दिखने वाली विधाएँ हैं, उनको सबसे ज्यादा अपनाने या स्पेस देने की या अपने में समो लेने की या उनके अंग लगने की कोशिश करता है। जिस विधा में ये सबसे ज्यादा अच्छे तरीके से कर सकते हैं और एक खास की तरह रचनात्मक संवादी पारस्परिकता निर्मित कर सकते हैं, वो विधा महाकाव्य की है।

इसलिए आप देखेंगे कि हिंदुस्तान में महाकाव्य गायन की परंपरा है। हिंदी मे तो हम उसे साफ-साफ देख सकते हैं। संस्कृत की परंपरा हमारे सामने जीवित नहीं है। जैसे राजस्थान की महाकाव्य के गायन की परंपराएँ हैं। 'ढोला मारू ला दूहा' गाया जा रहा है। हमारे यहाँ 'आल्हा' गाया जाता रहा है। या गाते हुए ही रामचंद्र शुक्ल को 'पद्मावत' मिला है। यह जो गायन की सारी परंपरा है, इसमें देखिये कि कविता यह कहती है कि कविता एक ऐसी चीज है जो मोटे तौर पर कथा दिखाई पड़ती है। लेकिन जिसके वृत्तांत में नाटक की बहुत बड़ी जगह है और जगह-जगह पर सूक्ष्म तरीके से वह कथा है कि निबंध है, कहना मुश्किल है।

हिंदुस्तान की कविता में, हिंदी की कविता में, संभवतया तुलसीदास की 'रामचरित मानस' एक ऐसी किताब है जो कविता में निबंध का सबसे ज्यादा बेहतर उदाहरण हमें उपलब्ध कराता है। कि कविता में एक शुद्ध किस्म की निबंधात्मकता भी हमें रामचरित मानस के अनेक स्थलों पर दिखाई देती है। इसका अर्थ यह हुआ कि परंपरा से ही कविता एक ऐसी विधा रहती चली आई है जहाँ उसका शुद्ध रूप या जहाँ वह केवल काव्यात्मक हो / पोयटिक हो, ऐसा कोई रूप नहीं है।

एक तरह से हम कह सकते है कि दूसरी जो इतर या अन्य विधाएँ

हैं, उनसे आपको दूर रखना या उनसे अपने आपको शुद्ध रखना कविता के लिए कभी संभव नहीं हुआ है। जितनी भी हमारी पुरानी किताबें हैं, रामायण, महाभारत, रघुवंशम्, ऋतुसंहार, पृथ्वीराज रासो, आल्हखंड, मृगावति, पद्मावत, रामचरित मानस, यह सारी की सारी पुरानी किताबों में यह जो तथाकथित अन्यताएँ हैं, वो सब अपने बहुत गहरे राग और संवादी पारस्परिकता के साथ मौजूद हैं। लेकिन इसी के समानांतर कवि हमेशा ऐसी कोशिश करते रहे हैं कि उसका एक ऐसा वृत्त भी बन सके जिसे यह कहा जा सके कि यह कविता होती है।

परंपरा में मुक्तक कवियों की परंपरा है, उसमें अनेक जगहों पर मुक्तक कवि प्रायः कविता के परिसर को विस्तृत करने वाले कथा, नाटक और निबंध आदि विधाओं से अलग करते आये हैं। प्रायः संगीत और चित्र के ज्यादा करीब चलते चले गये हैं। मुक्तक कवियों का ज्यादा नजदीकी रिश्ता उभयनिष्ठ वृत्त संगीत और चित्र के साथ बनता रहा है, जिनका महाकाव्य के परिसर से संबंध है। इसका यह अर्थ है मेरे लिए कि कविता एक विस्तृत परिसरों वाली विधा रही है, जिसे कभी-कभी अलग-अलग कवि अपनी जरूरतों, सामाजिक जरूरतों, व्यक्तिगत जरूरतों, अपने कथ्य की जरूरतों के हिसाब से, उस विस्तृत परिसर को छोटा करते आये हैं और करते रहेंगे। लेकिन मोटे तौर पर लाखों कवियों का कुनबा है। इन लाखों कवियों की दृष्टि का जो रचनात्मक प्रतिफलन होता है, जिसे हम कविता कहते हैं, वो उस प्रारूप में शुद्ध कविता नहीं बन सका है।

हिंदी उर्दू में मुक्तक कवियों की परंपरा में दो तरह के कवि ऐसे हैं जिन्होंने कविता का एक खास तरह का शुद्ध परिसर बनाने की कोशिश की है। रीतिकालीन कवियों– रामचंद्र शुक्ल रीतिबद्ध कवि कहते हैं, रीतिसिद्ध कवि कहते हैं, यानी घनानंद, बिहारी, देव, या उर्दू परंपरा में जिसे गजल कहा जाता है, उसके मीर और गालिब जैसे कवियों ने जिसमें चित्रात्मकता का काम किया है उसके कारण एक अवधारणा बनती है, जिसे हम काव्यात्मक या कविता की ओर जाने वाला कह सकते हैं। लेकिन यह जो विषय है, जो शीर्षक है, उससे जो अनुगूँज है वो संभवतया इस रचनात्मक अंतक्रिया की गूँज नहीं है। हिंदी कविता के इतिहास में,

भारतीय कविता के इतिहास में जायें तो विधागत् झगड़ा कविता की दुनिया में तब आता है जब कविता से इतर दूसरी विधाएँ केंद्रीयता प्राप्त करने लगती हैं। अभी आपको यह भी ध्यान रखना होगा कि आधुनिक काल से पहले सभी तरह की मध्यकालीन और पूर्व आधुनिक परंपराओं में कविता ही मुख्य और केंद्रीय विधा बनी रही है। इसलिए बाकी सब काम कविता में ही होता रहा है। यदि आपको आर्युवेद भी कहना है तो आपको कविता के पास जाना होता है, शुद्ध निबंध भी कविता में ही संभव होता है, व्याकरण के निबंध भी कविता में लिखे जाते है, धर्मशास्त्र भी बहुत बार कविता में ही लिखा जाता है। कविता की शरण में आये बिना सबकुछ संभव हुआ लेकिन तब, जब आधुनिक युग में प्रेस के आविष्कार से, तकनीकी आविष्कारों से अलग परिसर बनाने वाली विधाओं का दावा संभव होता है, जिसे मोटे तौर पर हम साहित्य की गद्य और काव्य विधाओं का उदय कहते हैं।

तब पहली बार कविता के सामने अपने विधागत स्वरूप को परिभाषित करने का संकट आता है। हिंदी में मोटे तौर पर भारतेंदु और द्विवेदी युग में देखने लगते हैं तो मालूम पड़ता है कि जो कविता का वो विस्तृत परिसर था, उससे धीरे-धीरे चीजें अपने को अलगाने लगती हैं और अपने को सोशलाइज/विशिष्ट करने लगती है और खास रंग-रूप-रेखाओं को कविता से भिन्न करती चली जाती हैं। इस युग में दो बड़ी चुनौतियाँ ऐसी हैं, जिन्हें मोटे तौर पर उपन्यास और निबंध की विधा कहा जाता है, जिनके सामने रहने से कविता का विस्तृत परिसर आप सिकुड़ता देखते हैं। नया विकसित होता मध्यमवर्ग है वो गद्य विधाओं की तरफ ज्यादा से ज्यादा जाता है। और एक ऐसा 50-60 साल का दौर आता है, जब खास तरह की, खासकर पुराने तरह की, कविता लिखने वाले लोग पिछड़ी मानसिकता, पिछड़े बोध, पिछड़े संस्कारों वाले, पिछड़े हुए जीवन विवेक, पिछड़े रचना विवेक के लोग हो जाते हैं और अग्रगामिता का दावा गद्य विधाओं खासकर उपन्यास और निबंध की ओर से आता है। और यही विधाएँ चुनौती बनकर कविता के सामने आती हैं।

आप द्विवेदी युग की हिंदी कविता को देखें, तो आप महसूस कर

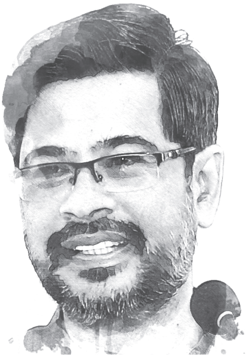

संतोष जी की कविता का परिचय जिस समकालीन कविता से है वो समकालीन कविता मोटे तौर पर प्रगतिशील काव्यधारा के विस्तृत परिसरों वाली कविता का ही एक विस्तार है या उसका ही एक रूप है तो स्वाभाविक है कि यह प्रश्न हमारे मन में भी है कि एक रचनाकार के रूप में अपनी किस विधा को वे अपनी विधा मानते हैं। एक इंटरव्यू में जो 'राग भोपाली' में हम लोग पढ़ रहे हैं, उन्होने साफ तौर पर है, यह कहने की कोशिश की है कि रचनात्मक स्तर पर उपन्यास के वे सबसे निकट हैं। उपन्यास रचनाकार को एक बड़ा फलक प्रदान करता है। उसे बनते देखना एक रचनात्मक अनुभव है।

सकते हैं कि द्विवेदी युग की कविता हिंदी में वो कविता है जिसने गद्य के सामने एक खास तरह का विनम्र समर्पण किया है। तो गद्य जो उसके समानांतर मौजूद था, जिसके पुरोधा बालमुकुंद गुप्त, भारतेंदु, प्रताप नारायण या महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद होंगे। पूरा का पूरा द्विवेदी युग, जो 1960-1965 तक चलता है, मैथिलीशरण गुप्त की मृत्यु तक, तो आप देखेंगे कि द्विवेदी युग की कविता एक्सिज्ट कर रही है। और वो राष्ट्रीय धारा के कवियों के साथ उत्तर छायावादी कवियों के साथ 1965 तक प्रमुख बनी रहती है। दिनकर जैसे कवि जब तक हिंदी कविता में लोकप्रिय बने रहते हैं, तब तक एक तरह से द्विवेदी युग की प्रवृत्ति या मानसिकता का काव्य-रूप लोकप्रिय बने रहते हैं। तो यह द्विवेदी युगीन कविता है जो एक खास तरह से गद्य के साथ समझौता करती है और गद्य की सारी खूबियों को वह अपने ढंग से कविता में समोने की कोशिश करती है। इसलिए महाकाव्य एक नये ढंग के प्रारूप में उपस्थित होता है। द्विवेदी युग के कवि चाहे 'प्रिय प्रवास' हो 'साकेत' हो, चाहे रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' हो या दूसरे महाकाव्य हों जो सियारामशरण के महाकाव्य हों,

खंडकाव्य हों, आप हर जगह यह चीज महसूस कर सकते हैं। वो चुनौती और कविता के पास खड़ा होने के लिए एक ही विकल्प जैसे दिखाई पड़ता है कि वो उसके साथ एक विनम्र किस्म का समझौता करेगी।

बहुत सारे लोगों को हिंदी आलोचना में विशेष रूप से प्रगतिशील आलोचना में मैथलीशरण गुप्त जैसे कवियों को कवि ही ना मानने की परंपरा है, जबकि आप देखेंगे कि अज्ञेय जैसे बड़े कवि ने 50 के दशक में मैथलीशरण गुप्त को खास ढंग से, खास परंपरा का, वाचिक परंपरा का आखिरी प्रतिनिधि कवि कहा था।

उन सब बहसों में मैं नहीं जाना चाहता हूँ। लेकिन मैं यह बात कहना चाहता हूँ कि द्विवेदी युग की कविता का मूल्यांकन करते हुए, द्विवेदी युग के बाद के आलोचकों ने कविता के भीतर इतिवृत्त को लक्षित अवमानित और अपमानित किया। छायावाद के आलोचकों में नगेन्द्र ने कहा कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, यानी इतिवृत्त स्थूल यानी गद्यात्मकता, स्थूल यानी निबंधात्मकता, स्थूल का मतलब कथात्मक वृत्तांत। यह जो स्थूल है यानी जो गद्य का स्वभाव है, यह द्विवेदी युग की कविता है और इस तरह से इतिवृत्त को लक्षित करने की कोशिश की गयी है और उसके समानांतर छायावाद के कवियों ने आधुनिक हिंदी कविता में पहली बार गद्य की चुनौती का निबंध और उपन्यास की चुनौती का सामना करते हुए एक खास ढंग से शुद्ध कविता परिसर निर्मित किया।

छायावाद के कवियों में पंत ने, प्रसाद ने, निराला ने, 1915 से 1930 की अपनी कविताओं से यह जता देने की कोशिश की कि हम गद्य की किसी भी खूबी का इस्तेमाल किये बगैर एक उच्च स्तर की अभिप्राय:पूर्ण कविता की रचना कर सकते हैं और ऐसा करने के लिए उन्होंने पुरानी ही परंपराओं का सहारा लेते हुए एक खास ढंग की नयी विधा का अपने लिए आविष्कार किया, जो यूरोप में तो थी ही, बंगाल में तो थी ही और वो चीज जिसे हम अँग्रेजी में लिरिक और हिंदी में प्रगीत कहते हैं।

छायावादी प्रगीत एक ऐसा काव्य रूप है जिसने गद्य के सारी की सारी खूबियों को, जो उसकी जो समावेशिता है उसको, कविता से दरकिनार करने की कोशिश की तब पहली बार संभवतया कविता की दुनिया में

विधाओं के बीच एक तरह का द्वंद/एक संघर्ष छायावाद की आलोचना के सिलसिले में उभरकर आता है। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह दरअसल एक गलत रणनीति रही आलोचना की। जिसने कविता के सबसे पुराने सगोतिया को, संगी को उससे अलग किया और वो संगी इतिवृत्त है, क्योंकि कविता पुराने समय से लेकर आज तक बिना इतिवृत्त के खड़ी नहीं हो पाती है, खड़ी नहीं हो सकती है, आप उसे जिस भी स्तर पर जाकर समझने की कोशिश करें।

इतिवृत्त के साथ कविता का रचनात्मक संवाद तो हर युग में होता ही है। एक गलत रणनीति यह थी कि इतिवृत्त को कविता से निष्कासित किया और इतिवृत्त को गद्य के इलाके की कोई चीज बना दिया गया। यह जो शुद्ध कविता छायावादी प्रगीत के रूप में निर्मित हो रही थी, 1937 के आसपास, खुद छायावादी कवियों को उसकी सीमा का बहुत तीव्रता के साथ अहसास होने लगा था। सिर्फ यह नहीं कि निराला को इसका अहसास था, पंत को भी इसका अहसास था और जयशंकर प्रसाद को भी इसका अहसास था और इसलिए छायावादी प्रगीत को तोड़ने के लिए नये ढंग के काव्य रूप आजमाने की कोशिश 1930 के आसपास दिखाई देने लगी थी। प्रसाद, पंत और निराला यह तीनों ही कवि, महादेवी तो जाती नहीं उस परिसर में, लेकिन वे एक खास तरह का कविता रूप जिसे लंबी कविता कहते हैं, का रूप निर्मित करती हैं, एक खास तरह से नया गद्य रचने की कोशिश करते हैं जिसे मोटे रूप मे बाद में हिंदी में लंबी कविता कहा गया।

यह महाकाव्य की उसी विस्तृत परिसर वाली कविता है, उसका ही एक रूप है, जिससे कविता में कहानी के लिए, कथा के लिए, सभी के लिए खिड़कियाँ और दरवाजे खोले गये। पंत की कविता 'परिवर्तन', प्रसाद की कविता 'प्रलय की छाया', 'शोक की चिंता' यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण है, निराला की कविता 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज समृति', जहाँ जाकर निराला ने दोनों ही तरह के उन विवादों को दरकिनार करते हुए, वो अतिवाद जिसमें गद्य के सामने एक विनम्र समर्पण था और वो अतिवाद जिसमें गद्य में इतिवृत्त को कविता से निकाल देने की कोशिश की, इन

दोनों अतिवादों से किनारा करते हुए उस पुरानी महाकाव्यात्मक आत्मा को निर्मित करने की कोशिश इन दोनों कविताओं में की, और इस तरह निराला ने जाने-अनजाने नये जमाने के लिए एक ऐसे नये काव्य के रूप का रास्ता खोला जिससे वो काव्य रूप इस नयी दुनिया के नये बोध के नये जीवन संदर्भों को कविता के भीतर एक विस्तृत परिसर वाले काव्य विधा में, एक काव्यात्मक रूप में संबोधित कर सके।

आगे का सारा का सारा खेल कविता में इन्हीं बुनियादी द्विवेदी और छायावादी युग और छायावाद में उठी बहसों के संदर्भों में देखा जा सकता है। प्रगतिवाद या प्रगतिशील काव्यधारा को यह गौरव हिंदी में हासिल है। उसने कविता में रूप-वस्तु के इस सवाल को, खासकर रूप में इस सवाल को, अपनी पुरातन भाषाई परंपरा से सबसे ज्यादा बेहतर ढंग से हल किया और प्रगतिशील काव्यधारा ने हिंदी कविता के सभी आधुनिक आदोंलनों में सबसे ज्यादा विस्तृत परिसर वाली उस पुरानी परंपरा को नये युग में, आधुनिक युग संभव बनाया। इसलिए प्रगतिशील काव्यधारा में आपको इतने तरह की कविता संभव करने वाले कवि मिलेंगे। वहाँ आपको नागार्जुन मिलेंगे, वहाँ आपको त्रिलोचन मिलेंगे, वहाँ आपको केदारनाथ अग्रवाल मिलेंगे, वहाँ आपको मुक्तिबोध मिलेंगे, शमशेर मिलेंगे और वहाँ से लेकर लीलाधर मंडलोई, विष्णु नागर, नये कवियों मे कुमार अंबुज, एकांत श्रीवास्तव, और बिल्कुल नये कवियों में जिसमें मोटे तौर नई कविता कहते हैं, लेकिन जिसके भीतर अनेक उप-कविता के परिसर मौजूद हैं, ऐसे हजारों उप-रूपों वाली कविता का परिसर प्रगतिशील काव्यधारा, में रचने की कोशिश की गयी है। तो मैं एक तरह से उस विधा के संघर्ष और द्वंद को समझने की कोशिश कर रहा था जो खास तौर से समकालीन कविता के संदर्भ में, जिसके बारे में बहुत सारे सवाल पहले से उठते आये हैं और जिन्हें संघनित करके प्रकाश जी ने अपनी बात कही।

संतोष जी की कविता का परिचय जिस समकालीन कविता से है वो समकालीन कविता मोटे तौर पर प्रगतिशील काव्यधारा के विस्तृत परिसरों वाली कविता का ही एक विस्तार है या उसका ही एक रूप है तो

स्वाभाविक है कि यह प्रश्न हमारे मन में भी है कि एक रचनाकार के रूप में अपनी किस विधा को वे अपनी विधा मानते हैं। एक इंटरव्यू में जो 'राग भोपाली' में हम लोग पढ़ रहे हैं, उन्होने साफ तौर पर है, यह कहने की कोशिश की है कि रचनात्मक स्तर पर उपन्यास के वे सबसे निकट हैं। उपन्यास रचनाकार को एक बड़ा फलक प्रदान करता है। उसे बनते देखना एक रचनात्मक अनुभव है।

जब खुद एक लेखक यह कह देता है कि यह विधा मेरी मूल विधा नहीं है तो आप उसके परिसर में जाते ही अनुभव करने लगते हैं कि इस विधा से अभी उसकी रचनात्मक महत्त्वाकांक्षा जुड़ी नहीं। इसका अर्थ यह है कि अनेक विधाओं में काम करते हुए जब वो खास तरह का रचनात्मक स्पेस या एक तरह का आराम या विश्राम या शांति का अनुभव करता है या जरूरत का अनुभव करता है, तब वह कविता की दुनिया में चला जाता है। वह मानता है कि अनेक विधाओं में लिखने के बावजूद मुझे यह कहना चाहिए।

मेरे मन में मूल सवाल उनकी कविता को पढ़ते हुए उभरा कि क्या संतोष चौबे जी भाषा की दुनिया में, उनके जो दो संग्रह हैं, जो हमारे सामने मौजूद हैं, वस्तु के साथ जो उनका संबंध है, वस्तु को देखने, उसको छूने का उपक्रम, वह कविता के भीतर करते हैं। कवि की तरह करते हैं तो किस तरह के कवि की तरह करते हैं? सीमित परिसर वाली कविता की तरह या विस्तृत परिसर वाली कविता की तरह कवि भाषा में जाते हैं या नहीं जाते।

चौबे जी भले ही अनेक विधाओं में लिखते हैं पर जिसे वो कविता कहते हैं, उस दुनिया में जाते हुए वे भाषा के साथ एक खास तरह का कवि / कवि के रूप में प्रवेश करते हैं। मैं यह बात कहना चाहता हूँ कि चूँकि यह स्पष्ट है कि उनकी कविता में महत्त्वाकांक्षा रहित है उनकी कविता में कवि रूप में प्रकट होने की महत्त्वाकांक्षा नहीं होती है और दोनों कविता संग्रहों से भी स्पष्ट है कि कवि के रूप में प्रकट होने की महत्त्वाकांक्षा उनके मन में नहीं है।

इसके बहुत सारे रूप दिखते हैं उनकी कविता में, लेकिन इस

समकालीन कविता ने जो खूबियाँ अर्जित की हैं, समकालीन कविता ने जो विस्तार अर्जित किया है, उन सबसे एक तरह की रचनात्मक अंत:क्रिया करने की कोशिश संतोष चौबे की कविताओं में देखी जा सकती है। तो एक तरफ 'अम्मा का रेडियो' जैसी कविता मिलती है जो एक तरह से समकालीन कविता का मुक्त स्वर है। जहाँ मर्म को, भावनाओं को, हृदय के जल को छूने की कोशिश है जितनी भी तरह से कविता यह काम पहले करती आई है। समकालीन कविता का उससे भिन्न तरह से उसके साथ रिश्ता बनाती है। तो हृदय का जो जल है, ये भावना का जल है, यह जो मर्म है जिसे रामचंद्र शुक्ल ने मर्म कहा था, उस मर्म के साथ जो रिश्ता संतोष चौबे की कविताओं में मिलता है वो ठीक उसी तरह है, जैसा समकालीन हिंदी कविता के कवियों ने उसे खोजा। इनमें में कुछ कविताओ के नाम लेना चाहूँगा, जो 'अम्मा का रेडियो' कविता है, किस तरह के समकालीन परिसर में वाद करती हुई दिखती है। चंद्रकांत देवताले की बहुत ही खूबसूरत कविता है 'माँ जब खाना परोसती थी' या केदारनाथ की कविता है '1947 को याद करते हुए', अरुण कमल की कविता है 'डॉक्टर की मौत पर' या 'जिसने हत्या होते देखी', कुमार अंबुज की कविता है 'हारमोनियम की दुकान पर'। इस तरह की जो कविताएँ हैं जिसमें कविता को निबंध की तरह बरतते हुए अंतत: मर्म को एक खास तरह से छूने की कोशिश करते हैं हमारे समय के कवि, वह कविता इसी श्रेणी में आती है। संतोष चौबे ने अपनी कविताओं में समकालीन कविता के इस ढाँचे को, मुहावरे को इस शिल्प को, बहुत हद तक पकड़ने की कोशिश की है और उसे संभव बनाने की कोशिश की है। उनकी कविताओं को पढ़ते हुए इस बात का अहसास बेहद कम होता है कि वे असफल कविताएँ हैं जो कविताएँ नहीं होनी चाहिए थीं। परिश्रम करने वाला एक कथा और दक्ष कवि जब भाषा में प्रवेश करता है तो वह किसी भी वस्तु में कविता ला सकता है। इतना कौशल उसे अर्जित हो जाता है। तो दोनों कविता संग्रहों में, चूँकि समय मेरा समाप्त हो गया है, इसलिए मैं कह रहा हूँ कि इन दोनों कविता संग्रहों में, जिस भी काव्य वस्तुओं को कवि छूने की काशिश करता है, तो भाषा के साथ जो रचनात्मक संबंध

है, वो एक बुनियादी कौशल के साथ हमेशा दिखाई देता है।

मुकेश वर्मा

बहुत-बहुत धन्यवाद आशीष जी। आपने बहुत लंबी यात्रा कविता की कराई और यह भी बताया कि यह कोई वर्चस्व का झगड़ा नहीं है, विधागत झगड़ा नहीं है। यह भी ठीक मालूम पड़ता है कि कविता ऐसी कला है उसी का विस्तार है जो तमाम हमारी रचनात्मक प्रक्रिया हो सकती है और उसकी पवित्रता की बात उन्होंने कही। एक बात और, प्रसंग आया है 'आधा जीवन में हूँ, आधा बाहर' तो संतोष चौबे की यह कविता की लाइन सच और झूठ को अलग-अलग विलगाने की कविता है। उसको इस तरह से भी समझा जा सकता है।

इसी विचार प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए हस्तक्षेप के अन्तर्गत हमारे निरंजन श्रोत्रिय हैं। वो संपादक है 'समावर्तन' के और समकालीन कविता को जिस तरह से प्रस्तुत कर रहे हैं, वो एक बड़ा काम कर रहे हैं। मैं बहुत सम्मान के साथ उनको यहाँ बुलाता हूँ। आप भी तालियों के उनका स्वागत करें। तो ये देखना दिलचस्प होगा कि वे किस तरह पूरी प्रक्रिया में हस्तक्षेप करते हैं। उनका स्वागत है। एक निवेदन और भी हमने काफी देर से कार्यक्रम शुरू किया था, इसलिए आगे हमारे रचनाकार बंधु थोड़ा समय-सीमा का ध्यान रखें।

आनंद तो बहुत आ रहा है। समय होता तो प्रोफेसर को और सुनते। प्रोफेसर त्रिपाठी ने हमको वाकई एक लंबी यात्रा कराई है। साहित्य समाज की ओर से हम उनका धन्यवाद करते हैं।

निरंजन श्रोत्रिय

मंच पर उपस्थित सभी विद्वत्जन और सभा में उपस्थित मित्रो। बहुत ही विस्तार से अभी आशीष त्रिपाठी और उप्रेती जी ने अपनी बातें कही हैं। मैं बहुत ही संक्षेप में कहूँगा। यह जो विषय है, उस पर मुझे कुछ शंकाएँ हैं और प्रश्न भी हैं, जिसके संबंध में कल मैंने उप्रेती जी के साथ चर्चा भी की थी। जैसा कि मैंने इस विषय को लिया है, 'विधाओं का वर्चस्व

एक महत्त्वपूर्ण बात जो संतोष चौबे के माध्यम से हम देखते हैं, वो यह है कि हम सब जानते हैं कि वे वैज्ञानिक पृष्ठभूमि से आते हैं। जब एक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि वाला व्यक्ति साहित्य में आता है, संतोष जी मूलतः कंप्यूटर बैकग्राउंड से आते हैं, तो वे किस तरह से, तकनीक को, परंपरा को, राजनीति को, उसके बीच किस तरह का त्रिकोण बनाते हैं। यह जो तकनीक, परंपरा और राजनीति का त्रिकोण है, इनकी जो अपनी-अपनी भूमिका है, इनके बीच जिस तरह के एक विट माध्यम से, कटाक्ष के माध्यम से वे अंतस्संबंध को स्थापित करते हैं वो एक कवि की प्रतिबद्धता को रेखांकित करती है।

और उससे होड़ लेती कविता' संदर्भ चौबे जी की कविता।

कल यह बात चर्चा में आई थी कि संतोष चौबे या उनके बहाने हम अपनी बात रखें। तो एक लेखक कविता भी लिखता है, कहानी भी लिखता है, नाटक भी लिखता है, तो क्यों ना एक लेखक एक ही विधा पर कंसन्ट्रेट करे? पर मुझे यह बात बहुत ही बेसिक नहीं लगती है क्योंकि यह जो विधा है, वह एक तरह का कार्य है, वह कुछ भी हो सकता है। यह अलग बात है कि वह किस फार्म में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ तरीके से अभिव्यक्त करता हैं। दुष्यंत के साथ भी यह बात रही होगी। उन्होंने क्या कुछ नहीं किया? अनेक गीत लिखे, कविताएँ लिखीं, लेकिन अंततः वे अभिव्यक्त हो सके गजलों के माध्यम से। तो यह विधाओं की खोज, तो एक लेखक के जीवन में उसकी रचना-प्रक्रिया का हिस्सा होना है और हम किसी एक विधा पर ही किसी लेखक को कंसन्ट्रेट करने की कोशिश करेंगे तो विष्णु नागर जी क्या करेंगे? उदय प्रकाश क्या करेंगे? विनोदकुमार शुक्ल, राजेश जोशी, लीलाध र मंडलोई जो कि एक कवि हैं, गद्य भी लिखते हैं, गद्य में भी उसी तरह

की महारत हासिल है, वे क्या करेंगे? तो ये कुछ प्रश्न हैं। एक लेखक अपने को अभिव्यक्त करने के एक से अधिक फार्म का सहारा लेता है। यह बात दीगर है कि वह किस माध्यम में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ तरीके से अभिव्यक्त करता है। संतोष जी के बारे में जो चर्चाएँ हुई हैं, उसमें सुखद यह है कि यहाँ चर्चाओं का कारण भी किसी को रातों-रात महाकवि सिद्ध कर देना नहीं है।

संतोष जी के दो संग्रह हैं, एक 'इस अ-कवि समय में' और दूसरा 'कोना धरती का'। मैंने देखा कि यह दोनों ही काव्य संग्रह 2010 में प्रकाशित हुए हैं। तो कौन से काव्य संग्रह में कितना विकास हुआ है, यह कहना कठिन काम है। लेकिन मेरा जो मत है या अभिप्राय: है कि एक कहानीकार या एक उपन्यासकार में या गद्य लेखक में भी वह मन होता है जिसे हम कवि-मन कहते हैं।

कथात्मक संवेदना और काव्यात्मक संवदेना तो बहुत जटिल सवाल हो सकते हैं लेकिन एक कवि-मन जिसको हम कहते हैं कि एक लेखक के मन में हो सकता है, एक लेखक की रचना-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग हो सकता है, जो कहानी लिखता है, नाटक भी लिखता है और अनुवाद भी करता है, गद्य भी लिखता है, उपन्यास भी लिखता है। जहाँ तक विधाओं के वर्चस्व के बीच में संतोष चौबे की कविताएँ पढ़ते हैं, जैसा कि मैंने कहा आशीष त्रिपाठी ने रेखांकित किया है कि उनमें बहुत-सी महत्त्वाकांक्षा कवि के महाकवि होने की नहीं है। लेकिन सवाल यहाँ पर कवि को टटोलने का है तो हम पाते हैं कि एक कवि के भीतर जो कविता की मूल प्रतिज्ञा होती है तो किस तरह से हो कि-

जब उठता हो अपनी क्षमता पर से मेरा विश्वास
देखो तब मत आना
मत आना- मत आना दया या उपकार की तरह
आ सको तो आना बरसते प्यार की तरह।

तो मूलत: इस कवि का अभीष्ट प्रेम या प्यार है। जो सबसे बड़ी बात मैं यहाँ रेखांकित करना चाह रहा था, वह जो शायद चर्चा में छूट रही थी, वह है इस लेखक का, किसी भी एक सच्चे लेखक का, वैज्ञानिक

दृष्टिकोण जो उसके लेखक को पारदर्शी, तार्किक, वैज्ञानिक और प्रगतिशील बनाता है। ऐसे कई कटाक्ष/व्यंग्य, ऐसे कई सटायर आप उनकी कविताओं में देखेंगे– *अब ईश्वर से कोई सवाल नहीं है / अपनी परेशानियों के संबंध में।* अब ईश्वर हो तो जबाव भी दे।

या फिर 'मेरे अच्छे आदिवासियो' जैसी कविता या 'क्रांतिकारी' जैसी कविता जिसमें कि एक मिथ है, एक कटाक्ष है, एक व्यंग्य है। एक महत्त्वपूर्ण बात जो संतोष चौबे के माध्यम से हम देखते हैं, वो यह है कि हम सब जानते हैं कि वे वैज्ञानिक पृष्ठभूमि से आते हैं। यहाँ नरेश जी भी विराजमान हैं और मैं खुद भी विज्ञान की पृष्ठभूमि से आता हूँ। तो एक वैज्ञानिक होना और विज्ञान पढ़ना दो अलग-अलग बातें हैं। लेकिन जब एक उद्यमी एक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि वाला व्यक्ति साहित्य में आता है, संतोष जी मूलतः कंप्यूटर बैकग्राउंड से आते हैं, लेकिन वे किस तरह से, टेक्नोलॉजी को, तकनीक को, परंपरा को, राजनीति को, उसके बीच किस तरह का त्रिकोण बनाते हैं। एक छोटी कविता का अंश यहाँ पर उद्धृत करना चाहता हूँ– 'कंप्यूटर गाड़ी'। इस कविता के माध्यम से कवि की मूल प्रतिज्ञा ओर उसका हस्तक्षेप समझ सकेंगे।

बैलगाड़ी से पूछे, कंप्यूटर को जानती हो, वो कहेगी ना बाबा ना।
कंप्यूटर से पूछो बैलगाड़ी को जानते हो, कहेगा माफ कीजिये जनाब।
वित्त मंत्री से पूछो, देश की सबसे बड़ी जरूरत क्या है?
कहेंगे एक अदद कंप्यूटर, जो बैलगाड़ी को चला सकता हो।

यह जो तकनीक, परंपरा और राजनीति का त्रिकोण है, इनकी जो अपनी-अपनी भूमिका है, इनके बीच जिस तरह के एक विट माध्यम से, कटाक्ष के माध्यम से वे अंतस्संबंध को स्थापित करते हैं वो एक कवि की प्रतिबद्धता को उस तरह फिर से रेखांकित करती है। जहाँ गोरी पुलिस की रेखा है, रेखागणित के माध्यम से वे एक बार फिर अपनी बात कहते हैं। हिंसक रेखाओं के विरुद्ध जहाँ एक गोरी पुलिस पंक्ति खड़ी हैं। रेखाएँ खड़ी हैं। एक वृत्त का, सर्किल का प्रतिरोध है जो काले लोगों का हुजूम है एक वृत्त के रूप में, एक गोले के रूप में उपस्थित है। जिस 'अम्मा का रेडियो' की अभी यहाँ चर्चा हुई, जिस पर बच्चों ने चित्र भी बनाया

था, हमने पहले दिन देखा, तो वहाँ पर केवल नॉस्टेल्जिया नहीं है। वहाँ अपनी परंपराओं से जुड़ने की, अपनी जड़ों की तरफ जाने तीव्र इच्छा भी है, एक सच्ची इच्छा है जो उन्हें परंपरा से जोड़े रखने का एक बहुत बड़ा उपकम करती है।

मित्रो बहुत संक्षेप में कहना चाहूँगा कि कई तरह की विधाओं में हम काम करते हैं। यदि हम एक लंबे आख्यान में कोई कविता का अंश देखते हैं तो वह उस कवि-मन का रूप होता है जो हर जगह होता है, एक नाटककार में भी, एक कवि में भी, एक उपन्यासकार में भी, एक निबंधकार में भी, सभी में होता है। यदि संतोष चौबे की कविताओं को या किसी सच्चे लेखक की कविताओं को एक वैज्ञानिक रूप से हम देखें, जिसको कहते हैं व्युत्क्रमणीय अभिक्रिया, रिवर्सिवल रियक्शन, तो जो ऐरो होते है ना रिवर्सिवल वाले, उनके माध्यम से कविता को इस तरह से देखें, तो संतोष चौबे की कविताओं में, जो जीवन में कविता की खोज है, वह रिवर्सिवल अभिक्रिया का चिन्ह है और तीर के उस तरफ कविता में जीवन की खोज। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

धन्यवाद श्रोत्रिय जी। इस हस्तक्षेप को आगे बढ़ाने के लिए मोहन सगोरिया हमारे बीच हैं, हम उनको यहाँ आमंत्रित करते हैं कि वे यहाँ आकर अपनी बात रखें।

मोहन सगोरिया

आदरणीय मंच और आप सब। दरअसल मेरे लिए गहरा संकट है कि बचपन में मुझे सिखाया गया कि किसी के काम में हस्तक्षेप मत करो। मुकेश जी कहते हैं कि हस्तक्षेप करो। तो यह संकट इनके द्वारा पैदा किया गया है। जो साहित्य में संकट है, वो ज्यादातर इनके द्वारा पैदा किये जा रहे हैं। दूसरा यह है कि मैं आलोचक नहीं हूँ तो आलोचक की भाँति बोल पाना संभव नहीं है। पाठक के नाते मैं छोटी-सी टिप्पणी करूँगा, क्योंकि हस्तक्षेप मूलतः छोटा होता है। जैसे दो व्यक्ति आपस में लड़ रहे हैं

अलग–अलग कर दो। मैं मुश्किल से 5–6 मिनट बोल सकूँगा और जो विषय है, उस पर आशीष भाई ने, प्रकाश जी ने काफी विस्तार से कहा है। तो मैं दो तीन बातें संतोष जी की कविता पर कहना चाहूँगा।

संतोष जी को जब मैं पढ़ता हूँ और उनके करीब जाता हूँ तो उसके पहले मुझे बहुत से कवियों को पढ़ना पड़ता है। जैसे मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, उसके बाद धूमिल, केदारनाथ सिंह, मंगलेश डबराल, बाद में आलोकधन्वा, भगवत जी और नरेश जी जो यहाँ बैठे हैं। उनके बाद समकालीन कविता के नागर जी हैं, मंडलोई जी हैं। तो इन सबको पढ़ने के बाद मुझे समझ में आता है कि इन्हीं के बीच विष्णु खरे, चंद्रकांत देवताले और विनोदकुमार शुक्ल हैं। तो मैं सोचता हूँ कि संतोष जी को क्यूँ पढ़ रहा हूँ? उनकी कोई बात प्रभावित करती है मुझे! वह बात उनकी भाषा है। ठीक है कि आशीष जी ने कहा कि वे बहुत बडे महाकवि नहीं हैं, लेकिन उनकी भाषा जीवन की भाषा है। बहुत ही सलीके से जो कविता उनके पास आती है, वैसी ही पाठक के पास पहुँचती है। उस भाषा में उनका बोलना अच्छा भी लगा है। एक प्रयोग मुझे याद आ रहा है। फिराक साहब की एक गजल पढ़ी, इसमें रस होता है कि 'यारो बाहम गुँधे हुए हैं कायनात के बिखरे टुकड़े।' बाहम यानि परस्पर, और गुँधना जो है गूँथना/उलझे हुए। 'यारो बाहम गुँधे हुए हैं कायनात के बिखरे टुकड़े/

संतोष जी को जब मैं पढ़ता हूँ और उनके करीब जाता हूँ तो उसके पहले मुझे बहुत से कवियों को पढ़ना पड़ता है। जैसे मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, उसके बाद धूमिल, केदारनाथ सिंह, मंगलेश डबराल, आलोकधन्वा, भगवत जी, नरेश जी जो यहाँ बैठे हैं। तो इन सबको पढ़ने के बाद मुझे समझ में आता है कि संतोष जी को क्यूँ पढ़ रहा हूँ? उनकी कोई बात प्रभावित करती है मुझे! वह बात उनकी भाषा है।

एक फूल को जुंबिश दोगे तो एक तारा काँप उठेगा।'

कुछ दिन बाद उन्होंने एक दोहा लिखा कि विश्व एक है यह नियम, ऐ मन कभी, नहीं भूल एक तारा थर्रा उठा जब तोड़ा एक फूल।'

तो एक ही बात दो तरह से उन्होंने कही है। फिर अपने मित्रों को, शार्गिदों को, दोनों को एक शेर और एक दोहा उन्होंने दिया और पढ़वाया। मुझे पता नहीं कौन शार्गिद है? पर महेन्द्र भैया बता रहे थे कि उनके शार्गिदों की बहुत बड़ी फेहरिस्त थी। इसके संदर्भ में उनके शार्गिद ने बताया कि आप जो बात शेर या उर्दू में कहते हैं, वो ज्यादा प्रभावी है।

कल मैंने बहुत अच्छी बहस सुनी आदरणीय मंडलोई और नागर जी की, इस भाषा को लेकर। तो मुझे लगता है कि कवि को उसी भाषा में बात करनी चाहिए जिस भाषा में कविता उसके पास आती है। या वो लगभग जिस भाषा में बात करते हैं वो उनकी है या उनकी कविताओं की है। जैसे उनकी लंबी कविता थी– 'छाया युद्ध'। उसको हम पूरा पढ़ जाते हैं और हमे लगने लगता है कि हम एक शब्द इधर-उधर नहीं कर सकते हैं। वो ठीक वैसा ही है जैसे उनके संघर्षमय जीवन में जैसा उन्होंने काम किया। दूसरी बात यह है कि संतोष जी मुझे जीवन के कवि लगते हैं, उनकी एक पुरानी कविता है जो बार-बार कोट की गयी– आना जब मेरे अच्छे दिन हों।

इस कविता को पढ़ लें। इस कविता को पढ़कर कुछ ना बने तो प्रधानमंत्री तो आदमी बन ही सकता है! तो अच्छे मनुष्य बनने के लिए कविता भी बहुत जरूरी है। इसमें वो लिखते हैं कि 'आना निष्कपट ज्योति की तरह/जब जलती हो तुम्हारी क्षीण याद'।

यहाँ मैं कहूँगा कि संतोष जी जो विशेषण चुनते हैं, वो बहुत मारक होते हैं। कविता हो या जीवन हो, लोगों से उनका इस तरह वास्ता पड़ता है। वो लिखते हैं कि– 'दिल में जलती हो आग', आपने सुना है कभी मन जल गया, वैसे मन अधीर होता है, मन उदास होता है, दिल जलता है। वो लिखते हैं– 'निष्कपट ज्योति की तरह'। प्रेम में कपट नहीं चलता है। इस तरह के विशेषण हैं जो उनके साथ आते हैं। तो बहुत ही सटीक बहुत ही प्रभावी लगते हैं। इसलिए मुझे लगता है हम जब संतोष जी की कविता

पढ़ते हैं तो हमें बहुत ज्यादा परिश्रम नहीं करना पड़ता है।

इसी में वे आगे लिखते हैं कि 'नीली लौ की तरह चुभती हो इच्छा'। यह नीला क्या है, नीला आकाश, अनंत, आकांक्षा से आता है। बहुत से संदर्भों में यहाँ युवा साथी हैं, हम जानते है कि नीला क्या है? अनंतता, कामना जैसा कि हम बोलते हैं, कि नीली फिल्में भी वहीं से आती हैं। तो वो जो लौ जल रही है, वह नीली लौ है आग की। प्रेम के जो बहुत से रंग बताये गये, उसमें एक नीली लौ भी है।

संतोष जी के साथ बड़ी बात है कि वे मन की बात कर लेते हैं और परवाह भी नही करते हैं किसी की। वो आगे लिखते हैं कि आसमान की तरह हवा की तरह साफ / जब हवा चलती है / तो हमें महसूस होता है कि वह किस दिशा से आ रही है।

तो मैं कह पाता हूँ कि संतोष जी कविता में बिल्कुल साफ-साफ नजर आते हैं और इसी साफगोई के साथ उनकी कविता पढ़नी चाहिए। दूसरा यह कि जीवन में वे मध्य का रास्ता अपनाते हैं। 'पास' की तरह का बीच का रास्ता उनके पास नहीं है। मैं जीवन की बात कर रहा हूँ जैसे कि ओशो बार-बार वीणा का उदाहरण देते हैं कि वीणा के जो तार हैं, बहुत ज्यादा ढीले नहीं रह सकते हैं या बहुत कसे भी नहीं जा सकते हैं। महेन्द्र जी यहाँ बैठे हैं, वो बार-बार ओशो के पास जाते हैं तो जीवन का रास्ता जो बीच का रास्ता है, वे यदा-कदा कविता में भी लाते हैं। जैसे कि अभी पूरी कविता पढ़ी– 'इधर घर बनाया है शहर से दूर/इस तरह थोड़ा शहर में हूँ, थोड़ा बाहर।'

थोड़ा बाहर को समझते हुए जब हम संतोष जी की कविता को पढ़ते हैं तो उनके और उनके कवि के ज्यादा निकट पहुँचते हैं। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

धन्यवाद मोहन जी अपने वक्तव्य के लिए।

अगले वक्तव्य के लिए विष्णु नागर जी को यहाँ बुलाऊँ, उससे पहले कहूँ कि विज्ञान, धर्म, वैज्ञानिकता यह सारा कॉम्पलीकेशन हैं, जटिलता हैं। एक बिंदु मैं भी उसके संबंध में सामने रखना चाहता हूँ। मैं एक कविता

भी सुनाऊँ आपको। वो कविता मेरी नहीं है, नरेश सक्सेना जी की है, जो हमारे बीच हैं, बहुत बड़े इंजीनियर थे। उत्तर प्रदेश सरकार में जल निगम के पद से रिटायर हो गये हैं। आप हस्तक्षेप इस तरह से करें कि देखने की तरह ना हो। नरेश जी की कविता जो रास्ता दिखाती है कि कविता क्या होनी चाहिए? कविता को कहाँ जाना चाहिए? कविता की जिम्मेवारी क्या है? कल भी उसका प्रसंग आया है। देखिये विज्ञान क्या है?

पुल पार करने से पुल पार होता है, नदी पार नहीं होती।
नदी पार नहीं होती, नदी में धँसे बिना।

अगर आपके विज्ञान ने यह पुल छोड़ दिया तो नदी पार करने के लिए धर्म बीच में आयेगा। और बोलेगा गाय की पूँछ पकड़ कर आप नदी को पार कर लीजिये। तो यह जो कविता है साहित्य को यहाँ बीच में आना है कि जीवन जो है बिना फँसे पार नहीं होता है। धर्म कहेगा, बछिया की पूँछ पकड़ लीजिये, नदी के पार निकल जाइये। विज्ञान कहेगा, पुल बना कर निकल जाइये। लेकिन यह पूरी जीवन-दृष्टि नहीं है। यह पूरा जीवन इसमें नहीं समाता है। जीवन तब ही समायेगा जब जीवन में धँसेंगे आप। तो यह जो दृष्टि है, जीवन को समझने की, वही कविता की है।

यहाँ विज्ञान और यह जो हमारा धर्म है, क्योंकि उसका बहुत मिसयूज हो रहा है। ज्यों-ज्यों विज्ञान आगे बढ़ रहा है, त्यों-त्यों चीजें पीछे छोड़ देता है और वहाँ पर अंधकार होता है। धर्म उसे रोक लेता है, बीच में ले लेता है और उसके बाद विसंगति होती है। समाज में जो जड़ता है, समाज में जो हिंसा है, यह सारा स्वरूप उसे छोड़ देने की वजह से आता है। तेजी से विज्ञान आगे बढ़ रहा है, विज्ञान जितना आगे बढ़ता जा रहा है, बहुत सारी चीजें स्पष्ट होती जा रही हैं। लेकिन एक अजीब अंधकार भी सामने आता जा रहा है। वो धर्म के खाते में, एक किस्म की विडंबना के रूप में एक विश्व हमारे सामने आ रहा है और व्यापार और बाजार बखूबी इसका उपयोग कर रहे हैं।

आज आप देखें जितनी धर्मान्धता बढ़ रही है, पूरे विश्व में मार-काट बढ़ रही है, इसके पहले कभी नहीं थी। तो आज यह जरूरी है कि कविता बीच में आये, धर्म के बीच में, विज्ञान के बीच में उसकी अपनी

स्थिति मजबूत करे जिसका उदाहरण, कविता का, आपको मैंने बीच में दिया। एक छोटी–सी कविता की दो लाइन यह समझने के लिए कि हम इसमें कहाँ हस्तक्षेप कर सकते हैं। तो विचार–प्रक्रिया में यह भी बात ध्यान रखी जानी है, विज्ञान की भूमिका।

चौबे जी के प्रश्न भी लगभग इसी तरह के हैं। उनके पास विज्ञान का बहुत बड़ा आधार है। तो तमाम जीवन की गतिविधियों से होते हुए वे यहाँ तक आये हैं और उनका जो हस्तक्षेप साहित्य में है, उनसे बड़ी उम्मीद बनती है कि वो विज्ञान और धर्म के बीच अपना सार्थक हस्तक्षेप कर सकेंगे। बात को आगे बढ़ाने के लिए विष्णु नागर हमारे बीच में हैं। वे बहुत बड़े संपादक हैं, दिल्ली से आये हैं, एक बड़ी मैगजीन उन्होंने निकाली है। आज भी गद्य काव्य के बड़े प्रिय कवि हैं हम सबके। बहुत बड़े मनुष्य, बहुत इज्जत और बहुत मान के साथ उनको यहाँ पर बुलाता हूँ। विष्णु नागर जी से सुनते हैं कि उनके इस विषय पर क्या विचार हैं।

विष्णु नागर

सम्मानीय मंच और मित्रो।

मेरे परिचय के आगे बहुत कुछ जोड़ दिया गया है अनावश्यक रूप से। खैर, दरअसल पेशे से मैं पत्रकार हूँ और धर्म से लेखक और यह दोनों चीजें मुझे बोलने के लिए बाध्य नहीं करती हैं। भाषण देने के लिए बाध्य नहीं करती हैं, लेकिन यह आधुनिक जमाने की शायद मजबूरी है कि लेखक जिसका धर्म लिखना है, एक पत्रकार का धर्म भी लिखना है, उसे मजबूरी मे बोलना भी पड़ता है। तो एक मजबूरी और विवशता की तरह ही स्वीकार करता आया हूँ, और आज भी इसको इसी रूप में स्वीकार कर रहा हूँ, क्योंकि मेरा मन जो है कोई बात लिख कर कहने में ज्यादा रमता है। बोलने में कम।

एक बात जो आशीष जी ने, मित्रों ने कही, प्रकाश उप्रेती जी ने भी कही कि जो विधागत वर्चस्व की बात इसमें की गयी है, मतलब विषय मेरे समझ में नहीं आया है। इसका ठीक–ठीक आशय क्या है? 'विधागत वर्चस्व से होड़ लेती कविता'। किस विधा से होड़ ले रही है? आज की

दुनिया में नई कहानी तक यह बातें थीं कि कौन-सी केंद्रीय विधा है और कौन-सी केंद्रीय विधा नहीं है? यह बहसें तब काफी उठीं और राजेन्द्र यादव ने तो यह कोशिश की कि केंद्रीय विधा कहानी है और कविता कहीं आगे-पीछे नहीं। लेकिन यह बहसें मेरी दृष्टि में बहुत बेमतलब बहसें थीं, कहें कि इन सबका कोई अर्थ नहीं है।

कोई भी विधा केंद्रीय विधा का पद लेना चाहे, कहानीकारों को, कथाकारों को तो वे उसे अवश्य ग्रहण करें। उपन्यासकारों को वे उसे ग्रहण करें। एक अपनी ओर से या बाकी कवियों की ओर से मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं अपनी ओर से कविता को सबसे नीचे रखने को तैयार हूँ। और मेरे सामने कम से कम मैं समझता हूँ और बाकी जो मेरे कवि मित्र हैं उनके सामने यह संकट नहीं है कि कविता केंद्रीय विधा नहीं है। अगर ऐसा हुआ तो पता नहीं क्या हो जायेगा!

तो मेरे लिए यह कोई संकट की बात नहीं है। इस अर्थ में जरूर कहूँगा कि कविता केंद्रीय विधा रही है। इन अर्थों में हमारी दूसरी जो गद्य की विधा है, जैसा कि आशीष जी ने कहा, कि गद्य की विधा का आविष्कार कहें कि हमारे आधुनिक युग का है और कविता जो है हमारे आदिकाल से जुड़ी हुई है। हमारी जो हिंदी कविता है, वो भी कम से कम एक परंपरा से लगातार कुछ ना कुछ रिसीव करती आई है, ग्रहण करती आई है। एक लंबी परंपरा उसके साथ में जुड़ी हुई है, जिनमें कि सिर्फ संस्कृत काव्य की परंपरा नहीं है। यह हमारी लोक परंपरा है। तमाम तरह की परंपरा से कविता का कोई ना कोई लेना-देना, उसका कोई झगड़ा रहा है। उसका विरोध रहा है। उसके तमाम तरह के अंतर्विरोध रहे हैं परंपरा से। कविता पुरानी परंपरा से जूझती रही है, जुड़ती रही है और उसका एक लगातार रिश्ता आज भी बना हुआ है, जबकि यही बात हम दूसरी विधाओं के बारे में भी कह सकते हैं।

दूसरी विधाएँ कम से कम हिंदी में 100 से 125 साल से पुरानी नहीं हैं तो इसलिए दूसरी विधाओं के लोग शिकायत करते हैं तो जायज शिकायत है। आज की कहानी की कला इतनी विकसित हो चुकी है जबकि उपन्यास में भी इस धारा का काम हुआ है, उसके बावजूद आपको

कथा आलोचक मिलना मुश्किल है। मुश्किल से दो या चार लोगों का कथा आलोचक के रूप में आप नाम गिन सकते हैं। लेकिन कविता के लिए आलोचकों की बड़ी कतार आपको लगातार मिलेगी। इस अर्थ में इसलिए यह बात कह रहा हूँ कि कविता दूसरी साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा ज्यादा लंबी, सुदीर्घ, हजारों साल से साहित्य से रिश्ता रखने के कारण उसकी अपनी एक स्वतंत्र स्थिति रही है और उसका, एक तरह का अगर आप एक शब्द पसंद करें, तो वर्चस्व रहा है, दूसरों का नहीं रहा। इसलिए आप पाते हैं कि कवियों के पास, इसके बावजूद कि आरंभिक वक्तव्यों में कहा गया है कि बहुत से कवियों की कविता सामने रख दी जायें तो पता ही नहीं चलेगा कि किस कवि ने कविता लिखी है, बहुत–सी कविताएँ हैं, हर समय ऐसी कविताएँ होती हैं और ऐसी कहानियाँ होती हैं, ऐसा नहीं है कि यह हमारे ही युग की विशेषता है कि बहुत से कवि एक तरह की कविता लिखते हैं और बहुत से कहानीकार भी एक तरह की कहानियाँ लिखते हैं, इस सबसे इंकार नही करेंगे।

कवियों के बारे में, कहानीकार के विषय में यह शिकायत हो सकती है लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि तमाम कवियों ने अपना एक मुहावरा गढ़ा है, बनाया है, जिससे उनकी पहचान है। आज कम से कम बीस से पच्चीस कवियों के नाम लिये जा सकते हैं जिन्होंने अपना एक मुहावरा गढ़ा है, उनकी पहचान कर सकते हैं। मै खुद भी खराब कहानियाँ लिखता रहा हूँ। तो मैं खुद भी कहानी विचार का विरोधी हूँ, लेकिन क्या आप उतने ही विश्वास के साथ दूसरी विधाओं के बारे यह कह सकते हैं? जैसे कहानी मे मुहावरा ज्ञानरंजन ने गढ़ा अपने ढंग का। उसके बाद उसी मजबूती से, उसी ताकत से मुहावरा गढ़ने की यही क्षमता और कहानीकारों में नजर आती है!

तमाम विशेषताओं के बावजूद ऐसा लगता है हमको कि हमारी कविता की लंबी और सुदीर्घ परंपरा होने के कारण भी बहुत से कवियों ने अपना एक अलग मुहावरा गढ़ा है और इस समय होड़ की बात विधाओं में नहीं है। होड़ हमारी अपने समय से है जो सारी विधाओं को, जो भारतीय भाषा में लेखक ढो रहा है, उसको अलग कर रहा है, उसको अलग किनारे

किये दे रहा है। आज से तीस साल पहले हम भारतीय भाषाओं में अपनी भाषा के बड़े लेखकों को उभरते हुए देखते हैं और हम पाते हैं कि वो हमारे भारतीय रंगमंच में सार्थक तौर से हिंदी के माध्यम में आते हैं। आप देखते हैं कि यू. आर. अनंतमूर्ति का अनुवाद हिंदी में होता है तो सारे भारत में पहचाने जाते हैं। महाश्वेता देवी भी इस ऋण को स्वीकार करती हैं कि जब उनका अनुवाद हिन्दी में आया, तब जाकर वे भारत में पहचानी गयीं। बचपन में हमने दूसरे तमाम लेखकों जो बंगला के लेखक थे, उन्हें मैं जानता ही नहीं था कि दूसरी भाषा के लेखक हैं। 'चौरंगी' भले ही कलकत्ता के बारे में हो, लेकिन उनके अनुवाद इतने अच्छे होते थे।

इस समय जो होड़ है वह हमारे जीवन से है, जिसने हमारी तमाम भारतीय भाषाओं को एक किनारे पर डाल दिया है। हम जितने भी मध्यमवर्गीय हैं, उनके बच्चे अँग्रेजी में शिक्षा ले रहे हैं। उसमें कोई बुराई भी नहीं है, लेकिन एक भाव जो उनके मन में पैदा कर दिया है, वो शायद उसमें हमारा भी कहीं न कहीं योगदान है, यह कि हिन्दी भाषा का कोई मतलब ही नहीं है, उसमें कोई बड़ा काम नहीं हो रहा है। इसलिए हम लोगों के बच्चे भी अगर वो साहित्य पढ़ते हैं, अगर ईश्वर जैसी कोई चीज होती है और कृपा जैसी कोई चीज होती है, तो ईश्वर की कृपा से अँग्रेजी का घटिया साहित्य पढ़ते हैं वे, तो अपने पिता या भाई बहन के साहित्य में भी कोई दिलचस्पी नहीं लेते हैं।

भारतीय भाषाओं के पूरे साहित्य को आज पूरे सुचिन्तित ढंग से हम कह सकते हैं, नष्ट किया जा रहा है। हिन्दी कविता के बाजार में आकर ऐसा हो गया है। वैसे कौन-सा कविता का बाजार था, कौन-सा उपन्यास का बाजार था, वह भी नष्ट हो चुका है। हिन्दी साहित्य का तो बाजार जैसी चीज ही नहीं है।

आज हजार किताबें छपना भी गद्य की मुश्किल है तो कौन-सा बाजार है? मुझे तो ये बात कतई नजर नहीं आती है कि हिन्दी कहानी का कोई बाजार है या हिन्दी उपन्यास का कोई बाजार है। बाजार नाम की चीज का रचनाओं से कोई संबंध यानी उस तरह का नहीं है जो बाजार में बिक रही हैं तो हम उसके लिए उत्पादन करें।

हाँ, बाजार के दूसरे असर जो समाज पर पड़ रहे हैं, वे हम पर भी पड़ रहे हैं। हमारा रचना का कोई बाजार है, कवियों लेखकों का कोई बाजार है? और स्थिति तो यह है कि हमारे हिन्दी के लेखकों को कोई सम्मानपूर्वक बुलाता है तो अन्दर से वे कृतज्ञ-सा महसूस करते हैं।

ऐसा नहीं है कि हमारे कवि और तमाम विधाओं में यह आज की बात है। हम भारतेन्दु युग से शुरू करें तो वह सवाल भारतेन्दु युग में भी थे। उतने ही सिद्धहस्त नाटककार भी थे, अगर जयशंकर प्रसाद पर आते हैं तो उन्होंने तमाम विधाओं में लिखा है। निराला ने तमाम विधाओं में काम किया है। महादेवी ने, ऐसा रमेशचन्द्र शाह का मानना है कि महादेवी जितनी अच्छा कवयित्री नहीं उतनी अच्छी वे गद्यकार हैं, मैं उनकी बात से सहमत या असहमत हूँ! पर मैं उन्हें महान संस्मरणकार मानता हूँ। अज्ञेय ने यह काम किया है, रघुवीर सहाय ने काम किया है, श्रीकांत वर्मा ने जो काम किया है, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने जो काम किया है और विनोदकुमार शुक्ल ने भी यह काम किया है।

विनोदकुमार शुक्ल की जो प्रतिष्ठा कवि के रूप में है, उतनी ही प्रतिष्ठा उनकी उपन्यासकार के रूप में भी है। राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, संजय कुंदन, कुमार अंबुज तमाम ऐसे लोग हैं जिन्होंने तमाम विधाओं में काम किया है। यह हमारे समय की एक विवशता भी है और अभिव्यक्त करने की प्रबल इच्छा भी है। यह महत्त्वाकांक्षी होना नहीं कि मैं इसमें भी हाथ आजमा लूँ या मैं यहाँ भी अपनी कला दिखा सकूँ, मैं वहाँ भी अपनी कला दिखा सकूँ?। इसके पीछे कोई धारणा नहीं है, इसके पीछे यह है कि हर एक व्यक्ति के पास अभिव्यक्त करने के लिए इतनी चीजें हैं कि कविता भी उसके लिए अपर्याप्त पड़ती है।

मेरे साथ छोटा-सा दौर आया जब मैंने अपने स्केच बनाना शुरू किया। मुझे रेखाओं का कोई ज्ञान नहीं था, लेकिन वह इतना आनन्ददायक था और लगता था कि यह कुछ चीजें हैं जिनको कविता-कहानी आदि के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। कुछ है जो इसके माध्यम से ही व्यक्त किया जा सकता है। यह तमाम हमारे अंदर इतनी सारी चीजें हैं। शायद हमारे अंदर संगीत भी उतना ही है, पर हमारे अंदर उसको

संतोष जी कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, अनुवाद में काम करते हैं, एक्टिविज्म भी उनका क्षेत्र रहा है। विज्ञान और प्रबंधन भी उनका क्षेत्र है और परसों उन्होंने अपने भाषण में कहा था कि मैं कविता लिखता था तो कहानी लिखने लगा, लोगों ने कहा कि तुम कहानी बेहतर लिखते हो तो मैं उपन्यास लिखने लगा तो लोगों ने कहा तुम कहानी से बेहतर उपन्यास लिखते हो तो फिर मैंने कुछ आलोचनाएँ लिखी तो किसी ने कहा यह तो तुम उपन्यास से भी बेहतर करते हो। तो यह भी संभव है कि एक रचनाकार एक विधा में काम करे और यह भी संभव है कि समानांतर ढंग से कई विधाओं में काम करे।

अभिव्यक्त करने की कला और कोई अभ्यास नहीं है।

व्यक्ति के अंदर जो है, इतनी कुछ अभिव्यक्ति की ललक है, इतना कुछ है कि वह तमाम विधाओं में अपने आपको व्यक्त करना चाहता है। इसलिए एक कवि भी आज सामान्यतः अपने आपको अनेक विधाओं में व्यक्त करता है और यह कोई सिद्धांत भी नहीं है, जिससे अपने आपको कविता तक ही सीमित रखा जाये या कहानी तक ही सीमित रखा जाये या उपन्यास तक ही सीमित रखा जाये। तो कोई छोटा व्यक्ति है या बड़ा, यह नहीं हो सकता है, ना तो यह सिद्धांत है, ना यह सिद्धांत हो सकता है। लेकिन जो लोग आज की तारीख में अनेक विधाओं में अपने आपको अभिव्यक्त कर रहे हैं. उन्हें इस संदर्भ में भी समझना चाहिए कि हमारा जमाना, हमारा युग हमारे पास इतने साधन मौजूद हैं कि हमारी इच्छा जो है, उसे कई तरह से अपने आपको व्यक्त करने की होती है और कई तरह की चीजें जो हमारे अन्दर पनपती रहती हैं, उनको अभिव्यक्त करने की इच्छा हमारे भीतर होती है।

जहाँ तक संतोष जी का सवाल है, कई बातें हुईं उनके बारे में, जैसे वे कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, अनुवाद में काम करते हैं,

एक्टिविज्म भी उनका क्षेत्र रहा है। विज्ञान और प्रबंधन भी उनका क्षेत्र है और परसों उन्होंने अपने भाषण में कहा था कि मैं कविता लिखता था तो कहानी लिखने लगा, लोगों ने कहा कि तुम कहानी बेहतर लिखते हो तो मैं उपन्यास लिखने लगा तो लोगों ने कहा तुम कहानी से बेहतर उपन्यास लिखते हो तो फिर मैंने कुछ आलोचनाएँ लिखी तो किसी ने कहा यह तो तुम उपन्यास से भी बेहतर करते हो। तो यह भी संभव है कि एक रचनाकार एक विधा में काम करे और यह भी संभव है कि समानांतर ढंग से कई विधाओं में काम करे। ऐसा भी हुआ है कि कई लोगों ने कहानी और उपन्यास से शुरुआत की और कविता की ओर आ गये और वहीं के होकर रह गये।

राजेन्द्र यादव जैसे लोगों ने कविता, गीत से सफर शुरू किया और अंतत: वे कविता को गाली देते पाये गये। उन्होंने अपने आपको पूरी तरह गद्य को समर्पित कर दिया। ऐसा तमाम लोगों के साथ हुआ है, उन्होंने शुरुआत कहीं से की और कहीं पहुँच गये हों और उन्हें लगा कि यही मेरी मूल विधा हो सकती है। यह भी दोनों चीजें सही हैं कि हम एक साथ भी कई विधाओं में काम कर सकते हैं, काम करते रहे हैं और यह दोनों ही अपने आप, मैं समझता हूँ कि अपने समय में श्रेयस्कर चीजें हैं।

मैं समझता हूँ कि कोई कहानी या उपन्यास लिखता है तो कविता जरूरी रूप से खराब लिखता होगा, यह अपने आप में कोई प्रतिमान नहीं हो सकता है। वह उपन्यास भी लिख रहा हो और अच्छी कविता भी लिख रहा हो। यह बात अलग है कि मुक्तिबोध जैसे प्रतिभाशाली कवि हुए हैं और जितना बड़ा उन्होंने आलोचना में काम किया, मेरी नजर में आलोचना में जो बेसिक काम है, आलोचनात्मक काम है, वो हमारे सुविज्ञ आलोचकों से बड़ा काम है, ज्यादा बड़े शिखर पर उन्होंने किया है, ज्यादा बेसिक चीजों की बात उन्होंने की है। तो एक कवि के रूप में तो हम सब उनको मानते हैं, लेकिन एक आलोचक के रूप में उनका स्थान होना चाहिए। चूँकि हम उनको एक बड़ा कवि मानते हैं, इसलिए बड़ा आलोचक मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

यह हमारी हिन्दी भाषा में एक ग्रंथि लगातार बनी रही है कि हमने

किसी का एक रूप स्वीकार कर लिया तो दूसरे की तरफ देखना हम पसंद ही नहीं करते। तो इसके कारण भी हमारे जो कहानीकार हैं जो कविता भी लिख रहे हैं, उनका कोई काम कैसा है? कैसा नही? इसके बारे में हमने चर्चा किया, हमने मान लिया कि वे कहानीकार ही हैं, कविता तो वे वैसे ही लिख देते हैं। तो हम लोगों ने उसकी तरफ नजर दौड़ाने की कोशिश भी नहीं की कि दूसरी विधा में वो क्या काम कर रहे हैं? कितना महत्त्वपूर्ण काम कर रहें हैं। यह हमारे लिए महत्त्व का नहीं रहा। संतोष जी ने वो भले ही यह कहते हैं कि किसी विधा में आप बेहतर काम कर रहें हैं, लेकिन वे इसके साथ यह भी कह रहें है कि एक जगह दरअसल मैं खुद को अभिव्यक्त करने के लिए अपने आप अभिव्यक्त करने के लिए, जो भी विधा उपयुक्त होती है उसी का प्रयोग करता हूँ। कई बार यह बहुत उपयुक्त निर्णय नहीं होता है, जैसे दो उपन्यासों के बीच कहानियाँ आ जाती हैं, अचानक एक कविता बनती है, कौंध जाती है।

एक आदमी जो कई विधाओं मे काम करता है, उसके लिए कई बार यह तय करना मुश्किल होता है। कई बार आप लिखने की प्रकिया में होते हैं, आप सोचते हैं कि आप एक कविता लिख रहे हैं और इस तरह वह विकसित होती कि उसका रूप कहानी का बन गया है या व्यंग्य का बन गया। कई चीजें इस तरह शुरू होती हैं कि आप एक कहानी की तरह शुरू कर रहें हैं और अंततः वह कविता की शक्ल ले लेती है। तो एक व्यक्ति के लिए, एक रचनाकार के लिए जो कई विधाओं में काम करता है, उसके लिए यह तय करना बहुत मुश्किल है कि वह इस वक्त क्या काम करे या क्या ना करे। एक साथ आपका रचनात्मक दिमाग कई विधाओं के लिए काम करना शुरू कर देता है। एक कविता जो है जो संतोष जी ने लिखी है– 'दूसरा उपन्यास', जो पहले उपन्यास के बाद दूसरा उपन्यास लिखने की प्रकिया है, उसके बीच की क्या जटिलता है, क्या परेशानियाँ हैं, उस पर भी उनकी एक पूरी कविता है।

आप यह भी देखें कि एक लेखक जब उपन्यास लिखना चाहता है तो वह किस तरह, उसकी प्रकिया से जूझने के लिए अपने आप, अपने लिए कविता का सहारा लेता है। यह कुछ बातें हैं और यह भी है कि हम कहते

हैं कि निर्मल वर्मा का गद्य तो शुद्ध कविता है। हम यह भी कहते हैं कि विष्णु खरे की कविता तो शुद्ध गद्य, लेकिन वह गद्य कहाँ से कविता बन जाता है? कहाँ गद्य बन जाता है? यह एक ऐसा रसायन है कि जिसका विश्लेषण करना खुद कवि के लिए कठिन होता है कि कहाँ वो गद्य होते हुए भी कविता बन गया है? कहाँ वो कविता लिखते हुए भी गद्य बन गया है।

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ हैं, उनमें इतना घना व्यंग्य है, या परसाई जी जो व्यंग्यकार के रूप में माने जाते हैं, उनके पास कहानियाँ इतनी अच्छी हैं कि वो कहानी व्यंग्य की शक्ल में आती है। इसलिये उनके कहानीकार रूप की हमने उपेक्षा ही कर दी। कहानीकार के रूप में उनको रद्द कर दिया, जबकि उनकी अधिकांश रचनाएँ कहानी के शक्ल में ही हमारे सामने आती हैं। एक रचना अंततः क्या शक्ल लेती है, इसके बारे में तय करना मुश्किल है और एक विधा जो है, कई विधाओं में बीच तैरती है, जैसे कि संगीत और कविता के बीच अंतस्संबंध पर भी बहुत-सी रचनाएँ लिखी गईं।

यह हमने परसों ही देखा कि संतोष जी की एक कविता पर बच्चों ने कितने सारे चित्र बनाये। ये बहुत सुन्दर काम था जो मुझे बहुत अच्छा लगा। बच्चों से उन्होंने इतना अच्छा काम करवाया, यह तमाम विधाओं में लोगों का और हमारे युग में ऐसा संभव ही नहीं है कि एक विधा में आप काम कर रहे हों और दूसरी विधा से आप प्रभावित ना हों।

आज जो संगीत है, जो आप सुनते हैं, उसे कविता की दुनिया में आने से हम रोक नहीं सकते या हमारी दुनिया में चित्रकला है, उसका प्रभाव हमारी कविता में ना दिखाई दे, यह संभव नहीं है। यह पूरी इंटरेक्शन की दुनिया है। कविता और बुद्धि को लेकर यह धारणा बैठाई गई कि कविता और बुद्धि दो अलग-अलग चीजें हैं। यह इतनी मूर्खतापूर्ण बात है कि इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं हो सकती। कविता और बुद्धि का उतना ही संबंध है जितना बुद्धि का दूसरी चीजों से संबंध है। जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा था कि मेरा मूल पेशा अपने आपको भाषण में प्रस्तुत करने का नहीं है, तो जैसे भी मैं अपनी बात आप लोगों को कह पाया कहा,

रखने की कोशिश की। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

अब जो हमारे सत्र की चिन्ता थी, वो लगभग साफ होती जा रही है, कविता का बाकी विधाओं से वर्चस्व को लेकर कोई झगड़ा नहीं बनता। बल्कि यह स्पष्ट होता जा रहा है कि वर्चस्व कविता का है, बाकि विधाओं में कोई झगडा नहीं। तो यह एक नये झगड़े की शुरुआत है। जैसा कि चौबे जी कई विधाओं में काम करते हैं, यह शायद उसी तरह का प्रयोग बना जिसकी बातचीत हम यहाँ कर रहे हैं।

अब इसमें हस्तक्षेप के लिए हमारे बीच महेन्द्र गगन हैं जो कि प्रेम के कवि हैं। वे पत्रकार हैं पर कविता उनका एक बड़ा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। उनका पाक्षिक 'पहले पहल' साहित्य को बड़ी जगह देता है। बड़े सम्मान के साथ महेन्द्र गगन जी का स्वागत है।

महेन्द्र गगन

आदरणीय मंच और आप सब।

मैं माइक पर भी हूँ और हमेशा मंच से भागता भी हूँ। यह कुछ मित्रों का षड्यंत्र है कि मैं यहाँ पर हूँ और जैसा कि नागर जी ने कहा भी कि मेरा धर्म कविता है, बोलना नहीं। फिर भी मैं अपनी बात लिखकर लाया हूँ। विषय भी मेरी समझ में बहुत नहीं आया। मैंने एक-दो लोगों से अवश्य पूछा, उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से बताया। किसी ने बताया कि विचारधारा से संघर्ष है, किसी ने बताया वामपंथी और दक्षिणपंथियों का संघर्ष है। इस तरह से वर्चस्व की बात हुई, लेकिन मैं अपनी बात लिखकर लाया हूँ।

साहित्य की विधाओं में कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, निबंध, यात्रा-वृत्तांत, डायरी लेखन आदि आते हैं। हिन्दी के डायरी और निबंध अब बहुत कम हो गये हैं, दलित निबंध अब ढूँढ़े नहीं मिलते। हमारे रंगकर्मी अक्सर यह शिकायत करते हैं कि हिन्दी में नाटकों की बहुत कमी है। देवेंद्रराज अंकुर ने शायद इसलिए कहानियों के रंगमंच को

विकसित करने की कोशिश की। हाल में उन्होंने संतोष चौबे की कहानी 'गरीब नवाज' का मंचन किया और हम सबने देखा, कहानी को सुनने और उसका मंचन देखने में कितना अंतर आता है। मंचन को देखते हुए हम यह समझ पाये कि मंच से कहानियों में वो बात उभर कर आती है जिसे हम कहते हुए नहीं कह सकते।

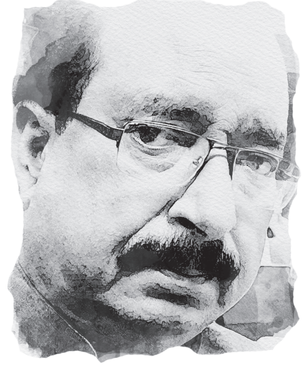

संतोष चौबे की कलात्मक अभिरुचियाँ विविधतापूर्ण हैं। इन दिनों उनका मन उपन्यास में ज्यादा रम रहा है, मगर वे मूलतः कवि हैं। जो संवेदनशीलता उनके यहाँ है, वो एक कवि की ही हो सकती है। जैसा कि आप-हम सब जानते हैं कि संसार में हमेशा कविता का वर्चस्व रहा है। भारत का साहित्य-शास्त्र तो ईश्वर को ही एक कवि कहकर बुलाता है। वह कहता हैं कि संसार ईश्वर की रची हुई एक कविता है।

संतोष चौबे की कलात्मक अभिरुचियाँ विविधतापूर्ण हैं। इन दिनों उनका मन उपन्यास में ज्यादा रम रहा है, मगर वे मूलतः कवि हैं। जो संवेदनशीलता उनके यहाँ है, वो एक कवि की ही हो सकती है। जैसा कि आप-हम सब जानते हैं कि संसार में हमेशा कविता का वर्चस्व रहा है। भारत का साहित्य-शास्त्र तो ईश्वर को ही एक कवि कहकर बुलाता है। वह कहता हैं कि संसार ईश्वर की रची हुई एक कविता है।

हमारे देश का दर्शन आख्यान सभी काव्यमय प्रतीत होते हैं। लोक और आदिवासी जीवन की कथाएँ गढ़ते और पढ़ते जरूर हैं, मगर उनका मन गीत और संगीत में ही विभोर होता है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक अगर हम अपने जीवन पर दृष्टि डालें तो हमारे आसपास कविता का वर्चस्व दिखाई पड़ता है। आधुनिक उद्योग तकनीक ने हमारे जीवन में नई-नई असहजताएँ पैदा कर दी है, इसी कारण हम प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं। ऐसे में कविता लिखना कठिन

होता जा रहा है।

हिन्दी में गद्य के विकास के साथ-साथ कहानी विधा प्रमुखता से बढ़ी है। हिंदी के अनेक लेखकों का इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रेमचन्द, देवकी नंदन खत्री आदि की कहानी तो आज भी घर-घर में पढ़ी जा रही हैं। उपन्यास भी एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में उभरा है। गद्य फिर अपने बोल-बाले के बाद शायद कविता को अपने वर्चस्व की लड़ाई लड़ते हुए दिखाई पड़ता है। कविता ही छंद से मुक्त हुई और गद्यात्मक होने लगी है। कभी-कभी तो इतनी गद्यात्मक होने लगी है कि अखबार की खबर और कविता मे अंतर करना मुश्किल हो जाता है।

एक आलोचक ने तो अपने संपादकीय में यह भी लिखा कि कोई एक कवि ही अलग-अलग नामों से बहुत सारी कविताएँ लिख रहा है। अगर कविता के ऊपर से नाम काट दिये जायें तो यह पता लगाना मुश्किल है कि किस कवि की कविता है। अगर हम निराला, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएँ लें, उनके नाम हटा भी दें तो हम पहचान सकते हैं कि किसकी कविता है। आज हमारा दुर्भाग्य-सा बन गया है कि कविता कवि से नहीं पहचानी जाती, बल्कि अपनी जगह वह पहले से निश्चित कर लेता है फिर कविता पीछे-पीछे चलती है। इसके बावजूद हिन्दी में आज भी काव्य-समर्पित कवि हैं जो मानते हैं कि जब तक शब्द हैं जब तक कविता रचित की जा सकेगी जबकि आज शब्दों को कितना ही अपवित्र लहूलुहान किया जा रहा हो। इस संदर्भ में हम रघुवीर सहाय को याद करते हैं जिन्होंने कठिन होते जा रहे समय की जटिलताओं को रचने को शिल्प गढ़े। वे एक ऐसी कविता रचकर दिखा गये हैं जिससे प्रेरणा लेकर हम अपने समय की कविता को रच सकते हैं। रघुवीर सहाय ने गद्य के वर्चस्व से होड़ लेकर एक गद्यात्मक कविता रची जो कविता का वर्चस्व कायम रखती है।

यह अलग बात है कि जिन कवियों ने रघुवीर सहाय की कविता स्किल को आयाम मानकर कविता लिखी, वे पकड़े गये। प्रश्न यह है कि आज वे कवि कहाँ हैं जो इस कठिन समय में दूसरी विधा से होड़ लेते हुए कविता के उस शिल्प को प्रस्तावित कर सकें जिससे कविता का

वर्चस्व बना रहे और आगे भी जारी रहे। संभावनाएँ कभी समाप्त नहीं होतीं। हम कह सकते हैं, उम्मीद तो है। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

धन्यवाद महेन्द्र जी। विमर्श की इस श्रृंखला को आगे बढ़ाने के लिए मैं मंडलोई जी को आमंत्रित करता हूँ।

लीलाधर मंडलोई

आदरणीय मंच और मित्रो।

यह जो पूरा आयोजन हो रहा है, उसका शीर्षक बहुत अच्छा है और यह जो 'साहित्य पर्व' है, दरअसल इस साहित्य पर्व में सारी साहित्यिक विधाओं की समावेशिता को लेकर कोई भी विचार हुआ हो, लेकिन जब इसके विषय तय किये गये होंगे तो उसमें अद्‌भुत विषय यह भी है। जहाँ पर वर्चस्व की बात हो रही है, अगर नागर जी ने कहा कि ऐसी कोई विधा नहीं है आज जिसे बाजार की जरूरत है या बाजार को जिसकी जरूरत है। कविता कितनी बिक रही है? कहानी कितनी बिक रही है? यह कितना बिक रहा है, वो कितना बिक रहा है? वो उन्होंने संख्या बताई और मैं आपको एक प्रकाशक के तौर पर संख्या बता रहा हूँ।

जबसे नई टेक्नॉलॉजी आई है, 1100 भी छपने बंद हो गये हैं। अब लिखने के बाद निगेटिव बन जाते हैं। 300 का आर्डर दीजिये और 300 बिक जाये या आर्डर आ जाये तो तुरंत छाप दीजिये। तो आप ऐसे हालात में पहुँच गये हैं। तो किस विधा के वर्चस्व की बात कर रहे हैं? इस बाजार में पाठक के संसार में यह चीज उस तरह से नहीं है जिस तरह से साहित्य में जो उठे हुए बवंडर हैं। कि यह विधा वर्चस्व वाली विधा के समय में है। मित्रो, ऐसा कुछ भी नहीं है। इस साहित्य पर्व में जितनी विधाएँ हैं उनकी अपनी जगह है, थोड़ी ही सही, पर जगह है। हमें उसके आलोक में देखना चाहिए। यह साहित्य का पर्व है, इस सभागार के बाहर भी पब्लिक डोमेन है, वहाँ भी जितने भी आपके पाठक हों वे पढ़ते हों या कभी-कभार मित्र उठा कर ले जाते हों, वे पढ़ते हों। एक पाठक वर्ग

है।

दुष्यंत का एक शेर याद आता है। वो शेर नहीं कविता है, माफ करना। (विष्णु नागर बोल रहे हैं, शेर क्यों बोलता हूँ? बहुत ज्यादा कविता क्यों नहीं बोलता?) देखिये यदि आप साहित्य पर्व में और साहित्य की दुनिया में हैं तो एक चीज याद रखिये कि सारी की सारी बहस, आलोचना और सारी मारकाट के बीच में, कि–

धीरे-धीरे पाँव हिलाओ जल सोया हुआ है मत छेड़ो तुम।
एक दिन हम अपने दीपक यहीं सिराने आयेंगे।

तो मित्रो विधा कोई भी हो और किसी का भी वर्चस्व आप स्थपित कर दें, लेकिन सत्य तो यह बना ही रहेगा कि साहित्य की ही विधाएँ हैं साहित्य के बाहर की नहीं। दूसरी बात यह कि मुक्तिबोध तो कह ही गये हैं, और हम उनकी बात से इत्तेफाक रखते हैं, तो एक सवाल और हल हो जाता है। और वो यह है– नहीं होती खत्म कहीं भी खत्म कविता, नहीं होती कि आवेग त्वरित काल यात्री है।

और अगर वो कालों की यात्रा करते हुए आज भी उपस्थित है, और जैसा नागर जी ने कहा कि जैसा 100 से 125 साल के इतिहास का कम से कम, जो हिंदी में बना है तो एक बात और तय होती है और विभिन्न भाषाओं में जो कालजयी कृतियाँ हैं और लोक में वाचक में कालजयी कृतियाँ हैं, उनमें चरित्र हैं, उनमें मिथक हैं, उनमें धर्म है, उनमें दर्शन है और ना जाने क्या-क्या? वो केवल कालजयी कविताओं में ही आपको मिलेगा। कहने का मतलब साहित्य का आदिम स्वरूप कविता ही है। वो लोरी और प्रार्थना से शुरू होकर आज भी आपकी साँसों में कहीं ना कहीं उपस्थित है। तो उसके बाद जितना भी गद्य की विधाओं में लिखा गया, क्या यह कोई दावे के साथ कह सकता है कि जो चरित्र उठाये गये हैं जो ऐतहासिक चरित्र उठाये गये हैं, जो मिथक उठाये गये हैं, जो लोक की गाथाएँ उठायी गयी हैं, क्या वो उन कालजयी कृतियों से लेकर नहीं बनाया गया है, या उनको केंद्र में रखकर एक कथा नहीं बुनी गई है? तो आपने लिया तो उसी कविता की यात्रा से है, जो कालों से चलती चली आई है। रामायण हो या, महाभारत हो, रामचरित मानस हो, हिमांशु जोशी का तो पूरा

साहित्य ही या शिवाजी सावंत का पूरा मृत्युंजय ले लें, छावा ले लें, या युगांधर ले लें। जितनी भी कालजयी कृतियाँ हैं, उन्हीं से यह चरित्र उठाये गये हैं और आधुनिक समय में उनके साथ एक नया ट्रीटमेंट किया गया है और इसके साथ वो नई कृतियाँ बनी हैं।

मूल रूप से गद्य की विधा में जो कुछ भी लिखा गया है, उसका एक बहुत गहरा रिश्ता स्रोत के स्तर पर कालजयी महाकाव्य से ही बनता है या नहीं बनता है, तो सोचना चाहिये।

अगर लोककथाएँ नहीं होतीं, लोक के आख्यान नहीं होते तो क्या आज की कहानी कोई स्वतंत्र अस्तित्व लेकर खड़ी होती? इस बात को सोचना चाहिए। नाटक, फिल्म के बारे में तो कहा ही जा सकता है कि फिल्म इज नथिंग बट पोयट्री इन सेल्युलाइड। यही कहा जा सकता है। या चित्रकला पोयट्री है, बिना पोयट्री के या पोएटिक संसेबिलीटी के कोई अच्छी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती है। कुम्हार भी जो घड़ा बनाता है या गढ़ता है, वो भी बिना पोएटिक संसेबिलिटी के बगैर संभव नहीं है। तो वो आवेग त्वरित कालजयी यात्रा की बात मुक्तिबोध कहते हैं, वो बहुत सोच-समझकर कहते हैं। दूसरी बात यह है कि चलिये मान लेते हैं, कविता को एक कारण से उपन्यास या कहानी के वर्चस्व की बात कह रहे हैं तो चलिये हटा देते हैं। थोड़ी देर के लिए निराला, मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा, शमशेर, विनोदकुमार शुक्ल, रघुवीर सहाय, यहाँ तक कि उदय प्रकाश, राजेश जोशी, नवीन सागर, नरेन्द्र जैन, आलोचना में आप लीजिये नामवर जी के बारे मे क्या कहा जा सकता है, उनके भीतर पोएटिक संसेबिलिटी से है। तो पोयट्री का जितना बड़ा जगत है, यहीं से उसकी आलोचना बनती है। बिना पोयट्री के केंद्र में लाये आलोचना भी नहीं बनती। कविता के नये प्रतिमान इसका बड़ा उदाहरण है। आप विश्वनाथ त्रिपाठी को ले लीजिये, मलयज को ले लीजिये, विजयदेव नारायण साही को ले लीजिये, आप प्रभात त्रिपाठी को ले लीजिये, आप अशोक वाजपेयी को ले लीजिये, विजय कुमार को ले लीजिये। इन तमाम लोगों की आलोचना को आप देखेंगे तो उसका मूल थ्रस्ट है, उस आलोचनात्मक विवेक का उन्हीं कविताओं के रास्तों से निकल कर ही अंतिम रूप से

अगर लोककथाएँ नहीं होतीं, लोक के आख्यान नहीं होते तो क्या आज की कहानी कोई स्वतंत्र अस्तित्व लेकर खड़ी होती? इस बात को सोचना चाहिए। नाटक, फिल्म के बारे में तो कहा ही जा सकता है कि फिल्म इज नथिंग बट पोयट्री इन सेल्युलाइड। यही कहा जा सकता है। या चित्रकला पोयट्री है, बिना पोयट्री के या पोएटिक सेंसेबिलीटी के कोई अच्छी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती है। कुम्हार भी जो घड़ा बनाता है या गढ़ता है, वो भी बिना पोएटिक सेंसेबिलिटी के बगैर संभव नहीं है।

कोई अपनी बात कह पाता है। ऐसा मुझे लगता है, और हो सकता है कि मैं गलत होऊँ। धर्मवीर भारती और प्रसाद के नाटकों का क्या करेंगे जो कविता के बिना आगे बढ़ते ही नही हैं। अब शशांक कविता के आदमी नहीं हैं लेकिन कविता में जो एब्सट्रेक्ट में कथा का विस्तार विधान बनता है, वो पोयटिक सेंसेबिलिटी से ही बनता है। मुकेश वर्मा सामने बैठे हैं। मुकेश वर्मा की अधि कांश कहानी बिना पोयटिक सेंसेबिलिटी के संभव ही नहीं हो पाती। अभी-अभी इनकी एक लंबी कहानी मैंने पढ़ी है।

इस सत्र में जान लेना जरूरी है कि हम विधाओं के झगड़े में नहीं हैं। हम साहित्य की बात कर रहे हैं। साहित्य पर्व है तो उसकी तमाम विधाओं की समावेशिता है। अब एक संकट आज का नया है, आप विधाओं के बारे में चाहे कविता हो, कहानी हो, उपन्यास हो, निबंध हो, कुछ भी हमको हिंदी में साहित्य पढ़ाया जाता रहा है कि कविता के ये अनिवार्य तत्त्व होते हैं। उपन्यास के ये अनिवार्य तत्त्व होते हैं। क्या आज की तारीख में किसी उपन्यास को पढ़ते हुए यहाँ तक कि किसी कविता को पढ़ते हुए, जो प्रतिमान हमको बताये गये थे, आचार्य शुक्ल से लेकर, क्या वो फलीभूत या संभव होते दिखाई पड़ रहे हैं?

उसका कारण तो यह है कि मित्रो, मैं उस तरफ इशारा कर रहा हूँ कि

विधाओं के वर्चस्व की बात तो हो गयी और यह तो एक शरारती आयोजन है विधाओं के वर्चस्व का विषय रखना और जिसने रखा होगा, उसने सोचा होगा कि कुछ मजे तो होना चाहिए। बिना नमक-मिर्च के कुछ मजा नहीं आता है। अब यह बात बताइये, इन दिनों एक बात कही जा रही है कि गद्य की सारी विधाओं की सरहदें इतनी अशांत हो चुकी हैं कि उसकी मूल स्वरूप की शिनाख्त करना मुश्किल हो गया है, तो आप किस विधा के वर्चस्व की बात करेंगे। कहानी को उठा कर देख लीजिये। उसमें कविता भी चली आ रही है, उसमें यात्रा-वृत्तांत भी चला आ रहा है, उसमें निबंध भी चला आ रहा है। आत्मकथा में चले जाइये तो आत्मकथात्मक उपन्यास है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने तो एक नारा ही गढ़ दिया कि यह स्मृति आख्यान है। पहले हम 'यात्रा वृत्तांत' कहते थे, अब हम कहते हैं कि 'यात्रा आख्यान' है। पहले निबंध को आप एक ही रूप में जानते थे, अब वैचारिक निबंध भी हो गया है, वैज्ञानिक निबंध भी हो गया है। जाने कितने रूप आ गये हैं! जब विधाएँ इतनी अशांत हैं कि उसका मूल स्वरूप ही नहीं है, चाहे कविता में हो या अन्य विधा में, तो फिर वर्चस्व की क्या बात?

उसके बारे में कही ना कहीं कोई चिंता पाठकों को लेकर किसी आलोचक में जन्म ले रही है? यह विद्यार्थी जिनको आप हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ाते हो और विधाओं के अनिवार्य तत्त्व मतलब घुट्टा मार-मारकर पढ़ाया जाता है। जब यह विधाएँ अशांत हो गयी हैं तो इन अशांत विधाओं में जो चीजें शामिल होती जा रही हैं और उनका स्वरूप ही दिखाई नहीं दे रहा है। तो आप वर्चस्व की बात करेंगे तो किस वर्ग की बात करेंगे? यह जो विधाएँ जो अपने मूल स्वरूप में नहीं बची हैं, उनके वर्चस्व की बात करेंगे या जो फतवे जारी किये जा रहे हैं, उनकी? कहानी का वर्चस्व है, या उपन्यास का वर्चस्व है दरअसल क्या है? कि किसी आयोजन में एक चीज होना यह चाहिए कि आप यह आयोजन जिन दर्शकों या पाठकों के लिए कर रहे हैं, उनके अनुरूप भी थोड़े विषय हों।

हम लेखक भी सब अपने लिए जो पत्रिकाओं में बहस चल रही है जो कथाकार बहस कर रहा है, उनके इन्फ्लूएंस से आप उन्हीं विषयों को

रखते हैं। तो यह सिर्फ लेखकों के लिए, तो यह भी एक मुझे चिंता का विषय लगता है। अब मैं समझता हूँ, यह जो वर्चस्व की बात है, इसको बहुत तूल नहीं देना चाहिए। जिसे हम कहते हैं कि इंटर्नल रिलेशन का मामला है, लेखकों के बीच है। पब्लिक डोमेन में जो चीज जा रही है, वहाँ एक पारदर्शिता जरूर होनी चाहिए कि अगर आप अपने पाठकों, अपने सुनने वालों को कंन्फ्यूज करने के लिए किसी तरह के विषय का प्रावधान रखते हैं तो आप अपने लक्ष्य, अपने टारगेट से थोड़ा-सा भटक जाते हैं।

मैंने संतोष जी के बारे में उद्घाटन सत्र में काफी बोल दिया है और रेडियो की भाषा में बात करूँ तो 1.45 मिनट होने को आया है और कल आपको भोजन ना मिलने से जो तकलीफ हुई, उसका बहुत सारा जिक्र होता रहा है। मुझे लगता है कि हमको अपनी बात यहीं पर संपन्न कर देनी चाहिए। जहाँ तक संतोष जी की बात है, यह विषयगत भ्रांति की बात है जो उनकी एक कविता में कही गयी है। उसके कुछ टुकड़े लगते हैं। दरअसल वो ही भ्रांति पीछे तक पहुँच रही है और इस कविता में एक पाठक भी शामिल है। तो भले ही संतोष जी की वाइफ ही क्यों ना रही हों, उसका भी जिक आता है और कविता की पंक्ति यह है–

पढ़ी हमने कविताएँ जिनमें शांति भी और क्रांति भी थी
कुछ-कुछ उजाला था और शायद कुछ भ्रांति भी।

हमारे इस कार्यक्रम में हम लोगों ने बैठ कर थोड़ा-सा कुछ उजाला और थोड़ा-सी कुछ भ्रांति दूर करने की कोशिश की है। इसके आगे तो कुछ कहा नहीं जा सकता है। बहुत लंबी तैयारी थी, लेकिन मैं अब कुछ नहीं बोलूँगा। बस अंत में इस आयोजन के लिए दो पंक्तियाँ सुनाता हूँ, जिनका संबंध संतोष जी से है और हम सब लोगों से भी है– 'अपनी हस्ती से जो हो, आ गई, गर नही हों गफलत ही सही।' धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

सम्मानपूर्वक अध्यक्षीय उद्बोधन के लिए नरेश सक्सेना जी को आमंत्रित करता हूँ। उनका एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। हम यह देखते हैं कि जो

जाना गया सच है, वो सारा उस पैरामीटर पर होता है, जो समाप्त होने वाले हैं जिनका जीवन है, लेकिन जीवन को चलाने वाला अनिश्चय है। उस सच की तरफ कविता कैसे प्रकाश डाल सकती है? क्योंकि वे एक वैज्ञानिक आधार पर कविताएँ लिखते हैं तो संभवतया वे इसे पर भी कुछ कहना चाहेंगे। एक दो कविताएँ जिनके लिए आप भी वेट कर रहे होंगे और मैं भी कर रहा हूँ, उन्हें सुनाने का भी निवेदन है।

नरेश सक्सेना

मान्य संतोष चौबे जी को बधाइयों के साथ। मैं बड़ी देर से बैचैनी से यह महसूस कर रहा था कि ये बच्चे तमाम सारे आ गये हैं। यह किस धोखे में आ गये हैं। कविता का नाम देख के उनके समझ में नहीं आया होगा कि यह वर्चस्ववाद क्या होता है? पर कविता का मामला है तो चले चलते हैं, तो बेचारे अपने बस्ते वगैरह लिये हुए, टाई लगाये हुए आकर बैठ गये। अब यहाँ इतनी देर से साहित्य की टेक्नोलॉजी पर बात हो रही है। तो यह हमारे आपस के टेक्नीकल पेपर्स हैं। इससे इनका क्या मतलब? जबकि कविता या कहानी हो तो इसके असली श्रोता यही हैं, जो बतायेंगे तो यही ना कि कविता क्या है? क्योंकि यह पहचान लेते हैं तुरंत। आप इतना व्याख्यान कविता के बारे में देने के बदले कविता पढ़ कर दिखाइये। जैसे ही कविता का कोई प्रसंग, कोई तत्त्व आयेगा, पूरा हाल ताली बजायेगा कोई एक नहीं बजायेगा कि उसने समझ ली बाकि नहीं समझ पाये। क्योंकि कविता का टेस्ट तो है उसका तो सामना करना ही पड़ेगा। जिसके लिए वो लिखी गयी है, उसका वह सामना नहीं करेगी, उससे भागेगी तो उसकी दशा यही होगी जो दशा हो गयी है। साहित्य को अपने श्रोताओं का सामना करना पड़ेगा और अच्छे साहित्यकारों ने चाहे वो किसी विधा में लिखते हों, यह काम किया है। महेश कटारे की एक कहानी का पाठ मैंने सुना 'मुर्दा स्थगित'। भारत भवन, भोपाल में मैंने सुनी, और एक-एक पंक्ति पर तालियाँ बज रही थीं, जैसे कि वे शेर सुना रहे हों। यह गजब का पाठ था। ममता कालिया ने भी इसी तरह की एक कहानी का पाठ किया था। तो यह विधाओं की लड़ाई बिलकुल नहीं है। कविताओं पर तालियाँ

बजती हैं तो गद्य पर भी तालियाँ बजती हैं। और कविता तो भाषा का श्रेष्ठतम रूप है। भाषा में जो कुछ भी अपने उत्कर्ष पर है, वो कविता में है और कविता होती ही तब है। कविता होने की दो शर्त होती हैं जिन्हें मैं मानता हूँ, हालाँकि कविता के बारे में आज जितनी सफाई से आशीष त्रिपाठी ने बताया कि भाषा हमारे पास आई ही अंतिम कला के रूप में, लगभग अंतिम कला के रूप में। सिनेमा आया उसके बाद। उससे पहले तो सारी कलाएँ आ चुकी थीं। उससे पहले लय जिससे हमारा दिल धड़क रहा था, तो हमारे साथ जन्म से जो संगीत का हिस्सा है, अभिनय जब भाषा नहीं थी, जब कम्यूनीकेशन तो था, वह तो अभिनय से ही होता था। यह थियेटर का भाग है। तो थियेटर भी उससे पहले था जब भाषा नहीं थी। तो संगीत तो था, नाटक तो था, चित्रकला भी थी, क्योंकि गुफाओं में आज भी प्राचीन चित्र मिलते हैं, शब्द नहीं मिलते हैं, तो चित्रकला भी उससे पहले आ गयी थी। तो अल्टीमेटली भाषा जब आई, इन सब कलाओं के बाद, तो इन सारे इनग्रेडिएंट का इस्तेमाल करेगी या नहीं करेगी। उसने इन सबका इस्तेमाल किया। उसने बिंबों का यानी चित्र का, छंदों का यानी लय का, लेकिन जैसा टेक्नोलॉजी के बदलने से हुआ, जो आशीष त्रिपाठी ने आपको बताया कि ऋग्वेद के समय गद्य और काव्य में फर्क नहीं था। जो संस्कृत के बड़े गद्यकार थे, सभी महाकवि कहलाते थे। यह धोखा बीच में खड़ा हो गया। दो ही रूप हो सकते हैं कविता के, कविता में गद्य भी हो सकता है और कविता पद्य में भी हो सकती है। टेकनोलॉजी चीजों को बदल देती है। टेक्नोलॉजी आई तो सबकुछ बदल गया। हमारी पूरी दुनिया बदल गयी टेक्नोलॉजी बदलने से।

यह जिस तरह की फ्लैट रूफ का हॉल आप देख रहे हैं बिना खंभे के, क्या यह बिना टेक्नोलॉजी के संभव था? आज से सौ साल पहले ऐसा एक हॉल बनाया जा सकता था? रिइंफोर्स सीमेंट टेक्नोलॉजी आने के पहले ऐसे हॉल का निर्माण नहीं हो सकता था। पत्थर की पट्टियाँ लगानी होती थीं या पत्थर के तीरे लगाने होते थे, या फिर लकड़ी के तीरे लगाने पड़ते थे, धन्नियाँ लगानी पड़ती थीं। बड़ा हॉल बन ही नहीं सकता था।

प्रिंट की टेक्नोलॉजी आई, इसने परिवर्तन किया। हमारी जो विवशता

थी, मजबूरी थी कि भाई याद कैसे होगा। अब प्रिंटिग टेक्नोलॉजी है। नहीं तो हाथ से लिख कर रख लिया जाता था। भोजपत्र पर लिख लिया, लादकर कहाँ ले जाते... तो इस तरह लिखा जाता था सूक्ष्म और लय के साथ कि वो याद हो जाये आसानी से। जैसे ही प्रिंटिग की टेक्नोलॉजी आ गयी तो बाध्यता खत्म हो गयी। अब तो जितनी प्रतियाँ भी चाहिए ले जाओ और सबके पास पहुँचा दो, याद करने की कोई जरूरत नहीं है। तो अब यह बाध्यता नहीं है कि लय के साथ लिखना, यानी वह याद हो जाये। ये चीजें खत्म हो गयीं।

अब सामाजिक उद्‌देश्य किसी भी रचना की दूसरी शर्त है, वह चाहे कविता हो, कहानी हो, वो तभी होगी जब वह लोगों के बीच जायेगी। वर्ना तो स्वांत:सुखाय आप कुछ भी करते रहें वो निरर्थक चीजें होती हैं। एक दूसरा श्रावक चाहिए ही चाहिए। लिखने का मतलब तो तब है जब पढ़ा जाये। उसका उद्‌देश्य पूरा हो और उसकी एक सामाजिक संगति होती है। क्योंकि हम सामाजिक हैं और हमारी भाषा हमने अकेले पैदा नहीं की है। यह उसकी सामाजिकता होती है। भाषा हमें समाज से ही मिलती है तो इसमें कोई वर्चस्ववाद नहीं है। ये बिल्कुल नकली शीर्षक है। असली संकट हमारा वही है, हमारे पास पाठक ही नहीं हैं। क्योंकि हिंदी की हैसियत नहीं है। भारतीय भाषाओं की कोई हैसियत नहीं रही, क्योंकि जिन भाषाओं में आजादी की लड़ाई लड़ी, वे स्वतंत्र थीं। लेकिन जैसे ही भारत आजाद हुआ, हमारी भाषाएँ गुलाम हो गयीं। अब सबकुछ अँग्रेजी में चाहिए। आप जानते हैं कि दो सौ-तीन सौ शिक्षण संस्थाओं की सूची बनती है। तो भारत की एक भी संस्था उसमें शामिल नहीं होती है।

तो यह क्या हो गया भाई! ये हमारे इंगलिश मीडियम एजुकेशन ने क्या काम कर दिया? हमारे यहाँ नोबेल प्राइज आये आजादी के पहले। आजादी के बाद कितने आये? पिछले सत्तर से अस्सी सालों में हमने कौन-सा विश्वस्तरीय अनुसंधान करके दिखा दिया? सिवाय इसके कि कुछ मिसाइलें उड़ाईं। उसमें हमारा नाम भी हुआ जो उससे पहले ही उड़ चुकी थीं। लेकिन हमने भी उड़ाईं। पाँच-छह देश के क्लब में हम भी शामिल हुए। जो क्या ए.पी.जे. अब्दुल कलाम थे इसलिए? लेकिन वो अँग्रेजी

मीडियम से नहीं आये थे। वो मदरसों में पता नहीं कहाँ से कहाँ पढ़कर आ गये थे।

इंगलिश मीडियम से पढ़कर कौन-से बच्चे ने भारत का नाम और अनुसंधान कर दिया है, ये तो हमे सोचने पर पता नहीं लगता है। जो भी नोबेल प्राइज आये हैं, वो लोग भारतीय भाषाओं के थे। खैर मैं लंबा नहीं करूँगा, क्योंकि आप लोग तालियाँ पहले ही बजा चुके हैं। मेरा कहना यह है कि खत्म करने के लिए कविता सुनाता हूँ।

मै आइंसटाइन को कोट कर दूँ। जब यह बहस हो रही थी और जब आइंसटाइन और ये स्टीफन हॉकिंस पैदा हो चुके थे, और यह बात हो रही थी कि जो भी एटॉमिक और सब-एटॉमिक स्तर के, इलेक्ट्रॉन से भी छोटे जो मूवमेंट हैं, ये न्यूटॉनिक फिजिक्स से एक्सप्लेन ही नहीं होते हैं। आइंसटाइन ने कहा, यह कैसे हो सकता है? यह मुझे क्या पढ़ा रहे हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है? कोई न कोई यूनीफाइड थ्योरी तो होगी? यह उस समय के युवा वैज्ञानिकों और आइंसटाइन में खुद यह बात चल रही थी। तो वे बहुत परेशान हुए। तो उस वक्त रदरफोर्ड ने शायद यह कहा कि जो भी सिद्धांत हैं, वो एक बार मेड की समझ में भी आने चाहिए। तो इस पर आइंसटाइन ने कहा– द प्रिसीपल्स, द बेसिक प्रिसीपल्स। इससे पहले उन्होंने कहा कि 'मैथमेटीकल्स एक्सप्रेसन अपार्ट' यानी मैथमेटीकल इक्वेशन को छोड़ दीजिये तो 'बेसिक प्रिंसीपल ऑफ द फिजिक्स मस्ट भी सच देट इवन ए चाइल्ड कैन अंडरस्टेंड इट।' तो बच्चा कैसे समझेगा? वहाँ से शुरू करना चाहिए जो बच्चे का जाना-पहचाना है, उसको हम उसको उल्टा समझाना शुरू कर देते हैं। ये चूहा है, ये बिल्ली है, ये आदमी है, कहते हैं। कहते हैं कि अब तुम पढ़ो आर-ए-टी रैट, रैट माने चूहा। उसका चार-पाँच साल तो ऐसे ही गुजर जाता है।

एक-दो लाइन और बता दूँ। इस सिलसिले में जब मेरी बेटी ढाई साल की थी या तीन साल की रही होगी, तब दरवाजा जो था बारिश में फूल गया होगा। जोर से खींचना पड़ता था। चूँ-धूँ की आवाज बोलता था और जमीन से रगड़ता था। बोली पापा यह चूँ-धूँ क्यों बोलता है? हमने कहा ताकत लगाते हैं अपन। दूसरे दरवाजे बिना ताकत के खुलते हैं। ताकत

लगाने से क्या होता है? ताकत लगाने से वो जमीन पर रगड़ खाता है, ताकत जिससे वह गरम हो गया, हाथ लगा कर देखो और पानी की ताकत से चूँ-धूँ बोल गयी। बोली ताकत से चूँ-धूँ बोलती है? मैंने कहा हाँ, ताकत से चूँ-धूँ बोलती है और संगीत पैदा होता है। वह दौड़ी गयी और अपनी माँ को बताने कि ताकत से चूँ-धूँ बोलते हैं। ये वंडर बच्चे को सोचना सिखायें।

टीचर का काम रटाना नहीं होता है। एक टीचर का काम होता है सोचना सिखाना और सवाल पूछना। वह इतने सवाल पूछे कि टीचर कहे, नहीं है मेरे पास जवाब। मेरे पास नहीं है जवाब, सोचकर बताऊँगा। तो फिर किसी दिन बात करेंगे। मुझे नहीं मालूम इसका जवाब, क्योंकि सारे सवालों के जवाब टीचर के पास होते नहीं।

चलिये यह व्याख्यान खत्म हुआ। और इसका नतीजा यह है कि कविता इस व्याख्यान और इस बहस में छायी है। उसको आगे नहीं ले जाने दिया जा रहा है। उसके पीछे षड्यंत्र हैं। दूसरी बात आगे की अपनी कविता सुनाने के पहले मैं ये बता दूँ कि एक बहुत अच्छी कविता मैं आपको सुना देता हूँ। संतोष

कविता की पहली पहचान है, उसका सूक्ष्म होना। बहुत थोड़ा-सा कहकर, बहुत ज्यादा कह देना। और कहा गया है वो तो महत्त्वपूर्ण होता है, लेकिन वो कविता तो तब ही बनती है, जब यह भी दिखे कि कैसे कहा गया है? और जो कैसे कहा गया है, वो अगर नहीं है तो रॉ मटेरियल है, वो कविता नहीं है। और अगर कविता आपकी दृष्टि को नहीं बदलती है, आपको हिला-डुला नहीं देती, आपको संवेदना के शिखर पर नहीं पहुँचा देती तो फिर कविता अपने उत्कर्ष पर नहीं पहुँच रही, या पूरी तरह से अपना काम नहीं कर रही। कविता है कि नहीं, यह उसका शिल्प तय करता है। कविता पूरी तरह सफल हुई कि नहीं, यह उसका संवेदनात्मक उत्कर्ष तय करता है।

जी की कविता सीधी और सरल है। बहुत अच्छी कविताएँ हैं–

'जितना संभव था, किया'। ये मजबूरी में बोला गया वाक्य होता है अक्सर कि भाई, अरे यार तुम कर नहीं पाये, जितनी कोशिश बनी, की।

यह बात तब बोली जाती है जितना कर सकते थे, भैया उतना किया। जितना संभव था, किया। यह एक विनम्र वाक्य होता है इससे ज्यादा संभव नहीं था लेकिन आगे, आकाश फटा था सिया / कमाल कर दिया अरे आपने तो, फटे आकाश को सीकर।

फिर कह रहे हैं कि भाई जो संभव था किया, आपने तो असंभव कह–कह करके कह रहे हैं, बेचारगी से जितना संभव था, किया।

आकाश फटा था, सिया
समय कम था, जिया
लेना क्या था, दिया
जितना संभव था, किया।

अब मैंने जो बीच के वाक्य छोड़ दिये हैं, इनके बिना भी मजा कितना आ रहा है। इस पर मुझे कुछ नहीं कहना है।

कविता की पहली पहचान है, उसका सूक्ष्म होना। बहुत थोड़ा–सा कहकर, बहुत ज्यादा कह देना। बाकी गद्य का काम है। बाकी काम गद्यकार का है। कवि का काम थोड़े से में बहुत सारा कह देना होता है, जो इस कविता में कहा गया है। और कहा गया है वो तो महत्त्वपूर्ण होता है, लेकिन वो कविता तो तब ही बनती है, जब यह भी दिखे कि कैसे कहा गया है? और जो कैसे कहा गया है, वो अगर नहीं है तो रॉ मटेरियल है, वो कविता नहीं है। और अगर कविता आपकी दृष्टि को नहीं बदलती है, आपको हिला–डुला नहीं देती, आपको संवेदना के शिखर पर नहीं पहुँचा देती तो फिर कविता अपने उत्कर्ष पर नहीं पहुँच रही, या पूरी तरह से अपना काम नहीं कर रही। कविता है कि नहीं, यह उसका शिल्प तय करता है। कविता पूरी तरह सफल हुई कि नहीं, यह उसका संवेदनात्मक उत्कर्ष तय करता है।

अब एक कविता सुना देता हूँ। ये बड़ा मुश्किल होता है, यह तय करना कि क्या सुनायें। बड़ी सरल कविता है, जिसका शीर्षक है– 'शिशु'।

मेरे तमाम साथियों ने सुनी है, वो क्षमा करेंगे कि बार-बार इसे सुनाता हूँ।

शिशु लोरी के शब्द नहीं, संगीत समझता है
बाद में सीखेगा भाषा, अभी वह उसका अर्थ समझता है
समझता है सबकी मुस्कान, सभी की
सभी की अल्ले-ले-लेले-ले-ले
तुम्हारे वेद, पुराण, कुरान अभी व्यर्थ समझता है
अभी अर्थ समझता है बाद में सीखेगा
वो भाषा उसी से जो आशा
समझने में तुम हो कितने असमर्थ, समझता है
शिशु लोरी के शब्द नही, संगीत समझता है
बाद में सीखेगा, भाषा, अभी वो अर्थ समझता है।

चलिये कांक्रीट वाली सुना देते हैं और यह इंजीनियरिंग कालेज में ही लिखी कविता है। ये मैंने 1968 में लिखी थी–

आपस में सटकर फूली कलियाँ
एक-दूसरे के खिलने के लिए जगह छोड़ देती हैं
और जगह देती हैं गिट्टियाँ आपस में
चाहे जितना भी सटे, जितनी जगह खुद घेरती हैं,
ठीक उतनी ही अपनी बीच खाली छोड़ देती हैं
इसी में तो भरी जाती है रेत
और रेत के कण भी एक-दूसरे को चाहे
कितना भी भींचे, अपने बीच अपने बराबर जगह खाली छोड़ देते हैं
इसी में भरी जाती है सीमेंट
सीमेंट कितनी महीन आपस में कितनी भी सटी हुई,
लेकिन उसमें भी होती हैं, खाली जगह
उसी में समाता है पानी
पर पानी में भी खाली जगह...
खैर इसे छोड़िये इस तरह कथा कांक्रीट बताती है
रिश्तों की ताकत में अपने बीच
खाली जगह छोड़ने की अहमियत के बारे में।

तो साथियो, अब भोजन का सत्र शुरू होता है और सभी मेरे साथियों को, प्रकाश जी, आशीष जी, विष्णु जी, लीलाधर मंडलोई ने– लीलाधर मंडलोई दबाव मे आ गये हैं विष्णु नागर के, वर्ना बहुत अच्छे शेर सुनाते हैं। आज नहीं सुनाये, तो हमारे सभी साथी जो मंच पर हैं, महेन्द्र गगन जी, श्रोत्रिय जी और मोहन सगोरिया, मुकेश जी जिन्होंने विषय को अच्छी तरह रखा, सभी को धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

बहुत–बहुत धन्यवाद। इस विचार की श्रृंखला में आप शामिल हुए। धन्यवाद हमारे वक्ताओं का, मंच पर उपस्थित रचनाकारों के हम बहुत बहुत आभारी हैं। एक निवेदन के साथ संतोष चौबे जी को मैं यहाँ आमंत्रित करता हूँ कि वे स्मृति चिन्ह हमारे रचनाकारो को भेंट करेंगे। आप से दो मिनट का समय और चाहेंगे कि एक ग्रुप फोटो के लिए निवेदन है। तालियाँ भी बजा सकते हैं। और इसके बाद टी–ब्रेक में जायेंगे।

5

अनुवाद की चुनौतियाँ

साहित्य-पर्व के अवसर पर आयोजित अनुवाद केन्द्रित विमर्श

22 सितम्बर 2015 को संतोष चौबे की षष्टिपूर्ति के अवसर पर आयोजित साहित्य पर्व 24–26 अक्टूबर के बीच सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर संतोष चौबे द्वारा किये गये अनुवादों के अलावा अनुवाद की चुनौतियों पर भी बातचीत हुई। इसमें शामिल थे देश के श्रेष्ठ अनुवादक रचनाकार राजेन्द्र शर्मा, जीतेन्द्र गुप्ता, अजित हर्षे, संतोष चौबे, रमेश दवे, मुकेश वर्मा, डॉ. आरती एवं अरुणेश शुक्ल। सत्र का संचालन राजेन्द्र शर्मा ने किया एवं अध्यक्षता रमेश दवे ने की।

अनुवाद की चुनौतियाँ

राजेन्द्र शर्मा

अजीत हर्षे साहब अपनी व्यक्तिगत रुचि से और अनुवाद को जरूरी काम मानते हुए उसे बहुत ही गंभीरता से करते रहे हैं। श्री अजीत हर्षे से ये आग्रह करता हूँ कि हमारे बीच पधारें। डॉ. आरती हैं, वो भी इस विषय पर बोलेंगी। डॉ. आरती ने अपनी पत्रिका– 'समय के साखी' का एक अंक अनुवाद की प्रक्रियाओं पर तथा अनुवादों की जरूरत में इतिहास की परंपरा पर निकाला था। कभी छात्रों खासतौर से अनुरोध है कि यदि उन्हें अवसर मिले तो मैं समझता हूँ कि इस यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में वो अंक जरूर होगा, उसे निकालकर जरूर पढ़ें। आपको अनुवाद के बारे में बहुत सारी बेसिक सामग्री मिलेगी। हस्तक्षेप करेंगे श्री अरुणेश शुक्ल और अरुण पांडेय जी, वे भी आ जायें तो अच्छा लगेगा।

मित्रो, इसके पहले कि हम लोग बातचीत शुरू करें, मैं इस साहित्य–पर्व के संयोजक और प्रमुख कर्ताधर्ता श्री मुकेश वर्मा जी से आग्रह करता हूँ कि वे हमारे मेहमानों के स्वागत के लिए औपचारिक रूप से उन्हें पुष्प–गुच्छ दें। मुकेश वर्मा, श्री रमेश दवे का स्वागत करते हुए। डॉ. आरती को स्वागत–स्वरूप पुष्प भेंट करते हुए, श्री अजीत हर्षे जी को गुलदस्ता देते हुए। हमारे अतिथि भाई जीतेन्द्र गुप्ता को, और हमारे साथी अरुणेश को गुलदस्ता का भी स्वागत।

मित्रो, आजकल वैश्वीकरण का बहुत जिक्र है। जो भी बौद्धिक उत्पाद हैं, दुनिया–भर के, वे अपनी उत्पादन–प्रक्रिया में ही वैश्विक होते हैं। लेकिन उनका प्रेजेन्टेशन विभिन्न भाषाओं में होता है। मेरे साथी जरूर बैठे हैं, लेकिन मैं इस समय विद्यार्थियों से संबोधित ज्यादा हूँ।

मित्रो, ये सब हमारी भाषा में अनुवाद के माध्यम से उपलब्ध होते हैं और अनुवाद ऐसी प्रक्रिया हैं जो उस लेखक का या उस रचनाकार का या उस क्रियेटर का ऐसेंस नहीं, उसका पूरा का पूरा काम हमारी भाषा में लाकर हमारे सामने रखता है, ताकि हम उस लेखक को, उस क्रियेटर को, उस रचानाकार को, संपूर्णता में जान सकें, समझ सकें।

मैं सीधे सबसे पहले भाई जीतेन्द्र गुप्ता को आमंत्रित कर रहा हूँ कि वे अपना आधार-वक्तव्य यहाँ रखें और फिर उनके आधार-वक्तव्य से जो बातें निकलती हैं, वे अपने साथी वक्ताओं से अनुरोध करूँगा कि वे उनको बिंदु मानकर उन पर बातचीत शुरू करें। फिर अध्यक्ष महोदय हमारे जो हैं, वो पूरी संगोष्ठी का समापन करेंगे अपने अध्यक्षीय वक्तव्य के जरिये।

जीतेन्द्र गुप्ता

इस सत्र की अध्यक्षता कर रहे दवे भाई। मंच पर बैठे हमारे विद्वान, सभाग्रह में उपस्थित सारे श्रोता।

मैं सीधे अनुवाद के बारे में बात करूँ। इसके पहले मुझे दो बातें कल प्रभु जी के भाषण के बाद कहनी है। उसमें पहली बात ये है कि उन्होंने जो कहा कि मार्क्स का साहित्य के बारे में चिंतन बहुत कम है, ये बात थोड़ी ठीक नहीं हैं। चूँकि अभी हाल ही में नामवर सिंह ने जी ने इस बात को नोटिस किया कि कार्ल मार्क्स को जो पूँजीवाद की क्रूरता है, उसकी समझदारी साहित्य से मिली।

लारेंस, बालजाक और शेक्सपियर, तीन तो उनके इतने प्रिय लेखक हैं और कई विश्लेषक तो यहाँ तक मानते हैं कि पूँजीवाद की क्रूरता को समझने में सबसे ज्यादा मार्क्स की मदद की तो वे शेक्सपियर थे।

दूसरी बात भारतीय मार्क्सवाद के बारे में आयी। वहाँ पर मैं एक किताब का जिक्र जरूर करूँगा और वह किताब है रणधीर सिंह की। वह किताब हैं 'द जिस्ट ऑफ सोशलिज्म'। मार्क्सवाद और भारतीय मार्क्सवाद, एक वैश्विक संस्करण या रसियन संस्करण हैं, उन तीनों रूपों का तुलनात्मक अध्ययन है, पर सोवियत संघ के टूटने का जो आधारभूत कारण है, उसके बारे में वहाँ पर जिक्र किया गया।

एक तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात, इस समय लगभग दस-बारह साल से महाराष्ट्र में हूँ, महाराष्ट्र में बहुत सारे सामाजिक आंदोलनों की जमीन रही है। मार्क्सवाद के साथ, कम से कम भारतीय मार्क्सवाद के साथ सबसे बड़ी दिक्कत लगती है, वह यह कि हमने जनशिक्षण का काम हमेशा हाशिये पर रखा है। यह बहुत बड़ी तकलीफ की बात है। हमारे पिछड़ने का या कम से कम विचारात्मक रूप से बढ़त न ले पाने का बहुत बड़ा कारण है।

दूसरी बात कल रोहिणी अग्रवाल ने कार्तिक के किरदार के जरिये यह बात कही। एक तरह से लेखक के ऊपर आरोप हो जाता है। मुझे ये सवाल भी ठीक नहीं लगा कि कार्तिक का आई.ए.एस. छोड़ने का सवाल इस तरह की विचारधारा की बनावट है। किस तरह से वह चरित्र विकसित हो रहा है, वह विकास समाज के अंर्तद्वंद्व से उपजता है, वह किसी किरदार या लेखक का अपना अंर्तद्वंद्व कभी नहीं हो सकता। वह समाज के अंर्तद्वंद्व को प्रतिबिंबित करता है। सीधे आरोप की शक्ल में यह कहना ठीक बात नहीं है।

अब मैं अपने मूल मुद्दे पर आऊँ– अनुवाद और उसके बाद। मैंने कोशिश की है कि इधर-उधर बिखराव नहीं हो, कोशिश की है इसको ढंग से लिखकर और आपके सामने पेश किया जाये।

अमूमन किसी भी विधा की प्रशस्ति बहुत सात्विक और भौतिकवादी परिणामों की ओर नहीं ले जाती। ये इस तथ्य के आधार पर कह रहा हूँ कि समाज की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संरचनाओं में परिवर्तन के साथ विधागत परिवर्तन के हम बहुत आत्मीय रूप से साक्षी रहे हैं।

छंदात्मकता से मुक्त छंद और छंदविहीनता और महाकाव्यात्मकता से उपन्यासिकता इसी परिवर्तन का उदाहरण हैं, लेकिन इस मामले मे एक विधा अपवाद है– यह अनुवाद हैं। ऐसा नहीं है कि सामाजिक ज्ञान-विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगतियों का ही प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन अपने विधा का स्वरूप अपनी शर्तों पर विद्यमान रखा गया है। जिन अर्थों और स्वरूप में इसका उदय हुआ था। इसे अतिशयोक्ति नहीं मानना चाहिए, अनुवाद विधा का उदय मनुष्य के सामाजिक जीवन के साथ हुआ है। समय सबसे

प्राचीन विधा है हालाँकि यदि अफलातून की बातों पर यकीन करें तो अनुवाद ही ऐसी विधा है जिसका उदय सृष्टि के उदय के साथ हुआ और मनुष्यों का जन्म, सृष्टि उत्पन्न होने के बाद हुआ।

यह इस कारण अफलातून की सृष्टि के सृजन में परम विचार आधारभूत कारण है। यही कारण है कि उन्होंने साहित्य सृजन करना मनुष्य का अक्षम्य अपराध माना है। अपराध है, इसीलिए यह एक श्रेष्ठ विचार की अनुकृति है। अनुकृति, मूल की अपेक्षा गौण होती है। इसके साथ ही मूलभूत की अनुकृति करना मूलकर्ता के साथ असम्मान है।

इस तरह यदि कविता सत्य से तिगुनी दूरी पर है तो अनुवाद सत्य से चौगुनी दूरी पर। लेकिन अफलातून के विचारों को उनके शागिर्द ने ही ठुकरा दिया था, फिर हमारे लिए उनके विचार प्रासंगिकता के विषय में कोई मायने नहीं रखते। हाँ, ज्ञान के विकास और इतिहास को समझने के लिए संदर्भ-बिंदु जरूर बनते हैं।

मनुष्य सभ्यता के विकास में अनुवाद सबसे प्राचीन विधा है, मनुष्य समाज में विकसित हुई एक ऐसी विधा, जिसका उदय केवल प्रायोगिकता के आधार पर हुआ है। यही विचार आज तक निरंतर कायम है। यदि बाइबिल को धर्मग्रंथ की बजाय कविता गद्यांशों के प्राचीन नमूनों के तौर पर पढ़ें तो अनुवाद विधा के उदय की जरूरत और उसकी मौजूद प्रासंगिकता को रेखांकित कर पायेंगे।

वेबेल टावर लगभग तैयार है और ईश्वर को यह मंजूर नहीं कि कोई उस तक पहुँच पाये। इसीलिए मनुष्यों का जो सामंजस्य है, उनका जो भी सृजनात्मक कौशलता और उद्देश्य जनित सामुदायिकता है, उसे खंडित करने का तरीका ही है कि सभी मनुष्यों की भाषा प्रणाली में गड़बड़ी कर दी जाये। ईश्वर इस साजिश को अंजाम देने में कामयाब रहता है और अधूरी वेबेल टावर मनुष्य समाज के एक संभावना को जन्म दे रही है जिसका आज तक हम उपयोग कर रहे हैं, यानी की अनुवाद।

यह धार्मिक और मिथकीय आधारों पर अस्तित्व को खोजने की विधा की एक जरा-सी रचनात्मक कोशिश है। मैं यह कोशिश इसीलिए कर रहा था कि मैं इन्हें चिह्नित कर पाऊँ। जिन प्रवृत्तियों को बौद्धिक विमर्श में या

बहुत स्पष्ट रूप से सामने आने पर हम अस्वीकार करने की स्थिति में होते हैं। उदाहरण के लिए अफलातून के विचार, वही विचार, हम कई बार अप्रत्यक्ष रूप से अपने जीवन और अपने चिंतन में इस तरह से शामिल किये होते हैं कि वे अतिवाद की सीमा तक चले जाते हैं। एक उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करना अच्छा रहेगा।

कविता के क्षेत्र में यह लगभग सामान्य बोध हो गया है कि कविता का अनुवाद नहीं हो सकता। यहाँ तक कविता को अनूदित करने वाले सर्जक भी रक्षात्मक मुद्रा में ही रहते हैं। कविता को अनूदित न कर पाने के सैकड़ों तर्क मौजूद हैं, लेकिन सैद्धांतिक स्तर पर तर्क उन बातों को दोहराते हैं जिसके बारे में ऊपर अफलातून का जिक्र करते हुए बताया गया।

इस तरह हम इस तथ्य को चिह्नित कर पाने में सक्षम हैं कि एक खास किस्म का शुद्धताबोध, विधागत स्तर पर आज भी विद्यमान है और शुद्धताबोध और भारतीय संदर्भों को ध्यान में रखते हुए थोड़े सख्त शब्दों में विधागत ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति भी कह सकते हैं कि अनुवाद को दोयम दर्जे की विधा के रूप में मान्यता दी जाये और अनुवाद विधा के साथ सृजनात्मकता के प्रश्न को और उस प्रवृत्ति के लिए, इस तरह की प्रवृत्ति उसके लिए आधार ही उत्पन्न नहीं होने देती है जहाँ अनुवाद विधा को भी सृजनात्मक प्रवृत्ति के तौर पर देखा जाये।

यह कोई मामूली बात नहीं हैं। असल में अनुवाद को एक स्वतंत्र सृजनशील विधा के तौर पर मान्यता न देना मनुष्य की समस्त परंपरा को असम्मान की दृष्टि से देखना है। ज्ञानोदय के समय को याद कर सकते हैं जहाँ बाइबिल का अँग्रेजी और फ्रेंच में अनुवाद किस तरह से अधार्मिक और ईश्वर–विरोधी प्रवृत्ति के तौर पर माना गया। इस तरह के प्रयास करने वाले लोगों से इसाइयत की ठेकेदारी करने वाले पाखंडियों ने कितना बुरा सुलूक किया। यह उदाहरण हमारे यहाँ भी मौजूद हैं।

रामकथा को अवधी में लिखना इसी तरह के कट्टरपंथी ठेकेदारों की नजर में तुलसीदास का सबसे बड़ा अपराध था। वेदों, पुराणों में वर्णित विषयों के ज्ञान की रक्षा इस शर्त पर की गयी कि इसमें मौजूद ठेठ

संस्कृत, ईश्वर की भाषा है और इस भाषा में परिवर्तन ईश्वर के प्रति सबसे बडा अपराध है। ये सारा परिप्रेक्ष्य इस तथ्य को स्पष्ट कर देगा कि अनुवाद मनुष्य समाज में ज्ञान परंपरा का विस्तार का सबसे मानीखेज अस्त्र है। इसके साथ परिदृश्य को शामिल करें तो अनुवाद सबसे साहसिक कर्म तो है ही, साथ ही अनुवाद कर्म ज्यादा सतर्क और सृजन की माँग करने वाला कार्य भी है।

भौतिकवादी नजरिये से भाषा एक सांस्कृतिक परंपरा और हमारे समाज के मूलबोध को हमेशा आत्मसात किये रहती है। भाषा के लिए कोई भी पल ऐसा नहीं होता कि वह अपने मूल्यबोध से मुक्त होकर कार्य कर पाये। उदाहरण के लिए मैं कहूँ कि अमुक नाम का शख्स चोर है। साधारण-सा प्रतीत होने वाला वाक्य भी सारे समाज के समक्ष नैतिक मूल्यबोध को आत्मसात किये रहता है, यानी इसी वाक्य में यह निहित है कि जिस समाज में यह वाक्य अर्थ रखता है वह समाज निजी संपत्ति की अवधारणा पर यकीन करता है, निजी संपत्ति के स्वामित्व पर विश्वास करता है। समाज में साथ संपत्ति, संसाधनों का बँटवारा असमान है लेकिन इसके साथ ही हमें यह बात भी समझनी होगी कि समाजवादी समाज जिस समाज में निजी संपत्ति पर विधिक और नैतिक अधिकार नहीं स्वीकृत होगा वहाँ उपरोक्त वाक्य अपने मायने मतलब खो देगा।

यदि आप रबीन्द्रनाथ टैगोर की कृतियों का अनुवाद करने जा रहे हैं और इस बात को नहीं समझते कि भारत का यह शानदार लेखक किस तरह राष्ट्र की अवधारणा का विरोधी है, तो उसकी कृतियों का अनुवाद किया ही नहीं जा सकता। शिवशंकर पिल्लै के बारे में आपको यह ना पता हो कि इस अद्वितीय लेखक का गहरा रिश्ता प्रगतिशीलता से था, तब आप इस व्यक्ति की किसी भी कृति का अनुवाद नहीं कर सकते। पिल्लै की एक रचना 'चेम्मीन' का हिन्दी अनुवाद 'मछुआरे' शीर्षक से किया गया है, लेकिन यहाँ शीर्षक की ही तुलना करें तो तब अहसास हो जायेगा कि संवेदनहीन और विचारहीन व्यक्ति द्वारा किये अनुवाद कितनी गफलत पैदा करते हैं। चेम्मीन से आशय एक छोटी तरह की मछली से होता है जो बहुत सुंदर होती है। मैं दो-तीन साल केरल रहा, इस कारण और गहरे रूप

में बता पाऊँगा।

अब यह शीर्षक का अनुवाद 'मछुआरे' कर दिया जाये तो पहली नजर में यह प्रतीत होता है कि यह समुदाय की कहानी है। यानी एक खास किस्म की सामाजिक व्यवस्था में सबसे वंचित और शोषित व्यक्ति कौन है, उसकी कहानी। तो इसकी प्रतीकात्मकता खो जाती है। लेकिन पिल्लै की सबसे बड़ी प्रतिबद्धता इस प्रतीकात्मकता को चिह्नित करने की थी।

आज नारीवाद के जमाने में अनुवाद की यह गफलत कम से कम हिन्दी में पिल्लै के योगदान को बेहतर तरीके से व्यक्त करने में अवरोध उत्पन्न कर देती है। वास्तविकता यह है कि, और जैसा मैंने पहले कहा कि अनुवाद-कर्म सबसे पहले सतर्क सृजनात्मकता की माँग करता है। इसकी बजाय सतर्क सृजनात्मकता की यह माँग बिलकुल वैसी है, जैसी माँग लेखकों से ब्रेख्त ने की थी, यानी सृजन ही नहीं बल्कि उसके असर और उसकी प्रासंगिकता के बारे में भी लेखक की जिम्मेदारी तय करना। वाल्टर बैंजामिन और टैरी इगल्टन के अनुवाद के लिए प्रगतिशील विचारों की आवश्यकता है, अन्यथा बैंजामिन और इगलटन कभी अपने विचारों के साथ नही आ पायेंगे।

इसका उदाहरण दिलचस्प होगा। मार्क्स की कृति 'इकनॉमिक एन्ड पालिटिकल मैनुस्क्रिप्ट 1857' के कुछ हिस्सों को अनूदित करने के क्रम में यह पाया कि एक जगह मार्क्स ने 'स्पिरिचुअल' शब्द का इस्तेमाल किया। अब इस शब्द का कोशीय अर्थ महज 'आध्यात्मिक' होता है लेकिन मार्क्स प्रत्ययवादी नहीं हैं। यह बिल्कुल निश्चित है कि शब्द के लिए आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग अनुचित होगा। उनका पूरा दर्शन इसके लिए 'आत्मिक' शब्द प्रस्तावित करता है। तात्पर्य यह कि यदि विचारात्मक परिप्रेक्ष्य स्पष्ट न हो और सृजनात्मकता का गुण मौजूद न हो तो अनुवाद कर्म कई बार गैर सांस्कृतिक अनाचार में तब्दील हो जाता है।

चौबे जी ने जो भी अनुवाद किये, यदि उनका समुचित अनुशीलन करें तो पायेंगे कि इस तरह की विचारधारात्मक गड़बड़ियाँ वहाँ नहीं मौजूद हैं। मार्क्सवादी प्रगतिशील विचारों के अनुवाद के लिए जिस तरह की अनुवाद की विचारात्मक संवेदनशीलता की माँग होती है, वह चौबे जी के अनुवाद

कर्म में स्पष्ट रूप से मौजूद है। इसके साथ में यहाँ यह कहकर मैं अपनी बात समाप्त करना चाहता हूँ और उनकी षष्टिपूर्ति की औपचारिक बधाई देता हूँ। और कामना करता हूँ कि वे इसी तरह सृजनशील रहें और युवा पीढ़ी को प्रगतिशील विचारों से प्रेरित करते रहें।

शुक्रिया। धन्यवाद।

राजेन्द्र शर्मा

धन्यवाद जीतेंद्र। एक बहुत ही दिलचस्प बात संतोष चौबे जी के अनुवादों का जिक्र करते हुए जीतेन्द्र ने कही कि अगर आप प्रगतिशील विचारधारा में विश्वास नहीं करते हैं तो इन लेखकों का अनुवाद आप नहीं कर सकते। अगर आप करेंगे तो साहित्यिक अनाचार होगा। यह एक ऐसा तथ्य है कि सबसे पहले अनुवादक को मूल लेखक के साथ एकरूपता स्थापित करनी पड़ती है– अपने विचारों में, अपने आचार में। बहुत दिलचस्प उदाहरण अभी उन्होंने दिया 'चेम्मीन' के अनुवाद को लेकर।

चेम्मीन के शीर्षक के अनुवाद को रखते हुए उन्होंने कहा कि चेम्मीन यानी की छोटी-सी एक मछली और उसका उपन्यास का शीर्षक 'एक छोटी मछली' और जो भी विशेष मछली है चेम्मीन, वह होना चाहिए था पर उसका अनुवाद उन्होंने कर दिया 'मछुआरे', यानी उन 'मछलियों का हत्यारा' या मछलियों को पकड़ने वाला। यह उसी मानसिकता की ओर इशारा करता है जिसमें हमारे प्रसिद्ध गीतकार ने कभी गीत लिखा था– 'एक बार और जाल फेंक रे मछेरे, जाने किस मछली में फँसने की चाह हो'। अब यह फँसने की चाह कब से और कहाँ से पैदा हो गयी, यह तो गीतकार महोदय ही जानें। जितनी तालियाँ आपने अभी बजायीं, इससे कई गुना तालियाँ उनको इस पर मिलती रहीं, मुझे अपने समाज पर हैरत होती है।

दोस्तो, अब इस क्रम में भाई अजित हर्षे को आमंत्रित कर रहा हूँ। भाई अजित हर्षे कविताओं और कहानियों के अनुवाद में बहुत व्यक्तिगत दिलचस्पी लेते हैं और मैं कह सकता हूँ कि जैसे जीतेन्द्र ने अगर यहाँ एक मानदंड सेट किया है। उस लेखक के साथ एकाकार होकर ही

अनुवाद किया जा सकता है तो अजित जी अनुवाद करने से भी ज्यादा मेहनत उस लेखक की आत्मा तक पहुँचने में करते हैं। मैं भाई अजित हर्षे को सादर आमंत्रित करता हूँ।

अजित हर्षे

आदरणीय दवे जी और साथियो, मैं भी एक पर्चा लिखकर लाया हुआ हूँ– 'अनुवाद की सामाजिकी'। स्पष्ट कर दूँ कि मुझे बोलने के लिए जो विषय दिया गया है 'अनुवाद की सामाजिकी', इसका अर्थ मैं अनुवाद को समाजशास्त्र से जोड़ने से लेता हूँ। अनुवाद खुद एक शास्त्र है, अब उसमें समाजशास्त्र जुड़ गया, अतः इन दो शास्त्रों का विवेचन होगा, ऐसी मेरी कल्पना है।

अनुवाद साहित्यिक लेखन के विकास के साथ-साथ नाभि-नालबद्ध रहा है। प्राचीन समय से ही इस पर कार्य होता रहा है। इसकी सैद्धांतिक व्याख्या, साहित्यिक टीका-टिप्पणियाँ होती रही हैं। अनुवाद का अर्थ स्पष्ट ही है कि मूल भाषा समान अर्थ दूसरी भाषा या अनुवाद की भाषा में व्यक्त है। व्याख्या लेखन में पहले से मौजूद रही है। मगर अनुवाद साहित्यिक लेखन के पश्चात् ही अस्तित्व में आया।

दरअसल लेखन खुद ही प्रकृतियों, कल्पनाओं की व्याख्या ही है। अनुवाद उस व्याख्या का एक भाषा से दूसरी भाषा यानी, अनुवाद की भाषा में रूपान्तरण। वैसे तो मूल रचना के शब्दों के साथ खिलवाड़ मूल लेखन के साथ अन्याय ही होगा। लेकिन किसी सुंदर वस्तु को दूसरों के लिए उपलब्ध कराना, दूसरे के विचार उस रचना में व्यक्त विचारों को प्रस्तुत करना, एक मानवीय जरूरत है। यह काम साहित्यिक लेखन के साथ ही लगातार होता रहा है। क्योंकि मूल भाषा के शब्द अनुवाद की भाषा में अजीब लग सकते हैं, कई बार समतुल्य नहीं होते, इसीलिए अनुवादक को समतुल्य शब्दों की सीमा में बाँधना उचित नहीं है। इसीलिए शाब्दिक अनुवाद के साथ उन शब्दों की व्याख्या भी आवश्यक हो जाती है। समतुल्यता यानी लिटरली ट्रांसलेशन और पारदर्शिता या अर्थ की स्पष्टता। अनुवाद के ये दो आदर्श सदा से रहे हैं। जहाँ समतुल्य अनुवाद

मूल रचना के अर्थ को बिना किसी विकृति के अनुवाद की भाषा में जस का तस रख देता है, वहीं पारदर्शी अनुवाद पढ़ने वाले को यह अहसास कराता है वह मूल रचना ही पढ़ रहा है।

जहाँ तकनीकी विषयों में पहला तरीका यानी समतुल्य अनुवाद का तरीका कारगर होता है, वहीं साहित्यिक रचनाओं में उसका सहारा होने पर वह अनुवाद पठनीय नहीं रह जाता। इसीलिए साहित्यिक रचनाओं के अनुवादों में अनुवादक दूसरी पद्धति का सहारा लेना श्रेयस्कर समझते हैं, जो उचित ही हो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह मूल रचना का अनुवाद नहीं, उसकी पुनर्रचना कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य में अधिकतर दूसरी तरह के अनुवादों, अर्थात् पुनर्रचनाओं की परंपरा रही है। पाश्चात्य परंपरा में दोनों तरह का अनुवाद होता रहा है, लेकिन भारतीय परंपरा में अनुवाद केवल सुंदर रचना के रूप में ही सामने आये हैं और इसीलिए आपको विभिन्न भाषाओं में रामायण, महाभारत और इसकी मिथकीय कथाएँ देखने को मिल जाती हैं, जो अलग तरह की आस्वाद देती हैं और अलग तरह का ही आनंद आता है।

अनुवादक के रूप में, विशेष रूप से अनुवाद पठनीय बना रहे और मूल रचना का कथ्य ठीक तरह से व्यक्त हो सके, मैं भी इसे उचित मानता हूँ। अनुवाद को संस्कृतियों का मध्यस्थ इसीलिए कहा जाता है अर्थात् वह एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति के साथ समझौता कराता है, बल्कि मूल संस्कृति का कुछ हिस्सा लेकर ग्रहण करने वाली संस्कृति का प्रासंगिक हिस्सा उसमें जोड़ भी देता है। इसे एक तरह की शल्यक्रिया के रूप में भी देखा जा सकता है। वास्तव में इसे आत्मा का प्रत्यारोपण कहना भी अनुचित नहीं होगा। कोई भी पुस्तक भाषा में निबद्ध संस्कृति का एक अंश होता है। अब एक संस्कृति की आत्मा को मूल भाषा शरीर से निकालकर उसे दूसरी भाषा के तन में प्रत्यारोपित करने का नाम है अनुवाद। ग्रहण करने वाली भाषा शरीर के दूसरे हिस्से अर्थात् उस संस्कृति के वे हिस्से जो भाषा के माध्यम से रूपायित होते हैं, वे उस प्रत्यारोपित आत्मा के साथ जितना तालमेल बिठा पाते हैं, उतना ही अनुवाद मूलपाठ के नजदीक होता है।

अगर अनुवादक वास्तव में संस्कृतियों का मध्यस्थ बनना चाहता है तो अनुवाद की भाषा में भी इतना विस्थापन आवश्यक है कि वह दूसरी संस्कृतियों को भी अधिक से अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त कर सके और यह मानकर चल रहा हूँ कि हम यहाँ तकनीकी अनुवादों– जैसे विज्ञान, दर्शन जैसे दूसरी विषयों के अकादमिक अध्ययन के अनुवादों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। यहाँ भाषाओं के विस्थापन की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् तकनीकी अनुवादों– जैसे गणित और विज्ञान के अनुवादों में भाषागत विस्थापन की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उनकी वॉकेब्लरी अलग होती है।

यहाँ में 'क्रियेटिव राइटिंग' यानी सृजनात्मक साहित्य और उनके अनुवादों की बात कर रहा हूँ। जब हम किसी संस्कृति को स्पष्ट रूप में अपनी भाषा में व्यक्त करना चाहते हैं तो मूल रचना में व्यक्त उसके सांस्कृतिक भावों और संदर्भों को अनुवाद में व्यक्त करने के लिए अपने भावों और संदर्भों में रूपांतरित करना

संतोष चौबे जी ने कई पुस्तकों के अनुवाद किये हैं, जिसमें वाल्टर बैंजामिन की 'मास्को डायरी' के अनुवाद मैंने पढ़े हैं। कहा जा सकता है कि दोनों पुस्तकों के विषय तकनीकी हैं, और उनका अनुवाद सहज सरल है, किन्तु ऐसा नहीं रहा। मैंने खुद भी रेमंड विलियम्स के कुछ अनुवाद किये हैं। मैं जानता हूँ कि इन तकनीकी सामाजिक अनुवादों का काम कितना कठिन है! मूलतः हिन्दी भाषा में बहुत-सी हिन्दी तकनीकी शब्दावली उपलब्ध नहीं है, लेकिन साथ ही इसीलिए, कि यह विषय तकनीकी होते हुए भी बहुत-सी सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का जिक्र करते हैं। दो-तीन दिन से चौबे जी के उपन्यासकार, कथाकार और कवि रूपों पर चर्चा हुई। कहना नहीं होगा कि एक अनुवादक के रूप में वे एक बेजोड़ कवि हैं।

आवश्यक है।

ये अमूर्त सांस्कृतिक भाव और उसके संदर्भ दोनों संस्कृतियों में अलग-अलग ढंग से व्यक्त होते हैं, इसीलिए उन्हें ज्यादा से ज्यादा स्पष्ट रूप से अनूदित करते हुए आपको मूल रचना को अनुवाद की भाषा में इस तरह समझाना होता हैं कि वह न सिर्फ पूरी तरह स्पष्ट हो जाये बल्कि उसकी साहित्यिकता भी बरकरार रहे। और वह मूल रचना के करीब भी हो और इसके अलावा मूल रचनाकार की भाषा के तेवर भी अनुवाद की भाषा में व्यक्त हों।

आप समझ सकते हैं, यह कितना कठिन कार्य है। सच बात तो यह है कि यह लगभग असंभव-सा कार्य है। इसीलिए रचनात्मकता को छोड़ दें तो अनुवाद मूल रचना से भी श्रमसाध्य कार्य है। इसके लिए कई बार एक ही वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसे कुछ विस्तार देने की जरूरत पड़ती है। लेकिन इसमें खतरा यह होता है कि वह अनुवाद मूल के साथ न्याय नहीं कर पाता, विशेष रूप से मूल लेखक की रचनात्मकता के प्रति निष्ठावान नहीं रहता।

किसी ने कहा भी है कि सुंदर स्त्रियों की तरह अनुवाद यदि सुंदर होगा तो वह निष्ठावान नहीं होगा और यदि वह निष्ठावान होगा तो वह उतना सुंदर नहीं होगा। कहने का अर्थ यह है कि अनुवादक को यह संतुलन साधते हुए काम करना पड़ता है और कई बार साहित्यिक रचनात्मकता के साथ, कभी साहित्यिक समतुल्यता या समता के साथ समझौता करना पड़ता है। और इससे जाहिर है कि अनुवाद की भाषा में मूल रचना का तो अनुवाद हो जाता है, मगर पूरी संस्कृति का अनुवाद नहीं हो पाता।

स्वाभाविक है कि दो संस्कृतियों में जितना वे आपस में घुली-मिली होंगी, भौगोलिक सीमाओं के आसपास फल-फूल रही होंगी, उतना ही उनके परस्पर अनुवादों में सहजता होगी, क्योंकि दोनों भाषाओं का मुहावरा एक जैसा होगा, बहुत से शब्द मिलते-जुलते होंगे, सांस्कृतिक भाव-भूमि एक होगी और कुल मिलाकर लेखक और अनुवादक की जमीन एक होगी। कई बार यह भ्रमपूर्ण भी हो सकता है। जैसे 'दादा' शब्द मराठी में कुछ, बांग्ला में कुछ, हिन्दी में कुछ अलग ही अर्थ रखता है।

तकनीकी विषय– जैसे विज्ञान, गणित और दर्शन इत्यादि पर उस तरह संस्कृति के दैनिक कार्यकलापों का दबाव नहीं होता, इसीलिए जहाँ तक तकनीकी रचनाओं के अनुवाद का प्रश्न है, उनमें समतुल्यता का महत्त्व बढ़ जाता है। जैसे गणितीय विषयों की भाषा एक अलग सार्वभौमिक भाषा होती है। वहाँ आपको संस्कृतियों का रूपान्तरण नहीं, बल्कि अंकों का विज्ञान के सिद्धांतों से रूपान्तरण करना होता है जो सहज ही शब्दश: या समतुल्य हो सकते हैं।

संतोष चौबे जी ने कई पुस्तकों के अनुवाद किये हैं, जिसमें वाल्टर बैंजामिन की 'मास्को डायरी' के अनुवाद मैंने पढ़े हैं। कहा जा सकता है कि दोनों पुस्तकों के विषय तकनीकी हैं, और उनका अनुवाद सहज सरल है, किन्तु ऐसा नहीं रहा। मैंने खुद भी रेमंड विलियम्स के कुछ अनुवाद किये हैं। मैं जानता हूँ कि इन तकनीकी सामाजिक अनुवादों का काम कितना कठिन है! मूलत: हिन्दी भाषा में बहुत-सी हिन्दी तकनीकी शब्दावली उपलब्ध नहीं है, लेकिन साथ ही इसीलिए, कि यह विषय तकनीकी होते हुए भी बहुत-सी सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का जिक्र करते हैं। दो-तीन दिन से चौबे जी के उपन्यासकार, कथाकार और कवि रूपों पर चर्चा हुई। कहना नहीं होगा कि एक अनुवादक के रूप में वे एक बेजोड़ कवि हैं।

राजेन्द्र शर्मा

शुक्रिया, धन्यवाद अजित। इस 'साहित्य-पर्व' के इस अंतिम सत्र में अनुवाद रखा गया। यह अनुवाद, अनुवादों की हैसियत की तरफ भी इशारा करता हैं और अजित से मैं सहमत हूँ कि अकसर अनुवाद को दोयम दर्जे का मान लिया जाता है, जबकि दोयम दर्जे का यह काम है नहीं। जैसे इसके बिना, जो जीतेन्द्र ने इशारा किया था, पहले ज्ञान परंपरा का विस्तार ही संभव नहीं होता यदि अनुवाद कर्म परंपरा प्राथमिकता से नहीं किया जाये।

ज्ञान किसी एक भाषा की बपौती नहीं है। विज्ञान में, टेक्नोलॉजी में सबकुछ अँग्रेजी में ही हो रहा है ऐसा नहीं है, कुछ रूसी में, कुछ जर्मनी

में भी हो रहा है, कुछ फ्रेंच में भी हो रहा है, कुछ हिंदुस्तान में, कुछ हिन्दी में भी हो रहा है। लेकिन इस ज्ञान परंपरा को आपस में मिलाकर हमारी वैश्विक ज्ञान परंपरा से मिलाने के लिए अनुवाद कर्म नहीं होगा तो कैसे होगा?

साहित्यिक कृतियों के जो अनुवाद हैं, मुझे तो अपने प्रारंभिक दिनों की याद है। साहित्य के प्रति रुझान अनूदित कृतियों के जरिये हुआ। बांग्ला उपन्यास मैंने हिन्दी में ही पढ़े। मुझे बांगला नहीं आती, इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं आज शरतचंद्र से परिचित नहीं हूँ या मैं रबीन्द्रनाथ टैगोर को नहीं जानता, वे मुझे अपने लेखक लगते हैं। अभी पिछले सत्र में विष्णु नागर ने संभवतः जिक्र किया था, शंकर की 'चौरंगी' को उन्होंने हिन्दी उपन्यास की ही तरह पढ़ा था। तो यह और बहुत अच्छी बात अजित ने कही कि अनुवाद के कई तरीके होते हैं। जो आज सैकड़ों रामायण हैं, रामकथाएँ भिन्न-भिन्न तरीके से पूरे देश में और पूरे देश के बाहर भी पढ़ी जाती, सुनी जाती हैं, नाटक के रूप में खेली भी जाती हैं, नृत्य के रूप में उनको किया भी जाता है। यह सब रामकथा का अनुवाद ही तो है। तुलसी का उदाहरण बहुत सही दिया गया था कि उनको एक तरह से उपेक्षणीय माना गया कि इसने अनुवाद कर दिया देवभाषा का। देवभाषा को अपवित्र कर रहा है। उस किताब को सबसे नीचे रखा गया था। काशी विश्वनाथ के मंदिर में विश्वनाथ आकर बतायें कि यह ठीक है कि नहीं। तो अनुवादक के साथ और अनुवादों के साथ श्रेष्ठि वर्ग का यह व्यवहार है, बल्कि मेरा यह कहना है कि ज्ञान परंपरा के विस्तार से जिनको डर लगता है, वह बेमानी है। क्योंकि विस्तार का अर्थ एक बात को दूसरी बात से जोड़ना नहीं है, उससे दूसरी बात को पैदा करना भी होता है।

मित्रो इन बातों के बाद मेरा ख्याल है कि हस्तक्षेप का वक्त आ रहा है, तो मैं अरुणेश से कह रहा हूँ कि वे बहस में हस्तक्षेप करें।

अरुणेश शुक्ल

सम्माननीय मित्रो। दरअसल हम उस देश में रहते हैं जहाँ कि सामाजिक संरचना में यह है कि जो मेहनतकश तबका है, जिसने श्रम किया, उसको

अछूत माना गया है, उसको सबसे नीचे के पायदान पर रखा गया है। अनुवाद की स्थिति तकरीबन ऐसी है कि अनुवाद करने के लिए आपको ज्यादा मेहनत, ज्यादा श्रम की जरूरत होती है। आपको दो भाषाएँ आनी चाहिए, दो संस्कृतियों से परिचित होना चाहिए। समाज के बारे में दो माइन्यूट आर्जवेशन स्किल आप में होनी चाहिए। इस सबके बावजूद अगर उसे दोयम दर्जे का कर्म माना गया, तो कहीं न कहीं उसकी बहुत ऐतिहासिक और सांस्कृतिक बनावट है, उसके कारण हैं।

'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का यदि अनुवाद भारतेन्दु कर रहे थे तो इसीलिए क्योंकि जब शेक्सपियर ने लिखा था वो सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण का दौर था, और वही दौर जब भारत में आता है तब उसी कृति का अनुवाद भारतेन्दु करते हैं। ऐसा इसीलिए कि वह यह बताना चाहते हैं कि हम जिस सभ्यता में प्रवेश कर रहे हैं, जो व्यवस्था आ रही है, उसमें मनुष्य की जान की कीमत कुछ नहीं।

बहरहाल अनुवाद की सामाजिकी पर हमने भाई जीतेन्द्र, भाई अजित हर्षे जी को सुना, मगर नॉलेज सोशल प्रोडक्शन है। भाषा एक सामाजिक उत्पाद है तो अनुवाद भी एक सामाजिक कर्म है। जैसा कि वॉल्टर बैंजामिन ने कहा था कि किसी भी भाषा में कोई अनुवाद होता है तो वह अपनी जरूरतों के चलते होता है, उस समाज की अपनी जरूरत के चलते होता है। शायद इसलिए आधुनिक काल में हम राष्ट्र के निर्माण में अनुवाद की एक बड़ी खास भूमिका देखते हैं और खासकर भारतीय राष्ट्र राज्य के निर्माण में।

भारतेन्दु अनुवाद कर रहे थे। तब उस समय तकरीबन हर बड़ा लेखक अनुवाद की कोशिश कर रहा था। क्योंकि एक पूरी प्राच्यवादी थ्योरी थी

वो भारत को एक राष्ट्र राज्य के रूप में स्वीकार नहीं करती थी। आपमें कोई एकता ही नहीं है, आप बँटे हुए हैं। जाहिर–सी बात है कि इसका प्रत्याख्यान करने के लिए आपने अनुवाद को बड़ा माध्यम बनाया। आपने अपने समाजों को एक–दूसरे से परिचित कराया। ये भी बताया कि हमारी संस्कृति, हमारे प्रतीक, हमारे सोचने का तरीका एक है। हम राष्ट्र राज्य के रूप में एक शक्ल लेते, एक संस्कृति के रूप में हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि आपने उस दौर के संक्रमण काल को पहचाना और संक्रमण काल में जो खतरे हमारे सामने थे, उनसे रूबरू कराने के लिए सबसे सशक्त माध्यम के रूप में अनुवाद का इस्तेमाल किया गया। 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का यदि अनुवाद भारतेन्दु कर रहे थे तो इसीलिए क्योंकि जब शेक्सपियर ने लिखा था वो सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण का दौर था, और वही दौर जब भारत में आता है तब उसी कृति का अनुवाद भारतेन्दु करते हैं। ऐसा इसीलिए कि वह यह बताना चाहते हैं कि हम जिस सभ्यता में प्रवेश कर रहे हैं, जो व्यवस्था आ रही है, उसमें मनुष्य की जान की कीमत कुछ नहीं। हम ऐसी व्यवस्था में जा रहे हैं चूँकि हमारा समाज, हमारे विचार पद्धति इस तरीके के लिए जो उर्वर या इतनी तैयार नहीं थी। इसीलिए इन विचारों के लिए अनुवाद के शरण में जाना पड़ा। आप पश्चिम की तरफ गये। आपने वहाँ से चीजें लीं। सवाल यह है कि एक अनुवाद होता है और उस अनुवाद का इस्तेमाल किस तरीके से किया जाता है। 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना हुई। बहुवचन में तो बहुत लम्बे आलेख शायद श्रद्धानंद जी के थे।

नवजागरण काल में अनुवाद की राजनीति क्या थी? उस पूरी राजनीति का उन्होंने जिक्र किया कि यदि आप वेदों को ट्रांसलेट करते हैं, सिर्फ यह बताने के लिए कि पिछड़े समाज की रचना, कुछ चरवाहों का गीत है, कोई जो है इनका देवता है। यहाँ तक कि आपने उस रचना को जो दुनिया में सबसे ज्यादा अमिट कृतियों में शामिल की जाती हैं, 'अभिज्ञान शाकुन्तलम', उसको आपने बताया कि एक आत्ममुग्ध समाज की रचना है और ऐसा समाज अपनी वस्तुस्थिति का आकलन करने की बजाय ऐसे हल्के–फुल्के प्रेम वाले नाटक ही लिख सकता है।

ये व्याख्या आपने हमारे ग्रंथों की की, हमारे यहाँ के ग्रेट लिटरेचर की, जिसको हमने कालिदास जैसे लेखक को पहचाना। तो अनुवाद का एक पक्ष यह भी है। इस पावर डिस्कोर्स में नॉलेज का, भाषा का, ज्ञान का और लिटेचर का इस्तेमाल किस तरह से किया जाता है– यह भी हमें समझने की जरूरत है।

समाज विरोधी ताकतें उसका अपनी तरह से इस्तेमाल करती हैं और वे ताकतें भी अपनी तरह इस्तेमाल करती हैं जो इसका प्रतिकार करने के लिए तैयार रहती हैं। अनुवाद इसीलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यह एक अनुकरण नहीं है, वो एक पुनर्सृजन है। कई बार हमने देखा है मनीषा तनेजा का 'एकांत के सौ बरस' नाम से अनुवाद हैं 'हंडरेड ईयर ऑफ सॉलीट्यूड' का। उसमें उन्होंने 150 से ज्यादा रिफरेन्स दिये हैं। उसमें हर एक शब्द का अर्थ बताया है। ये शब्द जैसे मोकोन्दो का बताया कि यह बंतु भाषा का शब्द है जिसका अर्थ केला होता है। अब अगर आप यह नहीं जानते हैं तो पढ़ते रहिये, ये जो है पूरा उपन्यास, समझ में ही नहीं आयेगा कि वहाँ का गद्य-पद्य क्या था, या यह किस कैरेक्टर पर है।

अनुवादक के सामने तो बड़ी चुनौती रहती है। वो एक उपन्यास लिख देना नहीं है। कि आप हिन्दी भाषा में हैं, अपना समाज जानते हैं, चीजें जानते हैं, आप उस पूरी सांस्कृतिक विरासत से परिचित हैं और आपने एक उपन्यास लिख दिया। आप अगर अनुवाद करने बैठ रहे हैं तो आपको कायदे से वो समाज वो संस्कृति जाननी होगी, शायद ही तब अनुवाद कर पायेंगे। नहीं तो हम तमाम अनुवादों को कहते हैं कि बहुत चौपट अनुवाद है। उसे पढ़कर बोरियत होती है। अनुवाद को संप्रेषणीय बनाना है, इसीलिए जीतेन्द्र भाई ने बढ़िया शब्द इस्तेमाल किया था– सतर्क रचनात्मकता। तो एक सेंसेबिलिटि, वो चेतना आपमें होनी चाहिए।

सबसे बड़ी बात यह है कि आज के दौर में जबकि तकनीक का प्रभाव आपकी भाषा पर है और आपकी लिपि खत्म होने के कगार पर है, कोशिश की जाये, कहना बहुत जल्दी होगी। लेकिन यह है कि जब हम आजकल हिन्दी भी रोमन में लिखने लगे हैं ऐसे अनुवाद की मात्रा बढ़ती है, कहीं ऐसा न हो कि अनुवाद करने के लिए हमारी अपनी लिपि

न रहे। अनुवाद का एक सामाजिक पक्ष कभी ये बनेगा। उसकी सामाजिकी में यह बात भी शामिल होगी कि हमारा अपनी लिपि के साथ क्या रिश्ता बना।

पता नही छोटा 'अ' बड़ा 'आ' कितने लोगों को पूरा याद है? ऐसे में अनुवाद कर्म की गंभीरता को समझा जाना चाहिए, मुझे उम्मीद है कि आज का यह सत्र इन चीजों पर पर्याप्त रोशनी डालेगा। धन्यवाद।

राजेन्द्र शर्मा

धन्यवाद अरुणेश।

मैं अब आरती जी को बुला रहा हूँ। इस सूचना के साथ कि 'समय के साखी' का जो अंक उन्होंने निकाला, वो अनुवाद की वैचारिकी, अनुवाद की परंपरा, अनुवाद कर्म की दिक्कतें और हिन्दी में अनुवाद को जितनी गंभीरता से लिया गया और अनुवाद-कर्म पर जो लिखा गया, उस पर केंद्रित था। उसका उन्होंने संकलन किया, बहुत पुरानी-पुरानी चीजें उन्होंने बुलायी। बहुत-बहुत महत्त्वपूर्ण अंक है वो, बल्कि वो तो इक्कीसवीं सदी का अंक है- 'समय के साखी' का। अगर उनकी स्वयं दिलचस्पी अनुवाद में न होती और अनुवाद-कर्म में न होती तो ये अंक नहीं निकालतीं। देखिये, अनुवाद पढ़ना और अनुवाद-कर्म में दिलचस्पी रखना, ये दो अलग बाते हैं। ये बिल्कुल वैसे ही जैसे आप अपने घर में रोटी खाते हैं और आपकी अम्मा रोटी बनाती हैं। तो मैं आरती जी को साग्रह आमंत्रित कर रहा हूँ कि वे अपने अनुभवों को साक्ष्य करते हुए अपने अनुवाद-कर्म पर अपनी बात रखें।

डॉ. आरती

सम्मानीय मंच, आज के कार्यक्रम के अध्यक्ष महोदय रमेश दवे जी, अजित हर्षे जी, अरुणेश शुक्ल, जीतेंद्र गुप्ता और इस सत्र के संचालक राजेंद्र शर्मा जी।

सबसे पहले मैं संतोष चौबे जी को बधाई देना चाहती हूँ, एक सफल कार्यक्रम के लिए। जैसा कि कहा भी जाता है कि अनुवाद एक बहुत

गंभीर काम है और हम महसूस भी कर रहे हैं कि आज का यह सत्र भी दरअसल गंभीर होता जा रहा है। खैर, शायद मुझे यहाँ अनुवाद पर बोलने के लिए इसलिए बुलाया गया है क्योंकि मैंने 'समय के साखी' का अनुवाद की सैद्धांतिकी पर केंद्रित अंक अभी कुछ समय पहले ही प्रकाशित किया है। दरअसल उस अंक की योजना को लेकर, पहले सोचा था कि भारतीय भाषाओं और कुछ हिन्दीतर भाषाओं के जो महत्त्वपूर्ण अनुवाद हो रहे हैं, उन्हें लेकर दो विशेष अंक प्रकाशित किये जायें, पर जब सामग्री मँगवानी शुरू की तो अनुवाद की सैद्धांतिकी में अपने आप दिलचस्पी हो गई। और योजना उस तरह बन गई जिस तरह कि अंक बाद को बन सका। अंक के बारे में राजेंद्र जी ने काफी विस्तार से आपको परिचय दे ही दिया है।

जैसा कि जीतेंद्र गुप्ता जी ने कहा कि हमें बहुत बात नहीं करनी चाहिए, अच्छे और बुरे अनुवाद को लेकर। लेकिन जब भी अनुवाद पर बात होती है तब हम कहीं ना कहीं उस तह में पहुँच ही जाते हैं, अच्छे अनुवाद और खराब अनुवाद के बारे में बातें होने ही लगती हैं। हम पत्रिका के सभी अंकों में अनुवाद को निश्चित कॉलम के रूप में निकालते हैं। भारतीय भाषाओं के अनुवाद और हिंदीतर अनुवाद भी। उसमें कविता या कहानी कुछ भी लिया जाता है। उसी प्रक्रिया के दरम्यान भी जरूरत महसूस होती है कि अनुवाद के बारे में भी बात की जाए। यही सारी बातें महसूस करते हुए ही अनुवाद की सैद्धांतिकी को लेकर अंक निकाला था, जो कि अच्छा बन पड़ा और जैसा कि राजेंद्र जी ने बताया, जरूरी अंक के रूप में आपके सामने पहुँचा।

'अ फ्रेंड ऑफ काफ्का' की भूमिका लिखते हुए आइजक बेशेविक सिंगर ने लिखा– 'मेरे अनुवादक मेरे सर्वप्रथम पाठक ही नहीं बल्कि मेरे सर्वप्रथम सृजनात्मक आलोचक भी हैं। अपने समूचे वयस्क जीवन भर मैं अनुवादक रहा, मैं कह सकता हूँ कि अनुवाद साहित्य की महानतम समस्या और चुनौती होती है। दूसरी जुबान, जिसमें कि सर्जक की कृति प्रस्तुत की जानी है, वह अस्पष्टता, शाब्दिक खिलवाड़, भाषिक आडंबर बर्दाश्त नहीं करती। वह सृजन को घटनाओं के साथ अपना संबंध बनाये

आखिर में मैं संतोष चौबे जी के अनुवादों पर बात करना चाहूँगी। बहुत कम समय में मैंने जितना उन्हें जाना है, तो मैंने उन्हें पहले कवि के रूप में जाना, फिर उनकी कहानियों से और फिर उपन्यास से और उसके बाद अनुवादक के रूप में जाना। मुझे लगता है, जैसा कि अभी मैं टॉलस्टॉय पर एक अंक तैयार कर रही थी, तो अन्ना केरेनिना को पढ़ने के बाद तुर्गनेव ने टॉलस्टॉय के बारे में कहा कि कोई इतना अच्छा कैसे लिख सकता है! मैं उसी को थोड़ा सा सुधार कर कहूँ कि कोई इतना सब एक साथ कैसे कर सकता है!

रखना सिखाती है, उसकी व्याख्याओं के साथ बिल्कुल भी नहीं, ताकि घटनाएँ खुद-ब-खुद स्पष्ट हों।'

इसीलिए कहीं न कहीं अनुवादों को पढ़ने के बाद प्रश्न अपने आप खड़े हो जाते हैं, कि अनुवाद कैसा है? आशय कि अच्छा है या अच्छा नहीं है?

इसी भूमिका के आईने में, मैं कुछ छोटे-छोटे उदाहरण देना चाहती हूँ। मैं बहुत अधिक गहरी और ज्यादा बातें नहीं कर सकती, क्योंकि अनुवाद से मेरा खुद का सीधा-सीधा सा संबंध भी नहीं है। अनुवाद के साथ मेरा संबंध एक पाठक की तरह ही माना जा सकता है।

जैसा कि अनुवाद को लेकर बहुत सारी बहसें हैं / हुई हैं, यूरोप में भी हुई हैं और हमारे यहाँ भी हुई हैं, शुरुआत में अनुवाद को जरूरी सम्मान नहीं मिला। लगभग यही बात अभी अजित हर्षे जी ने कही, जीतेन्द्र गुप्ता ने भी और जैसा कि अरुणेश भी कह रहे हैं कि हम श्रम करने वाले को सबसे पीछे डाल देते हैं, अपनी सामाजिकी में। रचना की पूरी प्रक्रिया में अनुवाद सबसे पीछे चला जाता है। इन्हीं सब चीजों को लेकर के जब अनुवाद कार्य शुरू ही हुए थे, काफी बहस हुई। हालाँकि अभी मैं उस बहस की प्रक्रिया में नहीं जाना

चाहूँगी।

जैसा कि पश्चिम में अनुवाद का प्रारंभ बाइबिल के यूनानी भाषा 'ग्रीक' में अनुवाद से हुआ। वैसा ही भारत में 531-579 ई. में 'पंचतंत्र' का पहलवी भाषा में अनुवाद से सूत्रपात माना जाता है। यह महत्त्वपूर्ण काम हकीम बिरजोई ने किया था। उसके बाद अरबी भाषा में पंचतंत्र का ही अनुवाद अब्दुल्ला इब्नल मोपका ने किया। फिर 1657 में दारा शिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया। यह क्रम चल पड़ा और लगभग संपूर्ण वैदिक साहित्य– वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, आरण्यक, पुराणों, संस्कृत नाटकों का अरबी-फारसी और कई यूरोपीय भाषाओं में भी अनुवाद अभी तक हो चुका है।

जब पश्चिम में अनुवाद की प्रक्रिया शुरू हुई, तब उस पर वाद-विवाद विद्वानों के बीच लंबे समय तक हुए थे। किसी ने कहा कि अनुवाद-कर्म बहुत ही निकृष्ट कर्म है, जैसे हम छपे हए कपड़े को पीछे की तरफ से देखते हैं, या जिस तरह से स्वादहीन स्ट्रॉबेरी होती है, अनुवाद कुछ इस तरह का स्वाद देता है। इस तरह अनेक प्रकार से अनुवाद को लेकर के प्रश्न उठते रहे हैं। अनुवाद के अस्तित्व को लेकर के भी विद्वानों के बीच दो वर्ग रहे हैं।

और दूसरा वर्ग तमाम तरह की खामियाँ होते हुए भी, तमाम तरह की परेशानियों के होते हुए भी अनुवाद को जरूरी काम की तरह देखता था। अनुवाद के विषय में खास बात कि अनुवाद इसलिए जरूरी है कि वह ज्ञान विज्ञान को जोड़ने वाला बिंदु है, केन्द्र है। एक व्यक्ति आखिर कितनी भाषाएँ जान सकता है? दो-चार-छह ही अधिकतम सीख पाएगा। बहुत ही कठिन परिश्रम करने के बाद ही वह संभव हो सकता है। अनुवाद वह माध्यम होता है, जो हमें दुनिया से जोड़ता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने कहा था कि हमें दो काम प्रमुखता से करने चाहिए। सबसे पहले अपनी हिंदी की किताबों में जो भी ज्ञान है, उसे अन्य भारतीय भाषाओं में और इतर भाषाओं (पश्चिमी भाषाओं) में ट्रांसलेट करें। अन्य भाषाओं में जो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उपलब्ध हैं, उन्हें हिंदी में ट्रांसलेट करें। इस तरह से हम अपने ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र को फैला पाएँगे और उसे लोगों तक पहुँचा

पाएँगे।

हमारा विद्यार्थी जीवन जब शुरू होता है तो हम ऐसे ही पढ़ना सीखते हैं, ऐसे ही हमारे ज्ञान विज्ञान का प्रचार होता है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम अनुवाद ही है, कि हम टॉलस्टॉय, गोर्की और चेखव को पढ़ सके, जान सके।

जैसा कि मैंने कहा कि हम छोटे-छोटे उदाहरणों से जानने की कोशिश करेंगे, अच्छे अनुवाद और कम अच्छे अनुवादों के बारे में। जैसा कि सभी जानते हैं– शब्दानुवाद और भावानुवाद, अनुवाद की प्रक्रिया के दो प्रमुख प्रकार हैं। एक प्रक्रिया और भी होती है अनुवाद करने की, पाठानुवाद, किसी कृति के पाठ का अनुवाद करना। जैसा कि अज्ञेय ने जैनेंद्र के उपन्यास 'त्यागपत्र' का किया था– 'द रेजिग्नेशन' के नाम से। उसका एक अंश मूल और अनुवाद दोनों मैं आपके सामने रखती हूँ। छोटा ही अंश है। कि किस तरह मूल पाठ की अनुवाद में व्याख्या की गई है। 1980 के करीब बनारस के किसी पब्लिकेशन से यह उपन्यास प्रकाशित हुआ था। इस अनुवाद में जिस तरह की छूट ली गई, उसका संकेत उन्होंने ट्रांसलेशन कॉपीराइट के तहत स्पष्ट भी कर दिया था, उसका जिक्र मैं बाद में करूँ तो बेहतर होगा। देखिए, इस का अंश है–

'नहीं भाई, पाप पुण्य की समीक्षा मुझसे नहीं होगी। जज हूँ, कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूँ, पर इस तराजू की जरूरत को भी जानता हूँ। इसीलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी को पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है, वह अपनी जाने, मेरे बस का यह काम नहीं। मेरी बुआ पापिष्ठा थी, यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ? पर आज मेरा जी अकेले में उन्हीं के लिए चार आँसू बहाता है। मैंने अपने चारों ओर तरह-तरह की प्रतिष्ठा की बाड़ खड़ी करके खूब मजबूत जमा ली है। कोई अपवाद उसको पार करके मुझ तक नहीं आ सकता, पर उन बुआ की याद जैसे मेरे सबकुछ को खट्टा बना देती है।'

इसका अँग्रेजी में आगे ट्रांसलेशन किया है, उसे भी देखें–

No, no, I will not sit to judge of good and evil- I can not measure virtue and vice. Being a judge given to uphold the scale of justice- I

know that law has a value without being just. That is why I say, it is not for me to weigh mens sins against their virtues and to pronounce the sinner, sinful for the sake of the righteous- I leave that task to those more endowed and responsible and wish them well. I personally would not even say that my aunt was not sinful. Yet now it is her alone that I regret, and her memory makes that high wall of respectability that surrounds me and insulated me seem shame.

इस तरह से यह तो अनुवाद रहा, साथ ही किताब में कॉपीराइट नोट्स पर भी ध्यान देने की बात है, जिसमें लिखा है– Translated into English and edited by S. H. Vatsyayan. यहाँ अनुवाद में संपादन का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

एक और छोटा–सा उदाहरण कृष्णा सोबती के उपन्यास से देना चाहती हूँ। मैं कहानियों का ही उल्लेख कर रही हूँ, कविता का नहीं। क्योंकि कविताओं का अनुवाद वस्तुतः कहानी के अनुवाद से कठिन होता है। कविता में भावों की बात की जाती है, कहीं ना कहीं लय का भी मसला होता है, बारीक और काफी छुपी हुई संवेदनाओं का भी मामला होता है। कथा–कहानी के अनुवाद में थोड़ी–सी सुविधा होती है।

तो एक अनुवादक को जब अनुवाद करने की प्रक्रिया में दाखिल होता है, तो उसे अपने आसपास और उस भाषा को, जिस भाषा में मूल कृति है और दूसरी भाषा, जिसमें अनुवाद किया जाना है, उसकी पूरी सांस्कृतिकता, भाषा की प्रकृति, आसपास का वातावरण, इन सभी चीजों का ज्ञान होना बहुत जरूरी रहता है।

दरअसल उसी की कमी के फेर में गलतियाँ भी होती हैं। कृष्णा सोबती के उपन्यास का अँग्रेजी अनुवाद कविता नागपाल ने किया, जो कि बड़ी विद्वान हैं। उसका एक छोटा सा पैराग्राफ देखते हैं–

'सड़क के साथ–साथ ठंडी पड़ी लकड़ी के जंगल को बर्फ की तह ने ढाँप रखा था।'

इसका अनुवाद उन्होंने किया–

A sheet of snow covered the cold dense forest along the road...

आप देख रहे हैं इसमें ठंडी पड़ी लकड़ी के जंगल का जो अर्थ उन्होंने

जाना, जंगल का अर्थ उन्होंने फॉरेस्ट से लिया है, जबकि इसमें जंगल का अर्थ फॉरेस्ट नहीं है।

दूसरी जगह जैसे– 'लाल पतलून पर हरी जर्सी और तरेर भरे चेहरे पर गर्म सोतों सी आँखें'... इसे उन्होंने इस तरह ट्रांसलेट किया है–

A red paints and green Jersey and warm sleepy eyes in a flustered face.

यहाँ सोतों सी आँखों को 'स्लीपिंग आइज' में ट्रांसलेट किया गया है। और एक उदाहरण–

'विपरीत दिशा में आते दो अतीत एक–दूसरे का सामना करने को ठिठक गए हैं।' जिसे कविता जी ने किया है–

Two future ages held in constructed silence...

यहाँ भी दो अतीत को दो भविष्य लिखा गया है।

इस तरह की बहुत सारी गलतियाँ अनुवाद में अक्सर पाई जाती हैं। कविता ही नहीं, कहानी के अनुवाद में भी, जिसे कि हम अपेक्षाकृत सरल समझते हैं।

जब हम अनुवाद पर बात करते हैं तो इन सब चीजों पर ध्यान देना जरूरी हो जाता है। यदि हम ऐसा माने कि लेखक अपनी कृति का अनुवाद खुद करेगा तो उससे गलतियाँ नहीं होंगी, यह भी सही नहीं है। ऐसी स्थिति में शायद वह और निश्चित हो जाए, कोई बंधन ना महसूस करे कि मैं अपनी ही कृति का अनुवाद कर रहा हूँ और जबरन छूट ले ले। जबकि वहाँ पर वह अनुवादक होता है। वहाँ वह सर्जक नहीं होता, कि मनमानी छूट ले सके और किसी रचना का एक्सप्लेनेशन कर दे। पाठानुवाद या व्याख्या करने की छूट उसे नहीं दी जा सकती।

सुप्रसिद्ध कहानीकार श्रवण कुमार ने अपनी कहानी 'बवंडर' का अनुवाद खुद ही किया है और उन्होंने उसमें इसी तरह की गलतियाँ या कहिए कि मनमानी छूट भी ली है। जबकि उन्हें दोनों भाषाओं का विद्वान माना जाता है। बहुत छोटी–छोटी चीजें हैं लेकिन उन्हीं चीजों का अनुवाद में ध्यान देना जरूरी होता है और जिसे नजरअंदाज शायद नहीं किया जा सकता।

अनुवाद अंक में हमने कथा साहित्य के अनुवाद की बारीकियों को लेकर डॉ. रणधीर रांग्रा का एक लेख लिया है, जिसमें वे बहुत सारे उदाहरणों के जरिए से अनुवाद विधा की खामियों-खूबियों को समझाते हैं। इसी अंक में डॉ. नगेंद्र का कविता के अनुवाद को लेकर के भी बहुत ही सुचिंतित लेख भी है। कविता का जिक्र आया तो मैं एक-दूसरे ही तरह के अनुवाद, संस्कृत से हिंदी पर भी बात करना चाहूँगी। हमारे यहाँ सबसे पहले अभिज्ञान शाकुंतलम् के सबसे ज्यादा अनुवाद हुए हैं। अभिज्ञान शाकुंतलम् का यह अंश देखें-

सरसिजमपनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोलक्ष्म लक्ष्मी तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्केनापि तन्वी
किमिवा हि मधुराणां मंडप नाकृतीनाम्।।

इसका हिंदी अनुवाद–

सरसिज लगत सुहावनो, जदपि रहो ढकि पंक।
कारी रेख कलंक हूँ, लसति कलाधर अंक।।
पहरे वल्कल वसन यह, लागति नीकी बाल।
कहा न विभूषण होई जो, रूप लिख्यो विधि भाग।।

यहाँ पर भी छंद के बदलने से ही कालिदास की भाषा शैली का चमत्कार गायब-सा हो गया है। केवल मूल भाव समझकर पाठक उसका आनंद ले सकता है। आप देखेंगे कि ये हमारी ही भाषा, हमारे ही वातावरण के शब्द हैं लेकिन जो रस आपको मूलपाठ में मिलता है, वह अनुवाद में नहीं मिल पाता। इसका अर्थ यह कदपि नहीं है कि अनुवाद नहीं होना चाहिए। शायद हम इतने क्लिष्ट रूप में 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' जो है, उसे नहीं समझ सकते थे, वह इस तरह से समझ सकते हैं। इसीलिए अनुवाद कार्य का स्वागत करना जरूरी है।

आखिर में मैं संतोष चौबे जी के अनुवादों पर बात करना चाहूँगी। बहुत कम समय में मैंने जितना उन्हें जाना है, करीब पाँच-छह सालों से ही, तो मैंने उन्हें पहले कवि के रूप में जाना, फिर उनकी कहानियों से और फिर उपन्यास से। पिछले दिनों ही मैं 'क्या पता कामरेड मोहन' पढ़ रही थी

और उसके बाद अनुवादक के रूप में जाना। मुझे लगता है, जैसा कि अभी मैं टॉलस्टॉय पर एक अंक तैयार कर रही थी, तो अन्ना केरेनिना को पढ़ने के बाद तुर्गनेव ने टॉलस्टॉय के बारे में कहा कि कोई इतना अच्छा कैसे लिख सकता है! मैं उसी को थोड़ा सा सुधार कर कहूँ कि कोई इतना सब एक साथ कैसे कर सकता है!

चौबे जी की अनुवाद पर दो किताबें हैं– 'मास्को डायरी' और 'लेखक और प्रतिबद्धता'। मैं उस तरह अनुवादक तो हूँ नहीं, इसलिए ज्यादा कुछ कह पाना मेरे लिए संभव भी नहीं है और ठीक भी नहीं होगा। अभी जो बात हम कह रहे थे, वैसा ही रचनात्मक अत्याचार ही होगा। लेकिन एक पाठक की हैसियत से और एक पत्रिका के संपादक के नजरिए से कुछ कहूँगी। मैं पत्रिका के लिए अनुवाद मँगवाती हूँ या जो भेजे जाते हैं, उनमें सबसे बड़ी दिक्कत आती है कि अधिकतर अनुवादक पठनीय ही नहीं होते। तो सबसे बड़ी दिक्कत होती है कि उस रचना को पाठकों के सामने कैसे रखा जाए?

संतोष चौबे की 'मास्को डायरी' पढ़ते हुए मुझे यह कमी बिल्कुल भी नहीं लगी। इतने अच्छे से मैंने मास्को, बर्लिन और उसके आसपास के वातावरण, संस्कृति की यात्रा की। मुझे मास्को को एक तरह से देख लेने, उसे समझ लेने का सुख मिला। तो मैं चौबे जी के अनुवाद कर्म को लेकर, इतना जरूर कहूँगी कि उनका काम बहुत पठनीय और भाषिक दृष्टि से पाठकों के लिए बेहद उपयुक्त है। जैसा कि खासकर यूरोपियन पुस्तकों में बड़े–बड़े वाक्य प्रयोग में लाये जाते हैं, उसे भी उन्होंने छोटे–छोटे और सरल वाक्यों के रूप में ट्रांसलेट किया है। अधिकांश अनुवादक कृति को बेहद जटिल और अपठनीय बना देते हैं। यहाँ वह बात बिल्कुल उलट है जिसके लिए संतोष जी बधाई के पात्र हैं।

अंत में एक बात और, जैसा कि मैंने पहले कुछ अनुवादों का उदाहरण देते हुए अज्ञेय जी के द्वारा किए गए जैनेंद्र कुमार के 'त्यागपत्र' का उदाहरण दिया था। उसमें एक बात और याद आ रही है कि किस तरह से ट्रांसलेशन करते हुए कॉपीराइट के तहत यह घोषणा की गई थी कि मूलकृति के पाठ के साथ ट्रांसलेटर खूब मनमानी करेगा। ऐसा मैं नहीं कह

रही हूँ, यह उस किताब में लिखा हुआ है। 1980 में 'त्यागपत्र' का जो तीसरा एडिशन आया, उसमें यह बात लिखी हुई है देखिए–

This translation, with certain modification of the content made by the translator with the author's consent, was first published in the Indian library series by Indian publisher, Banaras.

यहाँ पर मूल कृतिकार ने अनुवादक को इतनी छूट क्यों दी, यह एक अलग मुद्दा है, लेकिन अनुवाद साहित्य में इस तरह की छूट लेना और किसी कृति के साथ इस तरह का व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता।

इसके साथ ही, संतोष चौबे जी को पुनः एक बार आमंत्रित करने के लिए शुक्रिया और इस कार्यक्रम के लिए बधाई।

राजेन्द्र शर्मा

मित्रो, जो यह विषय है 'अनुवाद की सामाजिकी', तो अनुवाद कर्म के जो सामाजिक आयाम हैं, इसके बारे में सोवियत रूस ने बहुत पहले समझ लिया था, अब तो सोवियत रूस रहा नहीं। लेकिन वहाँ (सोवियत रूस में) 56 भाषाएँ व्यवहारित होती हैं, सबसे पहला कार्य उन्होंने यह किया कि सारी अपनी रूसी भाषाओं को जो रूस में, सोवियत संघ में बोली जाने वाली भाषाएँ थीं, इन सबके अनुवाद रशियन में करवाये और रशियन भाषा में सर्वोत्कृष्ट साहित्य का अनुवाद उन्होंने तमाम अपने देश की बाकी भाषाओं में कराकर, इस स्वरूप में लाया जिसको रूस से कहा जा सकता है। फिर मित्रो, यह इतिहास की बात है, उन्होंने बाकायदा एक अनुवाद ब्यूरो की स्थापना की और अपने उस राष्ट्रीय साहित्य के सर्वोत्कृष्ट को लगातार दुनिया-भर की भाषाओं के अनुवादों के माध्यम से और बहुत सुंदर पब्लिकेशंस के माध्यम से सब जगह फैलाया। उसमें अनुवादक उन्होंने हर भाषा के हर देश के सर्वोत्कृष्ट साहित्यकारों में से चयन किया। भीष्म साहनी ने मास्को में रहकर रशियन से हिन्दी में बहुत अच्छे अनुवाद किये हैं। अमृत राय और ऐसे ही अन्य भाषाओं के लोगों को बाकायदा सोवियत संघ ने आमंत्रित किया। अपने यहाँ काम दिया। अपने साहित्य का अनुवाद कराकर बहुत सस्ते दामों में प्रकाशित करके लगभग-लगभग निःशुल्क ही सारी दुनिया के पाठकों में वितरित किया।

अनुवाद इस तरह से हुआ। हमारे यहाँ पर 'स्किल डेवलपमेंट' की बात होती है। मैं एक यूनीवर्सिटी में खड़ा हुआ हूँ। इसीलिए मैं यहाँ यह कह सकता हूँ कि अनुवाद भी एक स्किल है। स्किल डेवलपमेंट के लिए अनुवाद को एक ज्ञान की शाखा के लिए, एक शिक्षण के लिए क्यों नहीं लिया जाना चाहिए? बहुत कम विश्वविद्यालयों मे शायद अनुवाद का कोई विभाग होगा, अनुवाद सिखाने वाला। यहाँ कुलाधिपति महोदय बैठे हैं, उनसे मैं आग्रह करूँगा कि वे इस पर विचार करें कि यहाँ एक स्वतंत्र विभाग अनुवाद के लिए स्थापित कर सकें।

आप देखिये हमारे देश में किसी भी चीज को खराब करना है तो सरकार का हाथ लगवा दीजिये। सरकार खराब कर देगी। 1964 में राजभाषा अधिनियम बनने के बाद, जो खास तौर से इसी काम के लिए था कि हमारी भाषाओं में अनुवाद हो, सरकारी कामकाज कम से कम सारी भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से पहुँच सके। हिंदी में तो खास तौर से पहुँच सके और इस काम के लिए राजभाषा अधिकारियों की जो लम्बी चौड़ी फौज भर्ती की गयी, अगर उसके 2 प्रतिशत ने भी अपना काम कर लिया होता ईमानदारी से, तो आप हम हिन्दी के राष्ट्रभाषा राजभाषा होने का जो रोना रोते हैं, वह नहीं रोना पड़ता। हम हिन्दी पखवाड़े, हिन्दी मास, मनाते रहते हैं, इसकी जरूरत नहीं होती। लेकिन राज्यभाषा अधिकारियों ने तो अपना काम समझा कि उन्हें राजभाषा पखवाड़ा, राजभाषा मास मनाने के लिए भर्ती किया गया है और उनका काम सितम्बर के महीने में एक बार हिंदी का 'श्राद्ध तर्पण' करने में होता है। हम कुछ लोगों को बुलाकर शाल, श्रीफल देकर उनको आने जाने का व टीए-डीए व कुछ पैसा देकर विदा कर देते हैं। हमसे कोई कुछ पूछने वाला नहीं। तो इतनी मक्कारी के साथ आपकी भाषा के साथ कार्य हुआ।

मित्रो, आपके कुलाधिपति व मेरे मित्र संतोष चौबे जैसा कि अभी आपने सुना, देखा भी होगाा, उनकी अनुवाद की भी किताबें हैं। उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण जैसे टेरी इग्लटन के बहुत महत्त्वपूर्ण लेख का अनुवाद किया। टेरी इग्लटन की बात हिन्दी साहित्य में बहुत की जाती है लेकिन टेरी इग्लटन व वाल्टर बैंजामिन को हिन्दी में लेकर आने का श्रेय मैं

उनको देता हूँ। मैं बहुत आग्रह के साथ, कुलाधिपति की हैसियत से नहीं उपन्यासकार या कवि की हैसियत से नहीं, यहाँ कथाकार की हैसियत से नहीं, मैं उन्हें एक अनुवादक की हैसियत से आमंत्रित करता हूँ। अनुवाद-कर्म में क्या तो उन्हें मजा आता है या किन संकटों का सामना करते हैं– इन अनुभवों को वो हमारे साथ साझा कर सकें तो हम सब लोगों के लिए बड़ी प्रसन्नता की बात होगी।

आदरणीय संतोष चौबे जी।

संतोष चौबे

आदरणीय दवे जी, मंच पर उपस्थित मित्रो, सामने बैठे मित्रो और मेरे दोस्तो। राजेन्द्र ने मेरे अनुवाद के अनुभव के बारे में कहा है।

मैं सामाजिकी पर उतनी बात नहीं करूँगा। कुछ बातें अनुवाद की प्रक्रिया के बारे में कहना चाहूँगा। पहली बात तो मुझे लगता है कि यह स्पष्ट ही हो चुका है कि अनुवाद हमारे देश की, हमारे समय-समाज की और हमारे विश्व की बहुत बड़ी जरूरत है। अगर लोगों को आपस में जोड़ना है, एक-दूसरे की संस्कृतियों को जानना है, हमें राष्ट्रीय एकता को वाकई समझना है तो हमें जानना होगा कि महाराष्ट्र में क्या अच्छा लिखा गया, बंगाल में क्या अच्छा लिखा गया, केरल में क्या अच्छा लिखा गया! उनको जानना होगा कि हिंदी, हिंदी प्रदेशों में क्या अच्छा लिखा गया! तो इस दृष्टि से अनुवाद का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है।

मैं आपको एक बहुत रोचक-सा अनुभव बताता हूँ जो मुझे अभी-अभी हुआ। मैंने कल बताया था, संगीत पर मैंने एक उपन्यास पूरा किया है। उसमें एक बड़ी रोचक घटना आती है कि हमारे देश के राजा मानसिंह ग्वालियर में थे और ग्वालियर के राजा मानसिंह ध्रुपद के बड़े संगीतज्ञ माने जाते हैं। एक बार पूरे देश के संगीतकार ग्वालियर में जुटे। असल में वे दक्षिण के संगीतकार थे जो उत्तर में कुरुक्षेत्र नहाने गये थे और लौटते समय वे ग्वालियर में रुके क्योंकि ग्वालियर में उस समय बैज, बक्शू, तानसेन नाम के तीन बड़े संगीतकार थे। तानसेन को आप सभी जानते हैं। राजा मानसिंह के मन में यह बात आई कि मैं इन सबके साथ एक सभा

करूँ और उन्होंने संगीत पर एक सभा की। क्योंकि दक्षिण भारत का संगीत उस समय थोड़ा-थोड़ा अलग हो चुका था। अमीर खुसरो उसके पहले हो चुके थे। उत्तर भारत का संगीत अलग हो चुका था। राजा मानसिंह ने एक बड़ी सभा लगभग एक माह तक की। उसमें उत्तर दक्षिण भारत के संगीत पर बड़ी लम्बी चर्चा हुई। राजा मानसिंह ने उस चर्चा को डाक्यूमेंट किया और उसका नाम 'मानकौतुहल' रखा। इसी नाम से बाद में ग्रंथ सामने आया।

हमारे देश में 'मानकौतुहल' की कोई मूल प्रति नहीं मिलती। 'मानकौतुहल' जो इतना बड़ा पड़ाव है, हमारे शास्त्रीय संगीत को समझने के लिए, 'संगीत रत्नाकर' के बाद उसकी प्रति नहीं मिलती। 'मानकौतुहल' की प्रति मिलती है ईरान में, क्योंकि एक फकीर उल्लाह नाम के आदमी थे, फारसी के थे। फकीर उल्लाह लगभग 200 साल बाद आये थे। उन्होंने 'मानकौतुहल' का अनुवाद फारसी में किया और वो 'रागदर्पण' के नाम से फारसी में मिलती है। 'रागदर्पण' न होता तो हमें मालूम ही नहीं होता कि 'मानकौतुहल' क्या चीज थी और ध्रुपद से ख्याल की हमारी यात्रा कितनी महत्त्वपूर्ण यात्रा थी, और वह गुम जाती।

मुझे लगता है कि जो समाज सचेत होता है, वो अनुवाद के काम को बहुत गंभीरता से लेता है और यह उदाहरण हमारे अपने देश में भी मिलते हैं। हमारे बहुत सारे ग्रंथों के अनुवाद विदेशी भाषाओं में मिले जिसमें हम उनसे दुबारा परिचित हो पाये, और जैसा कि राजेन्द्र ने कहा, मैं बंगाली लेखकों या मराठी लेखकों को उनके हिन्दी अनुवादों के माध्यम से जानता था। मुझे तो लगता था कि ये सब हमारे ही लेखक हैं और वो अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे। इससे मुझे राष्ट्रीय चेतना के विकास में बहुत ही मदद मिली और मैं ऐसा मानता रहा कि न सिर्फ हिन्दी, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं को भी उतनी ही जगह मिलनी चाहिए।

बहुत संक्षेप मे एक-दो बातें कहूँगा। पहली बात कि मैं किताब या अनुवाद के लिए सामग्री का चयन कैसे करता हूँ? मुझे लगता है कि इस समय जो समस्या केन्द्र में हो, उसे चुना जाना चाहिए। जैसे अगर मैं साहित्य पर काम कर कर रहा हूँ और यदि समस्या है इतिहास और कला

या कलाओं की पारस्परिकता, या कलाओं के अंतस्संबंध, तो पहले मैं खूब सारा पढ़ना शुरू करता हूँ। जिस भी भाषा में उपलब्ध हो, मुझे हिंदी, अँग्रेजी, दो भाषाएँ अच्छी आती हैं ऐसा मैं मानता हूँ।

तो यह फ्रेडरिक जेम्सन का चयन किया गया या टेरी इगल्टन का चयन किया गया तो वो समस्या के केंद्र में थी। उस समय मुझे लगता था कि ये मुझे प्रकाशित करती है। जैसे कि उनके बाद की किताब 'मीनिंग आफ लाइफ' है जो मैं चाहता हूँ कि अनूदित हो। तो पहली बात तो यह कि मैं तय करता हूँ कि कौन–सा विषय इस समय समस्या के केंद्र में है और उस पर कोई महत्त्वपूर्ण बात कही जा सकती है क्या, और मेरा दिल उसमें रमता है।

तो मैंने ये दोनों किताबें अनुवाद की उसमें इगल्टन विशेषकर मेरे बहुत सारे कोने प्रकाशित करते थे और मुझे लगा कि इस किताब का अनुवाद किया जाना चाहिए। सामग्री का चयन करने में भी मुझे थोड़ा समय लगता है। मै बहुत सारा पढ़ता रहता हूँ और उसमें से चयन करता हूँ। पिछले दिनों जोसेफ कोनरेड के उपन्यास का अनुवाद किया है। और मुझे ग्राहम ग्रीन का कॉमेडियन भी बहुत पसंद है। उसका मैं अनुवाद इस

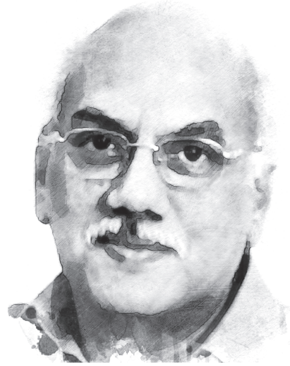

जो समाज सचेत होता है, वो अनुवाद के काम को बहुत गंभीरता से लेता है और यह उदाहरण हमारे अपने देश में भी मिलते हैं। हमारे बहुत सारे ग्रंथों के अनुवाद विदेशी भाषाओं में मिले जिसमें हम उनसे दुबारा परिचित हो पाये, और जैसा कि राजेन्द्र ने कहा, मैं बंगाली लेखकों या मराठी लेखकों को उनके हिन्दी अनुवादों के माध्यम से जानता था। मुझे तो लगता था कि ये सब हमारे ही लेखक हैं और वो अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे। इससे मुझे राष्ट्रीय चेतना के विकास में बहुत ही मदद मिली और मैं ऐसा मानता रहा कि न सिर्फ हिन्दी, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं को भी उतनी ही जगह मिलनी चाहिए।

समय कर रहा हूँ तो पहली बात सामग्री वह चुनता हूँ जो आपके दिल को छूती है। अगर मेरे दिल को छू रही है तो आपके दिल को भी छुएगी, यह पक्की बात है।

मैंने कुछ नाटकों के भी अनुवाद किये, उनमें से एक आज शाम को खेला जायेगा। कुछ कहानियों के भी अनुवाद किये पर मेरा ज्यादा अनुवाद वैचारिक गद्य का है। वह मुझे प्रकाशित करता है तो मुझे लगता है बाकी दूसरों को भी उद्देश्य प्रतीत होगा।

हाल ही मैं मैंने एक किताब का अनुवाद किया है। 'गाइड टू द परपलेक्स्ड'। शूमाकर की गुम हुई किताब है। उनकी पहली किताब इकॉनामिक्स पर है– 'स्माल इज ब्यूटीफुल' जो काफी पढ़ी गयी, उसका अनुवाद भी है। लेकिन 'गाइड टू द परप्लेक्स्ड' को नहीं पढ़ा गया है और उसके बहुत सारे अंश हमारी भागवत् कथा से मिलते हैं। मतलब भागवत् कथा में जो कहा गया है, 1976 में शूमाकर ने कहा, 'गाइड टू द परप्लेक्स्ड' में कहते हैं। और 'परप्लेक्स्ड' के लिए हिंदी में मुझे कोई बहुत अच्छा वर्ड नहीं मिलता है। तो मैंने उसके लिए लिखा है– 'भ्रमित आदमी के लिए एक किताब'। तो अनुवाद मैं जब करता हूँ तो थोड़ा-थोड़ा मेरा भी अंश उसमें आ जाता है और एकदम ऐसा नहीं होता है कि मैं एकदम शाब्दिक अनुवाद करूँ।

हालाँकि विष्णु खरे कहते हैं कि अनुवाद के साथ में सही ट्रीटमेंट तब ही है जब शाब्दिक अनुवाद करें, लेकिन मैंने ऐसा कभी नहीं किया। मैं भारतीय परंपरा मे उसके फ्लेवर को पकड़ना चाहता हूँ और वह निकल आये तो ठीक है। तीसरी बात यह है कि अगर आप किसी ऑथर का अनुवाद कर रहे हैं तो आपको उसकी लाइफ के बारे में, जीवन के बारे में, उसकी पृष्ठभूमि के बारे में, उसके देश की पृष्ठभूमि के बारे में, उसकी विचारधारा के संबंध में, समझ में पूरी तरह से आना चाहिए।

मैं आपको उदाहरण देता हूँ विश्व हिंदी कविता सम्मेलन के बारे जो 25-30 साल पहले हुआ था और उसके लेखक ने 'कट द क्रैप' का अनुवाद किया 'आओ घास काटें'। अब 'कट द क्रैप' अँग्रेजी का एक फ्रेज है जिसका अर्थ है बकवास बंद करो। हिंदी में कहा जायेगा अगर

आदमी बहुत सारा बोल रहा है, फालतू चीजों को हटाओ, बकवास बंद करो। उसका अनुवाद हमारे एक भाई ने किया था– आओ घास काटें। मुझे लगता है, दोनों भाषाओं के मुहावरे को पकड़ना और उसके फ्लेवर को पकड़ना, यह बहुत ही आवश्यक है, यह मैं करने की कोशिश करता हूँ।

जैसे लोरका का अनुवाद किया मैंने। तो पहली बात तो यह कि बहुत ही कठिन रीडिंग है वो। तो मैंने पहले स्पेनिश हिस्ट्री का थोड़ा अध्ययन किया। मैंने एनसाइक्लोपीडिया देखे कि उनके समय में स्पेन में क्या-क्या हो रहा था, जो गृहयुद्ध चला था और लोरका कैसे मारे गये थे, उसके बारे में मैंने जाना। और लोक और आधुनिक का संघर्ष उनके बीच में है। उसको पकड़ने के बाद में लोरका का अनुवाद हुआ है। मैं एक पैसेज आपको सुनाता हूँ। छोटा-सा पैसेज है। आप उसको नहीं जानेंगे अगर आप स्पेन को नहीं जानते, जैसे हमारे यहाँ पर मेंडोलिन बजाया ही नहीं जाता है–

'कितने खूबसूरत होते हैं वेनेशियन खेत। जब वसंत अपने नवजात बच्चे की तरह आँखें खोलता है और धूप-भरे दिन, नींबू के पत्तों से मेंडोलिन बजाते हुए गुजरते हैं। जीवन, प्यारा जीवन, किसी से शिकायत नहीं करता, खूबसूरत औरतें, उत्तेजक औरतें, गाँव के चौक में धूल उड़ाते हुए अपने रंगीन लिबासों में नाचती हैं और उनकी आँखें पूरी पृथ्वी का चक्कर लगाती हैं– अपने अंतिम लक्ष्य की खोज करने के पहले। मोटे कपड़ो में लदे फंदे किसान अपने खच्चरों के साथ खेत पार करते हैं। बाड़ के ऊपर लटके हुए बिजूके निश्चित आकाश पर अपशगुन की तरह ताकते हैं। चिल्लाते और गालियाँ बकते नौजवान बैलों को अपने बाड़ों की ओर खदेडते हैं। शनिवार की दोपहर बूढ़ी माँयें आँखों में अज्ञात दुख लिये खिड़कियों में झाँकती हैं। तब जबकि वहीं पड़ोस में नंगे पाँव बच्चे पत्थर फेंकते हुए शोर कर रहे होते हैं। क्यों वे सबकुछ छोड़कर बाड़ों के ऊपर लटकते हैं? या कि खेतों में कूद जाते हैं? क्या वे जानते हैं?'

ये पहले आपको पोयट्री जैसा लगेगा। जो उसकी भाषा की पकड़ भी थोड़ी-थोड़ी होनी चाहिए। इसी में मुझे लगता है कि अनुवाद का मजा है।

मैंने कहा कि मै कौन से विषय चुनता हूँ! और किस तरह से पृष्ठभूमि

में जाता हूँ! किस तरह से भाषा के मुहावरे को पकड़ने की कोशिश करता हूँ। अंतिम बात ये कि सामान्यतया मैं बिना डिक्शनरी के अनुवाद करता हूँ। पहला अनुवाद मैं डिक्शनरी को सामने रखकर नहीं करता। मतलब मैं पाठ का अनुवाद करता हूँ और एक बार एक फ्लो में अनुवाद कर लेता हूँ। जिस शब्द का मीनिंग मुझे उस समय समझ में नहीं आता है, उस शब्द को वैसे ही लिख लेता हूँ क्योंकि मैं अँग्रेजी से हिंदी और हिंदी से अँग्रेजी करता हूँ। तो मैं उसको वैसे ही रख लेता हूँ। और बाद में मैं जब दुबारा गुजरता हूँ, तो शब्दों को रिप्लेस करके देखता हूँ कि वाक्य पर क्या फर्क पड़ा और फिर वाक्य को रिकंसट्रक्ट करने की कोशिश करता हूँ।

इस तरह से बहुत ही मेहनत-साध्य काम है अनुवाद करना। तकनीकी अनुवादों में वाकेब्लेरी को लेकर मैंने कुछ कंप्यूटर की किताबों के अनुवाद भी किये हैं। मुझे लगता है कि उनके बहुत सारे तकनीकी अनुवाद करने की जरूरत है, क्योंकि कुछ सामग्री हमारे यहाँ है ही नहीं।

कम्प्यूटर विषय पर मैने दो तीन किताबों के अनुवाद किये हैं। सबसे पहला काम मैंने यह किया कि वैज्ञानिक शब्दावली को अलग रखा। वैज्ञानिक शब्दावली इतनी बोझिल है कि उसका अनुवाद मैं कर दूँगा तो आपको कुछ भी समझ में नहीं आने वाला है। तो मैंने कम्प्यूटर को कंप्यूटर ही रहने दिया। बहुत सारी प्रक्रिया को वही रहने दिया, क्योंकि वे हमारे पास ऐसी ही आई हैं। तो तकनीकी शब्दावली को मैंने वैसा ही रहने दिया तो मेरी किताबें लाखों की संख्या में बिकती हैं और बहुत ज्यादा पढ़ी जाती हैं। उससे सिद्ध होता है कि वो किताबें पठनीय हैं और मेरे अनुवाद पठनीय हैं।

लेखक का डिक्शन भी एक चीज होती है। अगर आप वॉल्टर बैंजामिन को पढ़ेंगे तो उनका डिक्शन बहुत ही कठिन है। वे लंबे-लंबे वाक्य लिखते हैं। उन्हें कई बातें एक साथ में कहनी हैं। लेकिन हमारे यहाँ पर ऐसा नहीं होता है। हमारे यहाँ वाक्य छोटे लिखे जाते हैं। तो लेखक के डिक्शन को भी पकड़ना आवश्यक होता है और मैं यह सोचता हूँ कि मैंने यह काम बैंजामिन के मामले में किया है।

अनुवाद के एक और तरीके के बारे में बताऊँगा। एक बार हमको एक

नाटक का जो कि प्रचार-प्रसार का नाटक था, भारत की सभी भाषाओं में अनुवाद करना था। तो मैंने यह किया कि हर भाषा का एक व्यक्ति अपने साथ बैठाया। एक तमिल, एक तेलुगु, एक मराठी और मैंने उसका जो अँग्रेजी अनुवाद था उसको पढ़ा और कहा कि अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद कर लो। तो सामूहिक रूप से भी अनुवाद किया जा सकता है और सारे लोग जो भाषा जानने वाले थे, उन्होंने एक ही साथ 10-12 भाषाओं में नाटक का अनुवाद किया। बाद में बहुत जगहों पर वो खेला गया। उन्होंने अपने यहाँ जाकर उसको पॉलिश किया होगा! लेकिन मैंने एक साथ अनुवाद किया। इस तरह से समय थोड़ा कम लगता है।

लेकिन मैं राजेन्द्र जी को यह बताना चाहता हूँ और दवे जी को, कि हमारे विश्वविद्यालय में हमने एक अंतरराष्ट्रीय सांस्कृतिक केंद्र बनाने का निर्णय कर लिया है। यह पीछे पहाड़ी के नीचे आपको जगह दिखती है वो आईडेंटीफाई कर ली गयी है, उसके नक्शे वगैरह भी तैयार हैं, हम कोशिश करेंगे कि वह बने। उस केन्द्र में हमने एक अंतरराष्ट्रीय अनुवाद केन्द्र बनाने का भी सोचा है क्योंकि मुझे लगता है कि अनुवाद इस समय की बहुत बड़ी जरूरत है। धन्यवाद।

राजेन्द्र शर्मा

धन्यवाद संतोष जी, और एक बात बता दूँ कि अपनी परिकल्पना में थोड़ा सुधार कर लें। भारत भवन तो अब भूली-बिसरी चीज हो गयी। आप नया ही कीजिये और उस सांस्कृतिक केंद्र को बहुत अच्छा बनाइये।

मित्रो, मैं बहुत ही सम्मान के साथ अध्यक्षीय संबोधन के लिए रमेश दवे जी को आमंत्रित कर रहा हूँ, इस अपेक्षा और उम्मीद के साथ कि एक छोटी-सी संगोष्ठी में अनुवाद-कर्म जैसे गंभीर विषय के कई पक्ष सामने आये हैं। यहाँ मुख्यत: साहित्यिक अनुवादों पर चर्चा हुई है लेकिन जैसा कि ज्ञान के विस्तार के बारे में बात करनी है, उसके विस्तार परंपरा को जानना और पल्लवित करना है तो हमें तकनीकी विषयों के अनुवाद उपलब्ध कराने पड़ेंगे। संतोष जी ने अपने उदाहरण में बिल्कुल ठीक कहा कि अगर वे संगणक के बारे में लिख रहे होते तो शायद वे किताबें

पुरस्कृत जरूर हो जाती, लेकिन बिक नहीं पातीं। लेकिन उन्होंने कम्प्यूटर के बारे में लिखा तो तकनीकी और वैज्ञानिक आयोग ने, जो कि जाहिर है सरकार ने बनाया हुआ है, उसको उतनी मान्यता नहीं दी होगी। लेकिन अपने पाठकों में जिन लोगों को कम्प्यूटर जानने की जरूरत थी, जिनके लिए कंप्यूटर जीवन-यापन का एक साधन बनने जा रहा था, या जो उसमें अपना रोजगार देख रहे थे, उसमें अपना घर-परिवार चलाना चाह रहे थे, ऐसे तमाम लोगों के लिए संतोष जी की किताबें बिकती रहीं और अभी बिकती हैं। तो यह एक उपयोगी अनुवाद और ऑफीशियल अनुवाद, माने हमारे देश में सरकारी अनुवाद जिसको कहते हैं, उसमें फर्क होता है। ऐसे कुछ स्किल डेवेलपमेंट के लिए भी अपने विश्वविद्यालय में ध्यान देंगे संतोष जी। यह तो मैं बार-बार आग्रह करता नहीं, यह हमेशा करूँगा। और जब तक मेरे मन का ना हो पायेगा तब तक मैं करता रहूँगा। मैं दवे जी को आमंत्रित कर रहा हूँ। वे शिक्षाशास्त्री भी हैं हमारे देश के वरिष्ठ शिक्षाविद् है तो इस मामले के तमाम कोणों को समेटते हुए वे अध्यक्षीय वक्तव्य दें। आपके सामने श्री दवे जी।

रमेश दवे

मित्रो! अँग्रेजी में एक शब्द कहा गया था। नाश्ते और लंच को मिलाकर– ब्रंच। इसलिए आज एक नया शब्द और बना लें। डिनर और लंच को मिलाकर– डिंच। तो आज आप यहाँ से डिनर करके जाइये लंच की बजाय।

बहुत कम समय में अच्छी बातें कहीं गईं और यह साहित्य का गुण भी होता है कि जब बहुत थोड़े शब्दों में अच्छी बातें कह दें तो वह अच्छी बातें टिकती हैं। अनुवाद दो तरीके से किये जाते हैं। एक अनुवाद ऐसा होता है जिसे हम कहते हैं लिटरल ट्रांस्लेशन, शब्द की जगह पर शब्द रख देना, जो आजकल कंप्यूटर भी कर रहें हैं। या कुछ शब्दों के पर्यायवाची ले लेना या कुछ शब्दावली ले लेना। और सरकारी शब्दावली के आधार पर अनुवाद करेंगे तो वह अपठनीय ही होंगे।

एक लिटरल ट्रांस्लेशन होता है और दूसरा होता है लिटरेरी ट्रांस्लेशन।

लिटरेरी ट्रांस्लेशन में आप क्रिएटिव होते हैं। हमारा समय द्विभाषी समय है। बहुभाषी नहीं कहूँगा और द्विभाषी का मतलब यह भी नहीं कि अँग्रेजी और हिंदी का समय है। हमारा समय द्विभाषी समय दो प्रकार से है। एक है थिंग लैंग्वैज, वस्तु भाषा; दूसरा है, थिंक लैंग्वेज, विचार की भाषा। अभी आपने थोड़ी देर पहले पिछले सत्र में नरेश जी की एक कविता सुनी– 'कांक्रीट'। इसकी भाषा थिंग लैंग्वेज और थिंक लैंग्वैज का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कही जा सकती है। क्योंकि उसमें थिंग्स हैं और थिंक के माध्यम से, कल्पना के माध्यम से, बिंब के माध्यम से, अपने प्रकार की सोच के माध्यम से, इस तरीके से जोड़ दिया गया कि थिंग, थिंक बन गयी और थिंक, थिंग बन गया। तो यह सामंजस्य जिस कवि के अंदर होता है उसे भाषा की बहुत बड़ी समझ होती है।

अनुवाद में भाषा की समझ बहुत ही अनिवार्य है। भाषा भी हम दो तरह से इस्तेमाल करते हैं अनुवाद में। एक होती है हमारी मदर भाषा जिसे हम मदरटंग भी कहते हैं जिसमें हम बोलते लिखते पढ़ते हैं, और दूसरी होती है अदर टंग। तो मदर टंग और अदर टंग के मिलाप को को जब हम अनुवाद में लाते हैं तो ऐसा लगता है कि हम भाषाओं को 'वी आर वेडिंग देअर टू लैंगवेजेस टूगेदर'। यह सबसे बड़ा गुण अनुवादक में अच्छा नहीं है तो फिर अनुवाद अच्छा नहीं होगा। मेरे एक मित्र हैं जो विदेशी साहित्य का ही अनुवाद करते हैं और वे अनुवाद से इतना अभिभूत होते हैं कि उसको वे बार-बार पढ़ते हैं। कोई दूसरा पाठक ही नहीं है उनके पास।

उन्होंने एक अनुवाद किया और मुझे सुनाया कि एक पात्र है एक कहानी का जो अपनी जैकेट के लिए बटन खरीदने निकलता है और वह अपनी जैकेट के तीन बटन खरीदता है– गोल्डन बटन। तो अनुवादक महोदय ने कहा कि गोल्डन बटन तो भारत जैसे देश के लिए बहुत रिच यानी संपन्न लोगों का काम है, इसलिए उन्होंने तीन बटनों की जगह तीन पेन खरीदवा दिये उनसे। अब तीन पेन खरीदवा देने से अगर तीन बटन गोल्डन नहीं, तो काँसे के खरीदवा दिये होते, काँच के खरीदवा देते, प्लास्टिक के खरीदवा देते, लेकिन बटन की जगह पेन का इस्तेमाल? तो

ऐसे बहुत से अनुवाद होते हैं।

अभी मेरे मित्रों ने बहुत अच्छे उदाहरण दिये। मैं अपने मित्रों की बात दोहराना इसलिए नहीं चाहूँगा कि दोहराने से कोई खास फायदा नहीं है। आप उनको सुन चुके हैं लेकिन जीतेन्द्र जी ने, अजित हर्षे जी ने, अरुणेश ने, आरती जी ने, और हमारे संचालक जी ने बहुत सारी बातें बीच-बीच में अच्छे ढंग से कहीं।

यह कहा गया कि अनुवाद एक श्रमसाध्य काम है। रस्किन कहा करता था ना कि 'श्रमरहित कला अपराध है और कलारहित श्रम बर्बरता है'। श्रमरहित कला और कलारहित श्रम का भी हमारे अनुवादक के पास एक जोड़ होना चाहिए।

मैंने संतोष जी की दोनों पुस्तकों को दो बार पढ़ा और पढ़ने के बाद मैंने सोचा, चार लोगों के उन्होने अनुवाद इन किताबों में किये हैं। और चार डिफरेंट नेशनेलिटीज के– बैंजामिन जर्मन, औडिसियस ग्रीस, फिर तीसरा ईगल्टन इंग्लिश और जेमसन अमेरिकी। ये चार नेशनेलिटीज। तो इन दो नेशनलिटीज की भाषा तो हमारे पास है। अँग्रेजी और अमेरिकन की भाषा तो हमारे पास है लेकिन हमारे पास जर्मन उतनी अच्छी तरह से नहीं है जितनी अच्छी तरह से अँग्रेजी है या स्पेनिश भी उतनी अच्छी तरह से नहीं है। स्पेनिश भाषा तो बहुत रिच है क्योंकि यह भाषा ही बहुत रिच है और इसका विपुल और बहुत सुंदर साहित्य है। दुनिया के बहुत सारे देश स्पेनिश बोलते हैं। कई देशों ने अपनी भाषा गँवा दी, अँग्रेजी स्पेनिश में ही लिख रहे हैं।

तो दोनों भाषाओं पर जब तक बहुत अच्छा आपका अधिकार नहीं हो तब तक हम एक मूल रचना को सही ढंग से अनूदित नहीं कर सकते। दोनों भाषाओं पर आपका समान अधिकार होना चाहिए। उसकी शब्दावली, उसके लोकाचारों का, उसके परिवेश का, उसके पर्यावरण का, उसकी घटनाओं का, उसके पात्रों का, उसकी सांस्कृतिक धरोहरों का– इन तमाम चीजों का जब तक हमें ज्ञान नहीं है, एक अच्छे अनुवाद के रूप में उस रचना को पेश नहीं कर सकते हैं।

मैंने कई जगह पढ़ा है, सोक्रेट्रीस का एक वाक्य मैं अक्सर पढ़ता रहता

हूँ जिसका अनुवाद मुझे बहुत अच्छा लगता है। सुकरात से पूछा गया कि तुम्हें तो जहर का प्याला पिलाया जा रहा है, तुम इंकार क्यों नहीं कर देते हो, तुमने ऐसा कौन–सा बड़ा अपराध किया है जो जहर पी रहे हो। तो सुकरात ने कहा कि मुझे जहर पीने से कोई भी तकलीफ नहीं है। क्यों नहीं है तकलीफ? डायलॉग है पूरा। तो उसने कहा कि मैंने अपने शिष्यों को सवाल करना सिखा दिया है और जो मुल्क सवाल करना सीख जाता है वह कभी नहीं मरता। तो मैं भी नही मरूँगा। तो अनुवाद की भाषा अगर इस ताकत के साथ सामने लायी जाती है तो हमें अपनी भाषा पराई लगती है। अनुवाद की भाषा में ऐसा अपनत्व और आत्मीयता भी हो।

एक मित्र ने अभी कहा था। हर्षे जी ने शायद कहा था कि भाषा शरीर है। बॉडी ऑफ द लैंग्वेज कहा जाता है, लैंग्वेज बॉडी कहा जाता है और बॉडी लैंग्वेज भी कहा जाता है। परन्तु भाषा एक शरीर है मान लो, तो फिर अनुवाद क्या है? अनुवाद उस शरीर में वह प्राण हैं। धड़कन के समान अनुवाद लगना चाहिए। या वह धड़कन के समान है। तो हम धड़कन सुन रहे हैं शरीर की, तो धड़कन के समान अनुवाद ही सार्थक अनुवाद है।

अभी चौबे जी ने एक अंश सनाया अनुवाद का। वह एक पोयटिक अनुवाद था। मैंने उनके वाल्टर बैंजामिन के अनुवाद से पाँच–छह पंक्तियाँ निकाली हैं। बिल्कुल पोयट्री की तरह ही लगती हैं। वाल्टर बैंजामिन तो बहुत बड़ा विचारक था और जो जर्मनी की दर्शन की परंपरा रही है, हीगल रहे हैं, नीत्शे रहे हैं, उनसे हटकर बैंजामिन ने जो हमारे आधुनिक समय का सोच डेवेलप किया था, वह पोयटिक सोच था। बैंजामिन कितना भी जटिल लिखें पर उनके दिमाग में कहीं ना कहीं एक तरह का पोयटिक सेंस था। राजेन्द्र ने भी बात की उस पोयटिक सेंसबिलिटी को कैसे एक्सप्रेस किया गया अनुवाद में। मुझे अच्छा लगा ये कुछ वाक्य। ये कुछ वाक्य मैं आपके सामने पेश करता हूँ। मास्को जा रहे हैं बैंजामिन और पोयट्री में देख रहे हैं–

'हर रास्ता नदियों की तरह, घरों पर पड़े नंबर त्रिकोणमिति के चिन्हों की तरह, ट्रिगनामेट्री की तरह चौराहे, तालाबों की तरह जिस कदम पर जमीन वा जमीन नाम से मशहूर सड़कें, एक कोने में लपेटे हुए जैसे कोई

घोड़े की लगाम मुट्ठी में बंद किये। शहर की बुनावट भ्रमों की क्रमिक उत्तेजना। शहर अपने ही खिलाफ चौकीदारी करता, अपने ही ऊपर खुद के मुखौटे चढ़ाता।'

ये कविता नहीं तो और क्या है? इस तरीके के अनुवाद जब इतने ल्यूसिड, इतने रिदमिक और इतने इम्पोर्ट करने वाले आपके पास आते हैं तो हमें लगता है कि अनुवाद भी रिक्रियेशन है। कहा जाता है कि अनुवाद रिक्रियेट करते हैं, रिलेट करते हैं और रिवाईव करते हैं। आप रिक्रियेट कर रहे हो एक रचना को। रिक्रियेट करने के दो मतलब हैं। एक तो पुर्नसृजन भी है, आपको आनंदित भी करते हैं और फिर रिलेट करते हैं। आप जीवन के साथ जुड़ते हैं, आप परिवेश के साथ जुड़ते हैं। वहाँ के मनुष्यों के साथ जुड़ते हैं, वहाँ की संस्कृति के साथ जुड़ते है, वहाँ की वनस्पति के साथ जुड़ते हैं और वहाँ की तमाम चीजों के साथ, एक साथ जुड़ जाते हैं और रिवाइव करते हैं आप।

आप जो कुछ खो चुके हैं, उसे पुनः स्मृति में लाकर खड़ा कर देते हैं अनुवाद। तो हम यदि वाल्मीकि रामायण पढ़ते हैं तो हम इसलिए नहीं पढ़ते हैं कि हम संस्कृति का अध्ययन कर रहे हैं, बल्कि हम वाल्मीकि को रिवाइव कर रहे हैं। उनके समय से अपने समय में। तो अनुवाद पिछले समय को अपने समय में रिवाइव करने का भी एक तरीका है। अपने समय से अपने को रिलेट करने का तरीका है और रिक्रियेट करने का तरीका तो है ही। ऐसे बहुत सारे इतिहास और आधुनिकता को लेकर बात कही गयी है। जैसे ओडेसस इलाईटस का अनुवाद। उन्होंने फ्रेडरिको गार्सिया लोरका के बारे में कहा है और उस अनुवाद में लिखा है। फ्रेडरिको गार्सिया लोरका भाषा और रिद्म का राइटर है, उनके नाटक हैं, उनका गद्य है। जिनके पास भाषा है और भाषा की लय है। भाषा में एक लय होती है। लयरहित भाषा है तो भाषा नहीं हो सकती। उस लय को ही पहचानना बहुत जरूरी है और लोरका में वो बात थी।

फ्रेड्रिक जेम्सन कहता है कि ये तो सब उत्पाद है साहित्य के, वो उत्तरआधुनिक आदमी हैं। उसने आधुनिकता का तो उपहास किया है। मैं ज्यादा नहीं बोलूँगा परन्तु टाफलर ने बहुत सारी बातें आधुनिकता के

उपहास के रूप में कही हैं। यह कहकर उसने उत्तरआधुनिकता का श्रीगणेश किया।

टाफलर ने 1960 में 'फ्यूचरशॉक' किताब लिखी थी, और इसमें उसने लिखा था कि ऐसा समय आने वाला है कि जब भाषा छोटी-सी हो जायेगी। एबीवियेशन में चलेगी। उसने कहा था कि लड़कियों और लड़कों के ड्रेस एक जैसे हो जायेंगे। जींस और टी-शर्ट कल्चर आ जायेगा। तो जींस और टी-शर्ट कल्चर आ गया। उसने कहा था कि मोटर सायकल्स इंटेलेक्चुअल्स पैदा हो जायेंगे। मोटर सायकल पर चलते-चलते बात करेंगे।

साहित्य की बात करेंगे, राजनीति की बात करेंगे। और अपने-अपने विषयों की बात करेंगे। सारी बात। उसने कहा कि शादी के जोड़े यूज एंड थ्रो वाले आ जायेंगे। पोर्टेबल्स आ जायेंगे। इस तरह शादी के जोड़े के कपड़े आ जायेंगे। वो भी आ गये। तो 1960 में लिखी बातें सन् 2000 में भी सही साबित हो रही हैं और आज भी आप उसी को देख रहे हैं। भले ही चौबे जी ने आप पर पाबंदी लगा रखी हो कि लड़कियाँ अलग ड्रेस पहनें, लड़के अलग, लेकिन टाफलर ने तो यह बात बहुत पहले कह दी थी, बहुत साल पहले। तो ऐसी बहुत सारी बाते हैं जो हम अनुवाद के जरिये ही जान सकते हैं। हम अपने कल्चर में सिमट करके के एक कछुये की तरह बने रहें, यह अच्छी बात नहीं है। हमें तो दूसरी भाषाओं का सम्मान करना भी आना चाहिए। हम अहंकार और तिरस्कार में नहीं जियें पर अपनी भाषा के अलंकार में तो जियें। हम क्यों कहें कि हम तर्पण कर रहें हैं अपनी भाषा का? हम क्यों नहीं कहते हैं कि हम अपनी भाषा का उत्सव मना रहे हैं। यदि हमारी भाषा सौ साल में इतनी सम्पन्न हो सकती है कि आज उसका साहित्य देश में पढ़ा जाने लगा है और साहित्यकार सम्मानित होने लगे हैं तो अँग्रेजी को तो छह सौ साल लगे थे बनने में। एंग्लो सेक्सन से निकलते-निकलते और कई प्रकार की अँग्रेजी से होते हुए। आज आप जो अँग्रेजी पढ़ रहे हैं, उसका छह सौ सालों का इतिहास है। जब छह सौ सालों में एक भाषा बनके खड़ी हुई है तो हिंदी ने सौ सालों में ये करिश्मा कर दिया।

सन् 1947 में हमारे पास डिक्शनरी में 90 शब्द थे। आज हमारे पास

750000 शब्द हैं। क्या यह कम है! हमें कुछ पाजीटिव होकर भी सोचना पड़ेगा अपनी भाषा के बारे में। अपनी भाषा की ताकत को पहचानना भी पड़ेगा। अपने अंदर के पौरुष को जगाना पड़ेगा अपनी भाषा के प्रति। हम अपनी भाषा के पौरुष को खोने नही दें। उसकी संस्कृति को मिटने नहीं दे और उसके लिए जद्दो-जहद करें।

हम अँग्रेजी को सीखें। अँग्रेजी में कोई बुराई नहीं है। अँग्रेजी सीख करके अँग्रेजों से लड़ाई लड़ी है अँग्रेजी मे। इसलिए यह भ्रांति नहीं पालनी चाहिए कि हमने सारी लड़ाई हिंदी के माध्यम से जीती या हमने अपनी प्रांतीय भाषाओं के माध्यम से जीती। हमने बहुत-सी बातें अँग्रेजी के माध्यम से भी सीखीं। हमे इस सच्चाई को भी स्वीकार करना चाहिए कि उन्होंने हमे बहुत सारी बातें दी हैं। उनकी देयता को भी हमको स्वीकार करना चाहिए और अनुवाद के माध्यम से हम अपने आपका बहुत ही विस्तार कर सकते हैं।

वैसे तो कहा जाता है कि अनुवाद इंटरप्रेटिव होते हैं। अब इंटरप्रेटेटिव अनुवाद के तो विरोध में खुद यूरोप हो गया है। सूजन कहती हैं, 'अगेंस्ट द इंटरप्रिटेशन'। इंटरप्रिटेशन नाम की चीज होती नहीं है, पाठ होता है। नरेश जी की कविता पढ़ें या संतोष जी की कविता पढें। तो संतोष की कविता का अर्थ अलग हो सकता है और आप पढ़े तो आपके लिए अलग हो सकता है। और एक अनुवादक पढ़ेगा तो अनुवादक और नये अर्थ निकाल लेगा। इसलिए कहा जाता है कि किसी शब्द का कोई भी सिनानिम्स नहीं होता है, कोई पयार्यवाची नहीं होता है। भूख का विकल्प भूख ही होती है। तो इसलिए हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जब हम अनुवाद करते हैं तो अनुवाद हम केवल भाषा का नहीं करते, भाषा के साथ जुड़े हुए विचार का करते हैं। उसके अंदर के संवेदन का करते हैं, उसके सौंदर्य का करते हैं, उसकी संस्कृति का करते हैं, उसके लोक चरित्र का करते हैं, तमाम चीजों का अनुवाद करते हैं। एक वाक्य में हम कोई ऐसी चीज ला देते हैं जो हमें सौंदर्य से अभिभूत कर दे। एक वाक्य ऐसा होता है कि जिससे हमारा संवेदन जागृत हो उठे, एक वाक्य ऐसा होता है जो हममें उत्तेजना पैदा कर दे और अनुवाद भी इन तमाम चीजों

को पैदा करता है कि हमें लगता है कि वह सार्थक अनुवाद है।

विज्ञान का अनुवाद सार्थक अनुवाद हो सकता है, साहित्य का अनुवाद संवेदनात्मक अनुवाद होता है, वो तो सौंदर्यात्मक अनुवाद होता है, तो सौंदर्य संवेदन और सार्थकता– इन तीनों को मिलाकर जब हम अनुवाद करते हैं तो अनुवाद एक सही अनुवाद होता है। अनुवाद की संस्कृति हमारे यहाँ पर पनपनी चाहिए।

राजेन्द्र ने अभी रशिया का अनुभव सुनाया। आसीफोन वहाँ पर बच्चों का साईंस के रोमांस का राइटर है। उसके विज्ञान के कौतूहल भरे नॉवेल्स है। क्रेटर्स इन द मून, हेवन इन द सी– ये सारे जो उनके अनुवाद हुए हैं। रशियन से जो अनुवाद हुए सारी दुनिया में फैल गये हैं। तो हमारे यहाँ पर ऐसा क्यों नहीं हुआ?

पंचतंत्र का अनुवाद तो छह सौ साल पहले सात सौ साल पहले ईरान में करवा लिया गया था। नौसेखान ने। आरती जी ने बताया था कि हमारे देश में भी हुआ। तो हमारे बहुत सारे ग्रंथों का अनुवाद हुआ। बोरखेस ने तो वाल्मीकि रामायण को अपने साहित्य में कोट किया है।

अनुवाद क्रॉस कल्चरल एलिमेंट्स को बढ़ावा देता है। अब अंतस्सांस्कृतिक संबंध बनाने के लिए अनुवाद बहुत ही आवश्यक तत्त्व है और यह अंतस्सांस्कृतिकता जब तक पैदा नहीं होगी, तब तक वसुधैव कुटुंबकम का नारा बेकार होगा। अंतस्सांस्कृतिक संबंधों के बाद ही हम युद्ध करना बंद करेंगे अभी तो सभ्यता का पयार्य युद्ध हो गया है।

हमने पत्थर का औजार खोजा था तो हम जंगली थे, असभ्य थे। हमने तीर कमान भाले खोज लिये, तो ज्यादा सभ्य हो गये। बंदूक खोज ली और भी सभ्य हो गये, बम खोज लिये तो और भी ज्यादा सभ्य हो गये और सभ्यता का सबसे बड़ा शक्तिमान रूप कोई है तो वह एटामिक एनर्जी है। यदि यह हमारे विध्वंस की संस्कृति हमने पैदा की है तो इस विध्वंस की संस्कृति को पराजित करना साहित्य का काम है और दुनिया में कहीं भी ऐसा साहित्य लिखा जाये उसे हिंदी में लाना और हिंदी के साथ भारतीय भाषाओं में लाना यह हमारे लिए सबसे बड़ा काम है। क्योंकि यहीं से बुद्धम् शरणम् गच्छामि गया है, यहीं से संघम् शरणम् गच्छामि गया है,

और यहीं से धम्मम् शरणम् गच्छामि गया है। यहीं से वसुधैव कुटुंबकम् गया है। तो यहीं से साहित्यम् शरणम् गच्छामि भी जाना चाहिए। और उसके लिए हमारे सारे सूत्र अपनाने चाहिए।

इन सबको समेटते हुए चौबे जी को बधाई देता हूँ। वो मुझसे बीस साल छोटे हैं उम्र में। यूँ तो बड़े हैं। मैं उम्र में बड़ा हूँ पर ज्ञान में चौबे जी मुझसे बड़े हैं। तो मैं उन्हें ज्ञान सार्थक मानता हूँ, अनुभव सार्थक मानता हूँ, श्रम सार्थक मानता हूँ, समाज सार्थक मानता हूँ और इस आयोजन को करने के पीछे उन्होंने जो श्रम किया है। ये श्रम उनका एक सबसे बड़ा काम है। इसके लिए उन्हें बधाई और आप सब इतनी देर तक बैठे और हमें सुना। बात तो बहुत है, मैंने बहुत सारा लिखा हुआ है, यदि बोलूँ तो मैं दो घंटे और भी बोल सकता हूँ, लेकिन वो दो घंटे बोलने के बाद ये हॉल खाली हो जायेगा और मैं अकेला ही बोलने वाला बचूँगा।

लोग गलत अर्थ मे लेते हैं। जिसे कहते हैं 'हिप हिप हुर्रे' यानी खुशियों का ढेर हम आपको देते हैं। तो चौबे जी के लिए नारा लगायेंगे– हिप हिप हुर्रे।

राजेन्द्र शर्मा

अध्यक्षीय वक्तव्य को इतना तो सार्थक होना ही चाहिए और वो था। अब मुझे यह सूचना दी गयी है कि आयोजन समिति की ओर से श्री महेन्द्र गगन, चौबे जी और वर्मा जी, सभी उपस्थित लोगों को स्मृति चिन्ह देंगे। एक आग्रह मेरा है कि जैसे तमाम सत्रों में ग्रुप फोटो हुआ था, ऐसा हो जाये ताकि सनद रहे, और वो वक्त पर काम आये।

श्री रामचंद्र मालवीय जी से भी आग्रह है कि वे आयें। आदरणीय नरेश जी और मनोहर वर्मा जी आप भी मंच पर आ जाइये। मुकेश वर्मा हमारे साथ ही तो हैं आप। बलराम जी आप भी मंच पर आ जाइये।

मुकेश वर्मा

मित्रो, मैं आपका बहुत समय नहीं लूँगा। मैं आपका आभार व्यक्त करने के लिए खड़ा हुआ हूँ। संतोष चौबे के जन्म-उत्सव के उपलक्ष्य में और

उस बहाने हम लोगों ने यहाँ जो साहित्य-पर्व का आयोजन किया है, उसमें आपकी सहभागिता के लिए बहुत-बहुत आभार। मित्रो, हम लोग यह चाहते हैं कि आप लोग केवल किताबी ज्ञान लेकर ना जायें। आप इसके साथ भारतीय परंपरा, अपनी संस्कृति और आपके सामने जो साहित्य है, उसकी भी आपको जानकारी रहे। ये आपके जीवन में बहुत बहुत काम आयेगी। मैं उम्मीद करता हूँ कि आपने जो यहाँ पर तीन दिनों में सीखा होगा, उस पर अमल करेंगे और अपने जीवन के रास्तों में इसको अपने काम में भी लायेंगे। अकसर हम इस तरह के कार्यक्रम आपके विश्वविद्यालय में करते रहेंगे, क्योंकि हम लोग नहीं चाहते हैं कि आप सिर्फ एक पढ़ाकू छात्र बनकर रहें। आप एक जीवंत नागरिक की तरह यहाँ रहें। आप देश-प्रदेश और संस्थान के गौरव को बढ़ायें।

इस सत्र में जिन्होंने भाग लिया भाई राजेन्द्र शर्मा जी, मैं उनका बहुत-बहुत आभार व्यक्त करता हूँ। वो एक बड़ी पत्रिका के संपादक हैं। 'वसुधा' का संपादन करते हैं और वरिष्ठ लेखक हैं। तो उन्होंने इस कार्यक्रम के संचालन का भार स्वीकार किया, इसके लिए मैं उनका बहुत-बहुत आभारी हूँ। पूरे साहित्य-पर्व की ओर से आभारी हूँ। रमेश दवे हमारे गुरु हैं, उनका मान-सम्मान करना हमारा कर्तव्य है। मैं उसी भाव से उनको प्रणाम करता हूँ और कृतज्ञता के साथ उनका आभार व्यक्त करता हूँ। मैं आरती जी का बहुत आभारी हूँ। वो भी अपने व्यस्त समय में से कुछ समय निकाल कर यहाँ आई हैं। वो भी एक बड़ी पत्रिका की संपादक हैं।

अजित हर्षे जी हमारे बहुत अच्छे मित्र हैं और बहुत अच्छे अनुवादक हैं और एक अच्छे लेखक भी हैं। जीतेन्द्र गुप्ता जी बहुत दूर से आये हुए हैं और हमारे अनुरोध पर आये हैं। उन्होंने बहुत खूबसूरत पर्चा यहाँ पर पढ़ा और इस सत्र की शोभा बढ़ाई। हम उनके बहुत ही आभारी हैं।

अरुणेश शुक्ल तो आप ही के हैं और आप ही के व्यक्ति को मैं आभार दूँ, ऐसा तो हो नहीं सकता। तो हम उनको धन्यवाद देकर ही काम चला सकते हैं। बाकी साथ मे हरि भटनागर जी भी हैं जो बहुत बड़ी पत्रिका के संपादक हैं और जाने-माने कथा लेखक हैं। बलराम जी हैं जो

एग्रीकल्चर इंस्टीट्यूट के डायरेक्टर रहे हैं और बहुत अच्छे कवि हैं। महेन्द्र गगन जी जो हमारे साथ हैं और जब-जब भी हमारे साथ दिक्कत आती है, वे हमारे साथ खड़े होते हैं। वे 'पहले पहल' प्रकाशन के प्रबंध संचालक हैं। आप सबकी ओर से मैं उनको शुभकामनाएँ भी देता हूँ। मेरे बड़े भाई मनोहर वर्मा जी जो हिंदी के प्रोफेसर रहे हैं और बड़े विद्वान हैं, मैंने जो कुछ भी सीखा है, उनके कारण ही सीख पाया हूँ। मैं उनका कृतज्ञता के साथ आभार व्यक्त करता हूँ और उन्हें प्रणाम करता हूँ।

मैं नरेश सक्सेना जी को प्रणाम करता हूँ। कविता के बारे मेरी ज्यादा दिलचस्पी नहीं रही लेकिन मेरी पसंद के जो एक-दो कवि हैं हिंदी साहित्य में, उनमें नरेश सक्सेना जी हैं जिनका संकलन मैंने खरीद करके पढ़ा और हमेशा यह लगता है कि नरेश जी जहाँ कहीं भी कविता सुनायें, मैं रह सकूँ।

मित्रो! आप लोगों ने बहुत साथ दिया, बहुत उत्साहपूर्वक और आनंद के साथ आप हम लोगों के साथ रहे। हम आपके साथ लगातार आते रहे आपके साथ जुड़ते रहेंगे। आप सभी का बहुत-बहुत आभार।

मित्रो, आप सबके लिए सूचना है कि आज शाम को इसी कक्ष में एक नाटक का शो है और नाटक का नाम है 'सुकरात' जिसे श्री संतोष चौबे जी ने अनूदित किया है और ये नाटक वैज्ञानिक और दार्शनिक सुकरात को आप जानते होंगे, उनके दर्शन संबंधी जो सिद्धांत थे, उसके आधार पर बनाया गया है। यह बड़ा दिलचस्प नाटक है। मेरा अनुरोध है कि आप इसको देखने आइयेगा, ताकि आपको जीवन दर्शन के बारे में बहुत कुछ गहरी जानकारी मिल सके। आप सभी भोजन पर आमंत्रित हैं। धन्यवाद।

6

परिशिष्ट

संतोष चौबे का साहित्य-कला-चिन्तन और आलोचना-विवेक

धनंजय वर्मा

संतोष चौबे ने अपनी नयी पुस्तक 'कला की संगत' में एक उल्लेखनीय बात कही है– ''व्यक्तिगत रूप से उपन्यास को लेकर मेरा पहला क्राइटेरिया है– उसका पठनीय होना।'' यह है तो एक सामान्य-सी बात, लेकिन विशेष रूप से उल्लेखनीय इसलिए है कि अब सामान्य-सी बातों पर लोगों का ध्यान अक्सर नहीं जाता। मैं तो कहूँगा कि उपन्यास ही क्यों, किसी भी रचना, किसी भी लेखन को अव्वल तो पठनीय होना ही चाहिए। हाँ, पठनीयता के भी स्तर होते हैं। मसलन आप रानू-शानू के उपन्यासों को जिस रौ में पढ़ जाते हैं, उसी में प्रेमचन्द को नहीं पढ़ सकते। प्रेमचन्द और रेणु को जिस आवेग में आप पढ़ते हैं, उसी में हजारी प्रसाद द्विवेदी को नहीं पढ़ सकते। और जिस 'मूड' या मानसिकता में आप उपन्यास पढ़ते हैं, उसी में दर्शन या विज्ञान को नहीं पढ़ सकते। बहरहाल, मैं संतोष चौबे को बधाई देता हूँ कि उनकी ये दोनों किताबें न सिर्फ पठनीय हैं, बल्कि विचारोत्तेजक भी हैं। पठनीय तो बहुत-सी किताबें होती और हो सकती हैं, लेकिन कितनी आपको अनुभव-समृद्ध और दृष्टि-सम्पन्न बनाती हैं?

सर सी.पी. स्नो ने बहुत पहले 'टू कान्चर्स' की बात की थी– एक कला की और दूसरी विज्ञान की। उनकी शिकायत थी कि कला की संस्कृति के लोग और यहाँ तक कि कलाकार भी विज्ञान की संस्कृति से महरूम होते हैं और विज्ञान में रुचि रखने वाले और वैज्ञानिक भी कला

से अनभिज्ञ होते हैं। संतोष चौबे ने भी इस ओर हमारा ध्यान खींचा है। एक और संस्कृति हमारे जमाने में खूब फली-फूली है– वाणिज्य की संस्कृति, बशर्ते उसे संस्कृति कहा जा सके। वाणिज्य के लोग विज्ञान और कला-संस्कृति से अछूते तो होते ही हैं, समकालीन परिदृश्य में कला और विज्ञान, दोनों क्षेत्रों में वाणिज्य ने दूर-दूर तक आधिपत्य जमा लिया है। संतोष चौबे की इन पुस्तकों में, शुक्र है कि, वाणिज्य की संस्कृति ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया है। उनके साहित्य-कला-चिन्तन और आलोचना-विवेक में जहाँ कला के मानवीय सरोकार स्पन्दित हैं, वहीं वे वैज्ञानिक सोच की वस्तुपरकता से भी समृद्ध हैं।

मैं शुरुआत करता हूँ 'कला की संगत' की भूमिका और 'आलोचना के काम' से। उन्होंने इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में आये परिवर्तनों की तेज गति का जिक्र किया है। मुझे याद आता है, बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ. कोठारी ने अपने एक व्याख्यान में 'ज्ञान के विस्फोट' की गति को सरल शब्दों में समझाते हुए कहा था कि पिछले एक-डेढ़ दशक में ज्ञान की जो वृद्धि होती है, वह दुनिया में अब तक हुई वृद्धि से दुगनी हो जाती है। लेकिन हम गौर करें इस 'भीषण' प्रगति ने सभ्यता का जितना विकास किया है, संस्कृति को निस्बतन उतना ही पीछे धकेला है। संतोष चौबे भी इससे चिंतित हैं– ''विज्ञान और तकनीक ने जहाँ मनुष्य को एक स्तर पर शक्तिशाली बनाया, वहीं दूसरी ओर साहित्य और कलाओं से उसकी बढ़ती दूरी ने उससे उन आधारों को छीन लिया जो जीवन में स्थिरता और खुशी प्रदान करते थे।'' मैं इसमें इतना और जोड़ना चाहूँगा कि साहित्य-कला और मानविकी का विकास, संस्कृति का लक्षण ही नहीं, कारक भी है जो सभ्यता और तकनीकी प्रगति की अंधी दौड़ में हमसे छूटता जा रहा है।

आलोचना पर संतोष चौबे की टिप्पणी पहली नजर में आलोचना-विरोधी लग सकती है, जब वे कहते हैं– ''हमारी आज की आलोचना पहले तो कोहरे इत्यादि की बात करती है, फिर व्यक्तिगत पर आ जाती है। कभी विद्वता के आतंक से नव रचनाकार को पद दलित करते हुए, कभी रचना परम्परा से उसे पूरी तरह दूर रखते हुए और कभी उसकी भाषा और

अस्मिता का अपमान करते हुए (जो उसे इसी देश और समाज से प्राप्त हुए हैं) वह एक ऐसे नकारात्मक की रचना करती है जहाँ से रचनात्मक आनन्द तिरोहित हो जाता है।''... यह एक निश्चित किस्म की आलोचना का विरोध तो है ही और जायज विरोध भी है, लेकिन इस किस्म की आलोचना को हम जेनुइन आलोचना ही कैसे कहें? संतोष चौबे ने साहित्य, विशेषकर कविता के सामने 'दृश्य से पूरी तरह घिर जाने', 'बाजारीकरण' और 'भाषा को अनावश्यक प्रभावों से बचाकर अधिक समृद्ध करने की' जिन तीन चुनौतियों का जिक्र किया है, उनसे उन्होंने आलोचना की जिम्मेदारियों, उसकी प्रकृति और प्रक्रिया का भी वाजिब संकेत किया है।

दोस्तो, मुझे लगता है आलोचना को लेकर हम लोगों के जेहन में कुछ अजब-सी गलतफहमियाँ घर कर गई हैं। अक्सर लोग उसे नुक्ताचीनी समझ लेते हैं, उसे गुण-दोष-कथन तक महदूद कर देते हैं। दरअसल आलोचना का मतलब ही देखना है, मैं उसे समग्रता में देखना कहता हूँ। वह रचना की सहयात्रा ही नहीं, उससे संवाद करती हुई उसकी अन्तर्यात्रा, उसके अन्तरतम में पैठना भी है। संतोष चौबे ने उसे उचित ही विचार-प्रक्रिया भी कहा है। वे कहते हैं– ''मेरी कोशिश है कि मैं रचनाकार के पास जाऊँ। देखूँ कि वह क्या रच रहा है। उसकी रचना-प्रक्रिया क्या है और कैसे वह उसका विस्तार कर सकता है। मैं 'बड़े' और 'छोटे' की बहस में नहीं हूँ क्योंकि जैसा मुक्तिबोध ने कहा कि हर व्यक्ति में हीरे के कण छुपे हैं और उन्हें पहचाना जा सकता है।''

'बड़े' और 'छोटे' की बहस से पहले, मैं एक जरूरी बात भी कह दूँ कि इधर आलोचना के प्रति असहिष्णुता बढ़ी है। वह चाहे विचारधारा के नाम पर हो या किसी गैर-साहित्यिक वजह से हो– हम असहमति का आदर नहीं करते, उसे सहन भी नहीं कर सकते। जो हमसे असहमत हैं, उसे हम अपना 'आलोचक' ही नहीं, 'विरोधी' और 'दुश्मन' भी समझते हैं और उससे व्यवहार भी उसी तरह करते हैं। राजनीति और समाज में ही नहीं, साहित्य में भी असहमति असह्य हो गयी है। यहाँ तक कि खुद आलोचक भी आलोचना के प्रति असहज और वैरभाव पाले होते हैं। 'बड़े' और 'छोटे' की बहस के सन्दर्भ में मुझे दो प्रसंग याद आ रहे हैं– एक

मेरा पहला इन्टरव्यू, लेक्चरर का, लोक-सेवा आयोग में। मुझसे सवाल किया गया– 'निराला और प्रसाद में बड़ा कवि कौन है?' मैंने भरसक विनम्रता से जवाब दिया था– 'साहित्य में हमें इस तरह तो नहीं पढ़ाया गया। एम.ए. पूर्वार्द्ध में मैंने प्रसाद के समग्र साहित्य का अध्ययन किया है और उत्तरार्द्ध में निराला के समग्र काव्य पर मेरी यह थीसिस है।' अध्यक्ष महोदय ने शाबासी दी थी। और याद आता है– राजेश जोशी एक पत्रिका निकालते थे– 'इसलिए', कमला प्रसाद के साथ। हम लोगों ने तय किया कि 'दूसरा सप्तक' के वरिष्ठ कवि हरिनारायण व्यास पर केन्द्रित उसका एक विशेषांक निकाला जाए। उस वक्त मैं संस्कृति विभाग में ओ. एस.डी. था और दादा व्यास 'भारत भवन' के 'वागर्थ' में निदेशक। संस्कृति सचिव कवि आलोचक अशोक वाजपेयी अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'फिलहाल' में व्यास जी पर एक टिप्पणी लिख चुके थे। कमला प्रसाद ने मुझसे कहा– तुम अशोक जी से भी लिखने के लिए कहो। मैंने उनसे निवेदन किया। आपको सुनकर हैरानी होगी; मुझे तो हुई थी। उन्होंने कहा- Do you think Hari Narayan Vyas is such a major poet? मैं चौंका। मैंने भी भरसक विनम्रता से जवाब दिया- Nobody has authorised me to pronounce such a judgement!... हम लोगों को पहले ही समझ लेना चाहिए था कि एक आई.ए.एस. अफसर अपने मातहत पर कोई लेख कैसे लिख सकता है! अजब एक तमाशा हमारे यहाँ चला हुआ है– मसलन अज्ञेय बड़े या मुक्तिबोध? नरेश मेहता ने एक बातचीत में अच्छी बात कही थी– दरअसल यह अज्ञेय के भक्तों और मुक्तिबोध के भक्तों के बीच का झगड़ा है? बहरहाल...

एक खासी महत्त्वपूर्ण बात संतोष चौबे ने कही है– ''मुझे लगता है कि कविता संगीत के पास जाती है और संगीत कविता के पास! कहानी नाटक के पास जाती है और नाटक कहानी के पास। कविता कहानी के पास भी जा सकती है और कहानी चित्रकला से भी प्रभाव ग्रहण कर सकती है। विधाओं के बीच ये आवाजाही मुझे बहुत आकर्षित करती है और एक हद तक आवश्यक भी लगती है।'' ...दरअसल यह विधाओं के बीच आवाजाही-भर नहीं है, विधाओं बल्कि कलाओं के बीच अन्तर्निर्भरता

भी है। उत्तर-आधुनिक विमर्श में इस अन्तर्निर्भरता का बड़ा शोर है। इस अन्तर्निर्भरता की अवधारणा भी मूल रूप से पश्चिम या यूरोप से नहीं, बल्कि भारत से आई है। मैंने अभी-अभी राजीव मल्होत्रा की एक पुस्तक पढ़ी है– इन्द्राज नेट। उसके इस एक उद्धरण पर गौर करें : Originating in Atharva Ved, the concept of Indira's net is a powerful metaphor for inter-connectedness. According to this metaphor nothing ultimately exists seperately by itself and all boundaries can be deconstructed. (क्या आपको डेरिडा के विसंरचनावाद की याद आई?) Indira's net symbolises the universe as a web of connections and interdependence among all its members where in every member is both manifestation of the whole and inseperable from the whole. The net is said to be infinite and to spread in all directions with no begining or end. At each nod of the net is a jewel so arranged that every jewel reflects all other jewels. No jewel exists by itself independently of the rest. Eeverything is related to everything else, nothing is isolated."

आप गौर करें, यहाँ विधाएँ ही नहीं पूरा मानव संसार, यह प्रकृति, पूरा ब्रह्माण्ड ही अन्तस्संबद्ध और अन्तर्निर्भर है। इसी अन्तर्निर्भरता और अन्तर्जीविता को एक-दूसरे रूपक– जंगल अरण्य से भी समझाया गया है। जंगल में भी वनस्पति-पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं तथा प्राणि जगत के बीच भी यही अन्तर्निर्भरता, पारस्परिकता, अन्तस्संबद्धता, अन्तर्जीविता और अन्योन्याश्रयिता है।

भारतीय काव्यशास्त्र और पश्चिमी काव्यशास्त्र को भी देखें तो हमारे यहाँ काव्य में सिर्फ कविता नहीं है– यहाँ श्रव्य-काव्य है तो दृश्य-काव्य भी है। यहाँ तो ब्रह्मा भी कवि है जिसकी रचना है– यह संसार-सृष्टि! यहाँ विभाजन नहीं है– समग्र है। वे कहते हैं कि सारी कलाएँ एक ही हैं– एक ही 'विल टू फार्म', 'विल टू क्रिएट' की अभिव्यक्तियाँ हैं। अभिव्यक्ति के प्रकार अलग-अलग हो सकते हैं। उनका वर्गीकरण हम अपनी सुविधा के लिए करते हैं। अपने-अपने माध्यम की वजह से वे अलग दिखती हैं, लेकिन हैं वे एक ही सृजन-इच्छा– सिसृक्षा के परिणाम!

कहानी की बात करते हुए संतोष चौबे ने पूछा है– "कथा-आलोचक?

वे कहाँ हैं?'' मैं जवाब देना चाहता हूँ कि वे सन् 1950 से ही परिदृश्य पर मौजूद हैं। 'सरस्वती' के संपादक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने परसाई के कहानी-संग्रह की आलोचना लिखी है। दरअसल उन्होंने ही कहानी और उपन्यास की आलोचना शुरू की। उनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है- 'कथाचक्र'। उसमें देवकीनंदन खत्री से लेकर धर्मवीर भारती के उपन्यासों तक का विश्लेषण किया गया है। हमारे जमाने यानी बीसवीं सदी के छठवें दशक में 'नयी कहानी' की आलोचना में डॉ. नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी थे। खाकसार ने भी तभी कथा-आलोचना लिखी थी और मेरी कथा-आलोचना की तीन-तीन किताबें हैं। फिर सुरेन्द्र चौधरी हैं, विजयमोहन सिंह हैं। नये-नये कथा आलोचक भी आ रहे हैं।

एक बहुत अच्छी बात संतोष चौबे ने कही है जिस पर हमें गौर करना चाहिए- ''मुझे नये की परिकल्पना करते समय सातत्य अच्छा लगता है। प्रख्यात वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंग की किताब का नाम ही है- 'ऑन द शोल्डर्स ऑफ जायन्ट्स'। अपने पूर्वज महारथियों के कंधों पर खड़े होकर ही अगली पीढ़ी दूर तक देख पाती है।'' इस सातत्य में परम्पराबोध चेतना तो है ही परिवर्तन की, नये की आकांक्षा और उत्कंठा भी है। 'नये' के उत्साह में परम्परा या तात्कालिक परम्परा के नकार का अतिरेक मैं देख चुका हूँ। 'नयी कहानी' आन्दोलन की शुरुआत में पीढ़ियों के द्वन्द्व और संघर्ष का बड़ा चर्चा था। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और जैनेन्द्र वगैरह 'नयी कहानी' को दुकानदारी कह रहे थे और राजेन्द्र यादव ऊर्ध्वबाहु घोषणा कर रहे थे कि 'हमारी कोई तात्कालिक परम्परा ही नहीं थी जिसका हम विकास करते थे'। इस विवाद का सबसे सुन्दर और सार्थक समाधान यशपाल जी ने किया था। दिल्ली के चेम्सफोर्ड क्लब में कमलेश्वर की पहल पर नये कहानीकारों द्वारा अपने अभिनन्दन के मौके पर यशपाल जी ने कहा था- 'नयी पीढ़ी हमसे आगे तो है ही। इसलिए कि वह हमारे बाद आई है और वो हमसे ऊँची भी है क्योंकि वो हमारे कंधों पर बैठी है।' हॉकिंग के रूपक 'ऑन द शोल्डर्स आफ जायन्ट्स' की अन्तर्ध्वनि भी तो यही है। दोनों रूपकों में नयी और पुरानी पीढ़ी, परम्परा और आधुनिकता के अन्तस्सम्बन्ध, अन्तर्निभरता और पारस्परिकता तथा सातत्य के ऐसे सूत्र

पिन्हाँ हैं जो नये और पुराने दोनों को एक सार्थक सकारात्मक संदेश देते हैं।

संतोष चौबे ने यहीं एक महत्त्वपूर्ण सवाल का जवाब भी दिया है। सवाल है– 'कहानी में नयेपन का अर्थ क्या है?' इस प्रश्न पर मुझे 1955–60 के बीच चली चर्चा की याद आ गयी कि 'नयी कहानी' में नया क्या है? 'कल्पना' के जनवरी 1955 के अंक में दुष्यन्त, डॉ. नामवर सिंह ने 'कहानी' के नववर्षांक 1958 में और 1958 में ही मैंने 'नई धारा' में 'नया क्या है' पर लिखा था। इसीलिए संतोष चौबे का जवाब मुझे बहुत मौजूँ लगता है जब वे कहते हैं– ''उसे तभी नया समझा जाएगा जब वो हमारे समय तथा समाज को समझने में हमारी मददगार होगी और उसके लिए कुछ नयी वैचारिकता की जरूरत होगी'' और ''समाज से जुड़ाव ही कला में नवीनता पैदा करता है।'' यह सिर्फ कहानी ही नहीं, किसी भी विधा की नयी रचना के साथ भी लागू हो सकता है, बल्कि होना चाहिए। मैं कह चुका हूँ कि समय को अभिव्यक्त करने वाली रचना समय में कैद नहीं होती और देशकालातीत होकर ही कोई रचना देश–कालजयी होती है।

प्रेम के संदर्भ में कथालेखन की चुनौतियों के प्रसंग में संतोष चौबे के विचार–विमर्श से मुझे लगा कि कैसे कुछ मुद्दे बार–बार चर्चा में आते हैं। मुझे बेसाख्ता कमलेश्वर द्वारा सम्पादित 'नई कहानियाँ' का प्रेमकथा विशेषांक और उसमें श्रीकान्त वर्मा का प्रेम–दर्शन याद आ गया। उस पर आमंत्रित टिप्पणी से श्रीकान्त वर्मा पर जो प्रतिक्रिया हुई और उसका जो खामियाजा मैंने भुगता, वह भी याद आ गया। बहरहाल। 'कहानी में प्रेम' के प्रसंग में ''बलात्कार के बाद स्त्री–मानसिकता में परिवर्तन की अभिव्यक्ति, उसकी प्रतिक्रिया और संत्रास इधर की कहानियों के विषय रहे हैं'' से मुझे मोराविया की कहानी पर डिसिका की फिल्म 'टू वीमेन' का वह दृश्य याद आ गया जिसमें माँ–बेटी एक गिरजे में शरण लेती हैं और वहाँ सिपाही बेटी का रेप कर डालते हैं और वह अकेली घटना पन्द्रह–सोलह साल की किशोरी को रात–ही–रात में आमूल बदलकर रख देती है। उनके आपसी रिश्ते बदल जाते हैं और वे अब माँ–बेटी नहीं, केवल दो औरतें रह जाती हैं। इसी प्रसंग में कृष्णा सोबती की 'सूरजमुखी

अँधेरे के' की स्त्री की भी याद की जा सकती है। संतोष चौबे का यह निष्कर्ष काबिले गौर है– "मूल चुनौती प्रेम को मुक्ति के एहसास की तरह जीने और उसे कथा में वैसे ही प्रदर्शित करने की है।''... यह चुनौती ही नहीं, कसौटी भी होनी चाहिए किसी भी प्रेमकथा की।

'कहानी और रंगमंच' में संतोष चौबे ने अपने पिता, कथाकार शिक्षाविद् तथा विचारक जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' जी को याद किया है– ''मैं कहानी में सब बातें छोड़ने को तैयार हूँ पर उसमें 'इन्टेंसिटी' और 'ड्रामेटिक एलीमेन्ट' का होना बहुत लाजिमी समझता हूँ। शायद ये दो चीजें ही कहानी की टेकनीक की जान हैं।'' इस प्रसंग में संतोष चौबे ने 'दो तरह के स्कूल्स' का जिक्र किया है– एक, कहानी के पाठ को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी नाटकीयता को उभारना और दूसरा, कहानी का नाट्य-रूपान्तर। एक तीसरा रूप भी मराठी में मौजूद है– 'कथा-कथन', जिसमे अपनी नयी-से-नयी कहानी हजारों दर्शकों की मौजूदगी में पढ़ता नहीं, प्रस्तुत (बल्कि परफार्म) करता है। वैसे भी हमारे यहाँ कहानी वाचिक परम्परा की विधा रही है। वह पढ़ने से अधिक कहने-सुनाने की कला है। कहने से ही तो कहानी बनी है, जिसे हिन्दी में साहित्य की स्वायत्तता के संरक्षकों ने उसे पढ़ने तक ही सीमित कर दिया और पढ़ना भी कैसा? 'तू मेरी पढ़, मैं तेरी पढ़ूँ।' बहरहाल, संतोष चौबे का निष्कर्ष– 'कहानी का रंगमंच शब्द के द्वारा पैदा किया गया दृश्य-विधान है' कहानी के साथ रंगमंच की भी गहरी समझ का प्रमाण है।

'कहानी में दृश्य' पर विचार, विधाओं के स्वीकृत रूढ़ ढाँचों को तोड़कर उनमें परस्पर लेन-देन की स्वीकृति है। यह सच है कि माध्यम के बदलाव के कारण विधाओं की कुछ पूर्व शर्तें भी तय हो जाती हैं लेकिन कलाकार को आजादी होनी चाहिए कि वह नये-नये प्रयोगों के जरिए किसी विधा की नई सम्भावनाओं की खोज भी करे। 'प्रेमचन्द का दृश्य विधान' सम्बन्धी अपने आलेख में मैंने इसी खोज की बात की थी।

उपन्यास में 'सचेत पर्यवेक्षण की अहमियत' को रेखांकित करती टिप्पणी 'किसकी जमीन' शिल्प की चेतना की भी अपेक्षा रखती है। कथाकार का पर्यवेक्षण महत्त्वपूर्ण तो है ही, हेमिंग्वे के अनुसार पर्यवेक्षण

का कोण और उसकी समग्रता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि गलत पर्यवेक्षण सच्चाई को भी नजरन्दाज कर सकता है। 'एक टुकड़ा यथार्थ' के प्रसंग में यही कहा जा सकता है कि यथार्थ स्थिर और स्थैतिक-भर नहीं होता, वह लगभग हमेशा ही 'होने' की प्रक्रिया में बदलता रहता है। 'कहानी कहाँ है' एक बहुत बुनियादी बात को रेखांकित करती है कि ''कहानी पढ़ने के साथ-साथ कहने-सुनने की भी चीज है, इसलिए नवीन सागर का यह प्रश्न कथाकारों को याद रखना चाहिए– पार्टनर, यह बहुत सारा गद्य है पर इसमें कहानी कहाँ है?'' यही प्रश्न मैं कई समकालीन कवियों और उनकी कविताओं से भी पूछ सकता हूँ कि बन्धु, इतने सारे गद्य में आपकी कविता कहाँ है? शशांक की कहानी 'चेखव को भूल जाना' और स्वयं संतोष चौबे की कहानी 'मगर शेक्सपियर को याद रखना' को महज शीर्षक के साथ ही समानान्तर रख दिया जाय तो एक खासी मानीखेज बात निकल कर आ जाती है।

'नई सदी में उपन्यास' पढ़ते हुए मुझे अनायास अपना बरसों पुराना– 'पूर्वग्रह' में छपा लम्बा लेख 'उपन्यास के सूरते हाल' याद आ गया; इसलिए कि उसके केन्द्र भी संतोष चौबे की यही चिन्ता है कि 'क्या नई सदी में उपन्यास की किसी नई जमीन की पहचान बनती है?'... यह पूरा विचार-विमर्श और उसके अंत में संतोष चौबे की कविता 'दूसरा उपन्यास' उपन्यास की रचना-प्रक्रिया उजागर करती है। निर्मल वर्मा के शब्दों में रचना-प्रक्रिया की 'डार्क एण्ड डीप' दुनिया के कई रहस्यों को 'डी-मिस्टीफाई' करती है। यह विमर्श उपन्यास (और कहानी के भी) समकालीन परिदृश्य को उसकी विविधता और मुमकिन समग्रता में देखने-दिखाने की ईमानदार कोशिश है। इसके कई निष्कर्षों में व्यावहारिक सामान्यीकरण है जिन्हें लापरवाह निगाहें सरलीकरण भी कह सकती हैं। प्रसंगवश मैं यहाँ 'अस्मिता की तलाश' पर एक बात कहना चाहता हूँ। राजेन्द्र यादव ने उपन्यास के सन्दर्भ में 'अस्मिता की तलाश' की है और आलोचक प्रवर डॉ. नामवर सिंह ने मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अँधेरे में' को 'अस्मिता की खोज' कहा है। मैं अपनी पुस्तक 'परम अभिव्यक्ति की खोज' (मुक्तिबोध के काव्य का पुनर्मूल्यांकन, 2004) में इस पर विस्तार

से विचार कर चुका हूँ। यहाँ संक्षेप में सिर्फ इतना ही कि मुक्तिबोध की अस्मिता का कहीं लोप नहीं हुआ था कि वे उसकी खोज करते। उनकी अस्मिता सर्वहारा से समरस थी। राजेन्द्र यादव का 'अस्मिता का संकट' दरअसल 'अस्मिता की राजनीति' का संकट है जो अंतत: साम्प्रदायिक हिंसा में अपने चरम पर होता है। राजेन्द्र यादव की 'अस्मिता की तलाश' कहीं 'अस्मत की तलाश' तो नहीं है!

इस पुस्तक में 'कविता और संगीत' पर मुझे हिन्दी में पहली बार इतनी गम्भीर और सार्थक बातें पढ़ने को मिलीं। दरअसल कविता और गद्य में फर्क ही क्या है? बुनियादी फर्क है– इसी संगीत का। हालाँकि गद्य की भी अपनी एक लय होती है मसलन महादेवी वर्मा का गद्य, या माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' का गद्य; यहाँ तक कि हरिशंकर परसाई का गद्य– इन सबकी अपनी अपनी लय है। यह लय आती है शब्द-विन्यास से और इस विन्यास में ही एक संगीत अन्तर्निहित होता है। अँग्रेजी में आधुनिकता के पुरोधा टी.एस. एलीयट ने ही तो कहा था कि 'कविता में संगीत उसके शब्दों में अन्तर्निहित होता है' (MUSIC IS INHERENT IN WORDS.) और कॉलिरिज तो कह ही चुके हैं कि 'सर्वोत्तम क्रम-विन्यास में सर्वोत्तम शब्द ही कविता है' (BEST WORDS IN BEST ORDER) लय की अनिवार्यता बल्कि अपरिहार्यता को नई कवितावादियों तक ने स्वीकार किया था। 'नयी कविता के प्रतिमान' में डॉ. जगदीश गुप्त ने लय को शब्द से हटाकर अर्थ से जोड़ दिया और 'अर्थलय' का शिगूफा चला दिया। संतोष चौबे द्वारा भजन और गरबा के जिक्र से मुझे अपने बचपन में सुने वैदक ऋचाओं के सस्वर पाठ और उसके उदात्त-अनुदात्त और स्वरित संगीत की याद आ गयी। उधर तकनीकी प्रगति का फायदा उठाकर भजन-गायन और गरबा को, गणेश-उत्सवों की धुन पर कानफोड़ू शोर से बजाया जाता है, वह उनके व्यावसायीकरण की विकृति है। 'कविता में जीवन-दृष्टि' हमारे समय के एक बहुत महत्त्वपूर्ण और संवेदनशील मुद्दे पर बहस का आमंत्रण है। इसके केन्द्र में है 'अशोक वाजपेयी की कविता-आलोचना की केन्द्रीय शब्द-स्वायत्तता'। पहले मैं शब्द-स्वायत्तता पर ही विचार करना चाहूँगा। दरअसल अशोक वाजपेयी मूलत: अज्ञेय की

उस परम्परा के कवि–आलोचक हैं जिन्होंने पश्चिम– विशेषत: अँग्रेजी–कविता और काव्य विमर्श का अनुवाद– भावानुवाद करके मौलिकता का छद्म रचना चाहा और चूँकि हिन्दी के अधिकांश कवि–लेखक–आलोचक अपनी राष्ट्रभाषा के दर्प में चूर अँग्रेजी से अनभिज्ञ होते हैं; उन पर उनका आतंक भी खूब चलता रहा। गौर करें तो हर भाषा के अवधारणात्मक शब्दों के अपने बोध और संदर्भ होते हैं। उनके पीछे उनकी संस्कृति और दर्शन भी सक्रिय होते हैं, इसलिए जब उनका अनुवाद किया जाता है तब कई बार वह न केवल नाकाफी, बल्कि कई बार भ्रामक भी होता है। FREEDOM का मतलब है personal liberty या independence उसमें किसी भी शासन से मुक्ति का भाव है जबकि स्वतंत्रता का अर्थ है– 'स्व' की 'तंत्रता'– आत्मानुशासन! Identity का अर्थ है- absolute sameness, individuality, personality, condition of being a specified person लेकिन उसके लिए हिन्दी में प्रचलित है– अस्मिता जो हमारे यहाँ एक मानसिक विकार है, वह पाँच क्लेशों (अभिनिवेश, अविद्या, द्वेष, राग) में से एक है। अधिक से अधिक वह व्यक्तित्व, वैयक्तिकता या पहचान है। इसी तरह AUTONOMY जिसका अर्थ है personal freedom या freedom of will या Right of self Government लेकिन उसके लिए प्रचलित स्वायत्तता में 'स्व' का 'आयत्रीकरण' है। यह लगभग स्व–आत्मीकरण है, जिसका उल्लेख मुक्तिबोध ने 'पर' के स्व–आत्मीकरण और 'स्व' के पर–आत्मीकरण की प्रक्रिया में किया है। स्वायत्तता में 'स्व' मूल है और वह इतना 'ऑटोनॉमस' नहीं है जितना कि कलावादी समझते हैं। 'स्व' की प्रकृति और प्रक्रिया, उसके निर्माण और रूपायन में समाज, परिवेश और आर्थिक परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका होती है। बकौल संतोष चौबे "स्वायत्त होने का अर्थ वैचारिकता से मुक्ति नहीं, बल्कि वैचारिकता की हद का इतना विस्तार करना है कि वह बहुलता का सम्मान कर सके और स्वयं की वैचारिक गरिमा का भी।" स्वायत्तता की राजनीति और विचारधारा का भी चौबे जी ने कितना स्पष्ट विवेचन किया है। वे कहते हैं– "कविता और साहित्य की स्वायत्तता के संदर्भ में सबसे बड़ी बाधा विचारधारा को माना जाता है। उसमें भी सबसे बड़ा विरोध मार्क्सवादी विचारधारा प्रस्तुत

करती है। पर क्या साहित्य में प्रचलित विचारधाराओं में मार्क्सवादी ही एक विचारधारा है? क्या मार्क्सवदी होने या न होने से ही कोई व्यक्ति या रचना विचारधारा से प्रभावित या उससे मुक्त माने जा सकते हैं?'' सच तो यह है कि स्वायत्तता की अवधारणा भी 'कल्चर फॉर फ्रीडम' की उसी विचारधारा का हिस्सा है जो धुर मार्क्सवादी विरोधी है। फिर अन्तर्निर्भरता और स्वायत्तता की बात कोई एक साथ कैसे कर सकता है? बकौल राजीव मल्होत्रा The basic principle is that each individual is both the cause for the whole and is caused by the whole.

प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्त पर मेरा कहना है कि जैसे 'THE TRUTH, THE GOOD, THE BEAUTY' का अनुवाद हमने 'सत्यंशिवसुन्दरं' ऐसे कर लिया है जैसे वह हमारा ही 'वेदोक्त' सूक्त हो, उसी तरह Survival of the fittest का अनुवाद हमने 'योग्यतमावशेष' कर लिया और 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के रास्ते चल पड़े। यहाँ तक कि निराला ने भी कहा 'योग्यतम ही जीता है। पश्चिम की उक्ति नहीं / गीता है, गीता है।' निराला तो प्रभावित प्रेरित थे विवेकानन्द से, जिन्होंने पतंजलि पर व्याख्यान दिए थे। पतंजलि का कहना है– 'प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा प्रकृति में कहीं नहीं है'। क्या गेंदा गुलाब से प्रतियोगिता कर रहा है? बबूल क्या आम से प्रतिस्पर्धा कर रहा है? सब अपनी-अपनी प्रकृति और 'स्व-भाव' से विकास कर रहे हैं। संघर्ष ही जीवन का सत्य नहीं है। भारतीय दर्शन में तो लीला भाव भी है। यह जीवन भी तो एक लीला है। इसे हमने अपनी अधीरता में प्रतिस्पर्धी बना दिया है।

'कविता में सच' के प्रसंग में मैं कहना चाहूँगा कि एक गोचर सत्य है, दूसरा अनुभूत सत्य, एक वास्तविक सत्य है, दूसरा प्रतिभासित सत्य। अनुभूत और प्रतिभासित सत्य ही कविता (रचना) के सत्य में रूपान्तरित होता है और काव्य-सत्य कई बार वास्तविक सत्य को भी अतिक्रान्त कर जाता है।

'कविता में विचार और रस' के प्रसंग में मुझे थोड़ा अचरज हुआ कि संतोष चौबे सरीखे आधुनिक कवि लेखक ने रस की बात की वर्ना तो रस को लोगों ने गये-गुजरे पुरातनपंथी विमर्श को सौंप दिया है। सच तो यह

है कि रस का मतलब ही कवि और कविता से, रचना और रचनाकार से तादात्म्य है। रचना में तल्लीन होने का मतलब ही रस है। संतोष चौबे तो महेन्द्र गगन की कविता में विचार और रस की एक साथ मौजूदगी देखते हैं। मैं समझता हूँ कि टी.एस. एलियट ने जब कविता को 'विचार का भावात्मक पर्याय' (Emotional equivalent of thought) कहा था तो उसने विचार और रस की सम्पृक्ति को ही उद्घाटित किया था। संतोष चौबे कहते हैं– ''जितने गहरे आप जाएँगे उतने ऊँचे आप पहुँचेंगे, यह मूलतः ओशो का विचार है।''... मुझे बिहारी का एक दोहा याद आ गया– ''नर की अरु नलनीर की, गति एकै करि जोय। जेतो नीचो ग्है चलै, ते तो ऊँचो होय।।''

दरअसल ओशो में अनेक बार जतु कृष्णमूर्ति गूँजते हैं और कृष्णमूर्ति में बुद्ध। और जहाँ तक Innocence की बात है तो बोरिस तामशेव्स्की कहते हैं– "To read one must be innocent, must catch the signs, the author gives." फिराक गोरखपुरी इस Innocence को 'दिल की पाकीजगी' कहते थे। यह रचना में गहरे उतरने की जरूरी शर्त है।

मुझे यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि संतोष चौबे संगीत के भी उतने ही अच्छे जानकार हैं। उन्होंने संगीत के प्रभाव का जो वर्णन किया है, वह तो अद्भुत है और पाठकों की सुविधा के लिए मैं इस लम्बे उद्धरण को पेश करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। ''संगीत, विशेषकर आध्यात्मिक संगीत, विचार की तरह हृदय में प्रवेश नहीं करता, वह एक समग्र अनुभव की तरह आपको अपने में समो लेना चाहता है। उत्तर भारतीय परंपरा में ध्रुपद और होली संगीत और दक्षिण भारतीय परंपरा में भक्ति संगीत आपको रससिक्त कर मन को निर्मल और मस्तिष्क को प्रकाशित कर देते हैं, जहाँ निस्संगता और पूरी धरती के लिए प्रेम एक साथ आपके मन में उपजते हैं और बची रह जाती है सिर्फ एक अनुगूँज, जो ब्रह्माण्ड के साथ एकात्म का अनुभव कराती है। अच्छा संगीत आपको उड़ सकने की हद तक हल्का करता है और पवित्रता की हद तक उज्जवल बनाता है।''... या ''अगर आपके कान रागों को पहचानने के अभ्यस्त हैं तो आप इन होलियों में काफी, झिंझोटी और बिहाग जैसे कई

राग पहचान लेंगे।'' दरअसल संगीत की अपील है ही सार्वजनीन– यूनीवर्सल। मैंने कभी एक किताब पढ़ी थी– 'पेन्टर्स आई!' उसमें लेखक ने एक सवाल किया था– चित्रों को कैसे देखा जाय? और उसका जवाब था– 'अपना मुँह बन्द रखो और आँखें खोलो।' इसी तर्ज पर मैं 'संगीत, खासकर शास्त्रीय संगीत कैसे सुना जाय' का जवाब देना चाहूँगा– 'अपना मुँह और आँखें बन्द करो और कान खोलो'। जैसे गणित सर्वोच्च विज्ञान कहा गया है कि हर विज्ञान अपनी चरम-अवस्था पर गणित में शरण लेता है, उसी तरह संगीत सर्वोच्च कला कही गयी है– क्योंकि उसका माध्यम सूक्ष्मतम और आत्यन्तिक अमूर्तन है। उसका आनन्द उठाने के लिए उसकी भाषा-व्याकरण जानने की जरूरत नहीं है, बस 'तानसेन' का आनन्द लेने के लिए 'कानसेन' होना-भर जरूरी है।

संतोष चौबे की यह बात भी रेखांकित करने योग्य है कि 'जब हम कविता लिखने बैठते हैं तब हम कवि होते हैं, आलोचक नहीं। हम सोचते हैं कि हम जो कुछ भी कहना चाहते हैं, वह सब कविता में आ जाए। बहुत सलाहियत के बाद ही से समझ में आता है कि धीमे-धीमे कम कहना ही ज्यादा बेहतर है और बहुत लाउड होने की जरूरत नहीं। तब कविता कहाँ खत्म हुई, उस स्थान को पहचानना हमें आ जाता है। कई बार तो दूसरा आदमी या पाठक ही उसे पहचान पाता है।' मैं इसमें इतना और जोड़ना चाहता हूँ कि कवि को, कविता लिखते हुए न सही, कविता लिखने के बाद, अपना ही 'दूसरा आदमी' या 'पाठक' और इसीलिए आलोचक भी जरूर होना चाहिए, तभी वह 'सलाहियत' मिल सकती है जिसका जिक्र चौबे जी ने किया है। इसीलिए कहा जाता है कि जब तक रचनाकार अपनी रचना का खुद अच्छा पाठक नहीं हो जाता, वह अपना अच्छा पाठक नहीं बना पाता और श्रेष्ठ रचनाकार वही है जो यह तो जानता है कि क्या लिखना चाहिए, इससे भी ज्यादा वह यह भी जानता है कि क्या नहीं लिखना चाहिए।

हम बच्चों के लिए क्यों नहीं लिखते?... एक बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर एक बहुत जरूरी विमर्श है। दरअसल हमने यह एक बेहद जरूरी और आत्यन्तिक महान का इलाका दोयम और तीसरी श्रेणी के कवि-लेखकों

के लिए छोड़ दिया है। मुझे एक दिलचस्प प्रसंग याद आ रहा है। 'सारिका' के दफ्तर में उस दिन कमलेश्वर के साथ कृशनचन्दर बैठे थे। 'पराग' के सम्पादक कन्हैयालाल नन्दन भी आ गये। आते ही उन्होंने चन्दर साहब से शिकायतन कहा– 'आपने अभी तक हमें अपनी कोई रचना नहीं दी।' चन्दर साहब बोले– 'देखो जी, मैं तो उर्दू में लिखता हूँ और आपकी पत्रिका तो हिन्दी में निकलती है।'... नन्दन ने कहा– 'आप उर्दू में ही दे दीजिए, हम उसका हिन्दी में लिप्यन्तरण करवा लेंगे।' चन्दर साहब ने फिर समस्या बताई– 'देखो जी, मैं तो बड़ों के लिए लिखता हूँ, आपकी पत्रिका तो बच्चों की है।' कमलेश्वर ने समस्या का समाधान सुझाया, 'कोई बात नहीं चन्दर साहब, आप उर्दू में बड़ों के लिए लिखकर दे दीजिए; वह हिन्दी में बच्चों के काम आ जाएगा।'

दरअसल हमारे यहाँ हो यही रहा है। हिन्दी में नवसाक्षरों का साहित्य, बाल साहित्य के रूप में खपाया जा रहा है। दरअसल बाल साहित्य लिखना सबसे कठिन चुनौती है कि आपको बच्चों के मनोविज्ञान और उनके अवचेतन में प्रवेश करना पड़ता है। बच्चों के लिए लिखने की चुनौती टालस्टाय और निराला सरीखी प्रतिभाओं ने स्वीकार की थी और मैं राजेश जोशी और नवीन सागर सरीखी प्रतिभाओं को सलाम करता हूँ कि उन्होंने बच्चों के लिए भी सार्थक कविताएँ लिखीं। संतोष चौबे की यह शिकायत वाजिब है कि हिन्दी में बहुत कम 'नानसेन्स टाइम्स' मिलती है। दरअसल हिन्दी की बाल कविताओं में 'नानसेन्स' की मिकदार जितनी है उतनी ही कम 'टाइम्स' हैं।

संतोष चौबे ने बलराम गुमास्ता और महेन्द्र गगन, बसंत सकरगाए और राग तैलंग, नरेश सक्सेना और मोहन सगोरिया, संजय मेहता और राघवेन्द्र तिवारी, राजेन्द्र जोशी और नवल जायसवाल और शैलेन्द्र चतुर्वेदी पर भी लेख और टिप्पणियाँ लिखी हैं। इनमें एक अच्छे संवेदनशील पाठक, सच्चे कद्रदाँ भावुक और विवेक सम्पन्न आलोचक की त्रयी का अन्तर्लयन है। ये इस बात की भी साक्ष्य है कि इन रचनाओं को कितनी तल्लीनता से डूबकर पढा गया है और पढ़ने के दौरान अन्य माध्यम की रचनाएँ मसलन देवीलाल पाटीदार और प्रभु जोशी के चित्र भी किस तरह अपनी अनुगूँज

पैदा करती हैं। इनके कुछ सूत्र वाक्य जैसे– ''कविताएँ उत्तप्त मन का ताप हरने की क्षमता रखती हैं'' या ''कविता समग्र जीवन है और जीवन समग्र संगीत'' तो कोटेबल कोट्स की तरह याद रखे जाने के काबिल हैं। ये इस बात की भी प्रमाण हैं कि संतोष चौबे में वरिष्ठता का अभिजात्य और अपने पद-प्रभुत्व का अहंकार नहीं है। यही बुनियादी अंतर है एक ब्यूरोक्रैट कवि-आलोचक और एक टैक्नोक्रैट कवि-कथाकार-आलोचक में।

'अपने समय में' को 'कला की संगत' का सीक्वल, उसका उत्तर-विमर्श या उसका ही विस्तार भी कहा जा सकता है। यह एक सक्रियतावादी (एक्टीविस्ट) बुद्धिजीवी की वैकल्पिक वैचारिकी या ऐसी सैद्धान्तिकी भी है जिसको व्यावहारिक धरातल पर प्रयुक्त और सिद्ध किया जा चुका है। इसमें अपने समय को चार प्रमुख परिघटनाओं या प्रसंगों के पसमंजर में देखा-दिखाया गया है : सोवियत संघ के पतन याने वामपंथी विचारधारा और साम्यवादी या समाजवादी स्वप्न और दृष्टि के अंत की घोषणा; सभ्यताओं के टकराव और तथाकथित इस्लामी आतंकवाद का उदय, वैश्वीकरण या विश्वग्राम की अवधारणा और उत्तर-आधुनिक विमर्श। इस उत्तर-आधुनिक विमर्श के प्रमुख आधार हैं : इतिहास की समाप्ति का घोषणा, किसी स्पष्ट वैचारिक आकाश की उपस्थिति से इंकार, बदलाव की किसी सम्भावना से इंकार, प्रगतिशीलता के विचार से इंकार। अपनी आत्यन्तिक परिणति में ''यह उत्तर-आधुनिकता न केवल गैर-राजनीतिक होने का भ्रम पैदा करती है, वह उत्तर-पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क भी बन जाती है।''

इस पृष्ठभूमि में परम्परा, विरासत, भारतीयता, वैश्वीकरण, आधुनिकता, विकास, विचारधारा, आलोचना के साथ हमारे समय के सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक ज्वलन्त प्रश्नों पर संतोष चौबे का यह ऐसा चिन्तन-मनन है जो कोरा बुद्धि विलास न होकर प्रायोगिक धरातल पर भी आश्वस्तकारी निष्कर्षों और मुमकिन समाधानों के साथ प्रस्तुत है।

परम्परा को लेखक कोई स्थिर वस्तु नहीं बल्कि सतत प्रवहमान मानता है जिसे इतिलास की समझ के बिना ठीक-ठीक नहीं पहचाना जा सकता

है। मैंने उसे नदी के रूपक और जैविक विकास की उपमा में देखा समझा है। इतिलास की समझ के लिए संतोष चौबे ''एक वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न, अपनी संस्कृति और कला में रचे बसे मानस'' को जरूरी मानते हैं। आधुनिकता को वे एक ऐसी दृष्टि मानते हैं जो इतिहास के प्रवाह को पहचानती है, बहुलता और विविधता का सम्मान करती है, मानवीय गरिमा के पक्ष में काम करती है और साहित्य कला और मनुष्य को समग्रता में देखती है।... स्टीफेन स्पेंडर ने भी आधुनिकता को 'विजन ऑफ द होल (WHOLE)' कहा था और 'आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय' (1984) में मेरा प्रस्थान भी लगभग यही है। संतोष चौबे ''भारतीय समाज की सहिष्णुता और सहअस्तित्व की प्रवृत्ति या शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना के साथ, वाद-विवाद तथा लोकतांत्रिक पद्धतियों से प्रश्नों को सुलझाने की आदत में'' अपनी विरासत की सक्रियता देखते हैं। यहाँ मुझे बेसाख्ता नोबेल प्रतिष्ठा-प्राप्त अर्थशास्त्री श्री अमर्त्य सेन की पुस्तक 'द ऑर्गुमेन्टेटिव इंडियन' की याद आ गयी। इसमें उन्होंने वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक भारतीय संस्कृति और इतिहास का इसी दृष्टि से पुनरावलोकन किया है और 'भारतीय आईडेन्टिटी' का आख्यान किया है। संतोष चौबे ने भी जिस भारतीयता को रेखांकित किया है वह ''किसी पुरातन किस्म के राष्ट्रीय आकाश की तरफ लौटना नहीं है। यह एक ऐसे आधुनिकता बोध से युक्त चेतना की तरफ लौटना है जो अपनी परम्परा को जानती है, विविधता तथा बहुलता का सम्मान करती है तथा पूरे विश्व को एक बाजार बनाने से बचाती है।''

आप गौर करें, लेखक ने भूमंडलीकरण शब्द का इस्तेमाल नहीं किया है कि उससे भूमंडीकरण– पूरी दुनिया को एक मंडी में तब्दील करने की उत्तर-पूँजीवादी मानसिकता उजागर होती है। उन्होंने 'विश्व' और 'वैश्वीकरण' शब्दों का प्रयोग किया है जिनमें 'वसुधैव कुटुम्बकम' से आगे 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की ध्वनि भी व्यंजित है। संतोष चौबे की मान्यता है कि पूँजीवादी विकास की दिशा ने 'ग्रोथ रेट' तो बढ़ाया लेकिन उससे अधिक विषमता को भी बढ़ाया। वे तो ऐसे विकास के समर्थक हैं ''जो प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन और विनाश न करे'' बल्कि

धारणीय विकास (सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट) करे। उनका विश्वास है कि महात्मा गाँधी के 'हिन्द स्वराज' के कुछ सामान्यीकृत निष्कर्ष आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं– मसलन प्रत्येक बदलाव, प्रत्येक तकनीक को मनुष्य केन्द्रित होना चाहिए और जीवन को अधिक सरल तथा सहज होना चाहिए। वे डॉ. ए.पी.जे. कलाम के मॉडल 'पुरा' (Provision of Urban Services in Rural Areas) को भी एक ऐसी ही देशज मिसाल मानते हैं। उनका आग्रह है कि ''सत्ता के संस्थानों को दम्भ के धरातल से उतर कर नीचे आना चाहिए'' और ''सरकार में जो एक चीफ एक्जीक्यूटिव ऑफिसर की अहंकारी शैली विकसित हो गई है'' उसे अधिक जनसंवादी और जनसंवेदी बनाया जाना चाहिए।

उत्तर-आधुनिक विमर्श के लगभग सभी आधारों से संतोष चौबे न केवल असहमत हैं बल्कि उन्हें खारिज भी करते लगते हैं। मसलन इतिहास का अंत या विचारधारा का अंत के बरक्स वे नये ज्ञानात्मक मानचित्र की जरूरत महसूस करते हैं। इतिहास के अंत में जहाँ एक दुराग्रह है, वहीं विचारधारा का अंत की घोषणा भी एक विशेष विचारधारा का ही नारा है। इतिहास का अंत कभी नहीं होता। अतीत, व्यतीत होकर हमेशा के लिए विद्यमान हो जाता है। इसीलिए कहा गया है THE PAST IS EVER PRESENT. दरअसल इतिहास के अंत की घोषणा एक सर्वसत्तावादी सोच है जिसका खुलासा जार्ज आर्वेल ने अपने उपन्यासों– 'द एनीमल फार्म' और '1984' में खासी सूझ-बूझ के साथ किया है। सर्वसत्तावादी शासन बड़े सुनियोजित ढंग से अतीत की हर मौजूदगी को मिटा देना चाहता है ताकि लोग स्मृतिहीन हो जायें या फिर इतिहास को वह अपनी सुविधा और विचारधारा के अनुसार पुनर्व्याख्यायित-पुनःप्रस्तुत करता है। '1984' में आर्वेल 'थाट क्राइम' और 'थाट पोलिस' के एक ऐसे दहशतजदा आतंककारी तंत्र का निरूपण करता है जहाँ असहमति विद्रोह और देशद्रोह है और वैकल्पिक विचार, अपराध। आर्वेल का एक प्रसिद्ध प्रतिपादन है– 'यह लगभग विश्वजनीन रूप से अनुभव किया जा रहा है कि जब हम किसी देश को लोकतांत्रिक कहते हैं, तब हम उसकी प्रशंसा करते हैं। नतीजतन हर किस्म का शासन यह दावा करता है कि वह

लोकतंत्र है।' लोकतंत्र की सारी सांस्थानिक अधोसंरचना ध्वस्त करने वाले तानाशाह भी खुद को राष्ट्रवादी ही नहीं, समाजवादी और लोकतांत्रिक ही कहते रहे हैं।

विचारधारा के अंत के बरक्स संतोष चौबे कहते हैं ''विचारधारा हमें यथार्थ को देखने की एक दृष्टि प्रदान करती है'' इतना ही नहीं ''विचारधारा लेखन को तीक्ष्णता भी प्रदान करती है''। वे स्वीकार करते हैं कि ''वामपंथ की दृष्टि देखने-समझने की एक वैध, एक वैज्ञानिक पद्धति है और एक हद तक कारगर भी''।... उनकी स्पष्ट आत्मस्वीकृति है : ''मैं मार्क्सवाद की तरफ सैद्धान्तिक आग्रहों के कारण नहीं, बल्कि व्यावहारिक समझ के कारण आया।'' उनका तो विश्वास है कि ''कोई भी साहित्यकार अपनी राजनीति और अपनी पक्षधरता निर्धारित किये बिना रचना नहीं कर सकता।'' प्रतिबद्धता की उनकी अवधारणा भी व्यापक है– रचनाकार या कलाकार मूल रूप से तो मनुष्य और मनुष्यता के प्रति ही प्रतिबद्ध है और 'हर लेखक की मूल प्रतिबद्धता तो मानवीयता को बचाये रखने की होनी चाहिए'... और ''जो भी विचार इसे बचाने में मदद करे, उसके प्रति उसे प्रतिबद्ध होना चाहिए।'' वे मानते हैं कि ''संगठन किसी भी लेखक के लिए उतना ही जरूरी है जितना संगठन के लिए लेखक।'' लेकिन ''इधर लेखकों और कलाकारों के संगठनों में राजनैतिक ओवरटोन्स कुछ ज्यादा ही हो गई हैं और साहित्यिक और कलात्मक चिन्ताएँ कुछ कम।'' फिर ''कई संगठनों का यह चरित्र बन जाता है कि नया या फिर भिन्न तरह से सोचने वाले व्यक्ति को व्यक्तिवादी करार दे देते हैं और उसे बाहर करने के पीछे लग जाते हैं।''... इस बात की ताईद तो मैं भी कर सकता हूँ कि प्रलेस में मैं इसका चश्मदीद गवाह ही नहीं भुक्तभोगी भी हूँ।

संतोष चौबे का यह एहसास काबिले-एहतिराम है कि ''कोई एक दृष्टि से पूरे विश्व को, पूरे समाज को या कि पूरे मनुष्य को समझने में कारगर नहीं हो सकती।'' या ''साहित्य और संस्कृति तकनीक के विरोधी नहीं, उसके पूरक हैं''। अतः ''सिर्फ विज्ञान और तकनीक से ही मनुष्य की सब समस्याओं का हल नहीं निकाला जा सकता। उसे अपने सांस्कृतिक

मूलाधारों पर टिके रहना पड़ेगा।''

'अपने समय में' संतोष चौबे के तीन संवाद भी शामिल हैं– पहला महेन्द्र गगन से, दूसरा विनय उपाध्याय से और तीसरा हरि भटनागर से। इनमें महेन्द्र गगन से उनकी बातचीत सबसे अधिक विस्तृत और व्यापक ही नहीं, उन्हें अपनी सारी मुमकिन समग्रता में प्रस्तुत करने के लिहाज से महत्त्वपूर्ण है। दरअसल इंटरव्यू होने वाले व्यक्ति पर भी यह निर्भर करता है कि वह आपको कितनी–कैसी रौशनी में पेश करता है। इस बातचीत में सृजन के प्रसंग में चौबे जी का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है– ''सृजन यथार्थ का महज प्रतिबिंबन नहीं, बल्कि यथार्थ को देखने की एक दृष्टि है।'' कला और उत्तर–आधुनिकता के प्रसंग में वे कह ही चुके हैं कि ''यथार्थ एक बदलती हुई सतत प्रक्रिया है जो मनुष्य द्वारा निर्मित है और उसके द्वारा बदली भी जा सकती है।'' और ''नाटक यथार्थ का प्रतिबिंबन नहीं, बल्कि यथार्थ पर एक टिप्पणी है।'' इस बातचीत में संतोष चौबे का आलोचना के प्रति रवैया भी आम कवि–लेखकों से न केवल भिन्न बल्कि काबिले–तारीफ भी है। महेन्द्र गगन ने उनसे सवाल किया था– ''आपने अभी अपने दो–एक व्याख्यानों में रचना की समीक्षा में आलोचकों से करुणा (कम्पैशन) की अपेक्षा की है। इस तरह से आग्रह का क्या अर्थ है?'' संतोष चौबे के जवाब पर गौर कीजिए– ''मेरा आग्रह करुणा नहीं, बल्कि सहानुभूति यानी सह–अनुभूति है''... मैं इससे आगे जाकर कहूँगा (बल्कि कह चुका हूँ) कि आलोचना में रचना से सह–अनुभूति या सम–अनुभूति ही नहीं अन्तरानुभूति भी जरूरी है– 'फीलिंग विथ' के साथ 'फीलिंग इन्ट' भी आवश्यक है और अपनी पुस्तक 'आलोचना की रचना यात्रा' (1978) में इसी प्रसंग में मेरा एक हलफनामा भी है। उनका यह इल्जाम भी किसी हद तक जायज है कि 'कुछ आलोचक अभी भी सामंतों की तरह व्यवहार करते हैं और अकादमियों के निदेशक वगैरह बनकर या पुस्तक खरीदी समितियों में रहते हुए या अन्य माध्यमों से सत्ता के निकट रहना चाहते हैं।' देश की राजधानी से लेकर प्रान्तीय स्तरों तक फैली आलोचकों की इस जमात (या गिरोह) की शिनाख्त अब इतनी पोशीदा भी नहीं है कि उसे आँख में उँगली डालकर दिखाया जाए।

संतोष चौबे ने रचना के साथ ही आलोचना के आस्वाद का भी कितना संवेदनशील खुलासा किया है– ''आलोचना का आस्वाद किसी कविता, कहानी या उपन्यास से अलग होता है। वह उस शास्त्रीय संगीत की तरह है जिसके गहराई से रसास्वादन के लिए आपको कुछ प्रशिक्षण की जरूरत होती है। यह वही कवि-लेखक कह सकता है जो अपनी आलोचना के प्रति भी सहिष्णु है और जिसमें एक रचनात्मक आत्मविश्वास है। आलोचना से आम-फहम भाषा में लगभग हमेशा अपने अनुकूल होने की उम्मीद और तवक्को रखने वाले कवि-लेखकों को संतोष चौबे के इस वक्तव्य से कुछ सीखना चाहिए।

महेन्द्र गगन ने उपन्यास के प्रसंग में कहा है कि ''अज्ञेय ने पहली बार भारतीय उपन्यास की अवधारणा का सवाल उठाया था'' इस पर संतोष चौबे का भी वक्तव्य है कि ''उपन्यास को आमतौर पर औद्योगिक समाज की उपज माना जाता है।'' इस मान्यता के लिए हिन्दी के प्राध्यापक भी जिम्मेदार हैं। मैं नहीं जानता कि अज्ञेय जी ने कब कहाँ वह सवाल उठाया था। दरअसल वो पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी थे जिन्होंने पहली बार भारतीय आख्यान परम्परा और कहानी की वाचिक परम्परा का 1950 के आसपास 'सरस्वती' में विस्तार से उल्लेख किया था और न केवल कहानी आलोचना, बल्कि अपनी पुस्तक 'कथाचक्र' के माध्यम से उपन्यास की आलोचना भी शुरू की थी। उपन्यास की मृत्यु की घोषणा के जवाब में मैंने 'माध्यम' में 1960 के आसपास 'उपन्यास के जन्म' पर लेख लिखा था और 'उपन्यास के सूरते हाल' तथा 'भारतीय उपन्यास की अवधारणा' पर 'पूर्वग्रह' और 'अब' पत्रिकाओं में लेख लिखे थे। वे मेरी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास का पुनरावतरण' (2003) में संकलित हैं। मैंने तो प्रस्तावित भी किया था कि हम अपने महाकाव्यों को पद्य में लिखे उपन्यासों की तरह क्यों नहीं देख सकते? अभी हाल में शशि थरूर ने भी 'एपिक ऐज नावेल' की बात भी की है।

संतोष चौबे ने एक बड़ी मौजूँ बात की है कि– ''उपन्यास, रचनाकार से धीरज की माँग करता है''... इसमें मैं इतना और जोड़ना चाहूँगा कि बन्धुवर, सिर्फ उपन्यास ही क्यों, हर विधा की, हर रचना, रचनाकार से

धीरज की माँग करती है। गालिब के एक मशहूर शेर के पहले मिसरे (आश्किी सब्र तलब औ तमन्ना बेताब) में थोड़ी तरमीम के साथ कहा जा सकता है– 'अदब सब्र तलब और तमन्ना-ए-शोहरत बेताब'। दरअसल साहित्य को भी शास्त्रीय संगीत की तरह संयम, धैर्य और मुसलसल रियाज की जरूरत है।

इस बातचीत में कवि-कथाकार के अलावा संतोष चौबे का शिक्षा के क्षेत्र में अवदान और शिक्षा सम्बन्धी उनका सोच-विचार भी उद्घाटित हुआ है। 'इन्क्लूसिव ऐजूकेशन' के साथ प्राथमिक शिक्षा के 'यूनीवर्सलाइजेशन' के अलावा उच्च शिक्षा के स्तर और शिक्षकीय नैतिकता पर भी उन्होंने जोर दिया है। उन्होंने शिक्षा के तीन लक्ष्य तय किये हैं– छूटे हुए को शामिल करना, समता या बराबर की शिक्षा प्रदान करना और गुणवत्ता, जिसमें कौशल विकास शामिल है। वे 'राइट टू ऐजूकेशन' के भी हिमायती हैं।

'हमारे समय के सवाल' में संतोष चौबे ने जिन मुद्दों को उठाया है वे एक साहित्यिक और संस्कृतिकर्मी के साथ एक सचेत और जागरूक नागरिक की वैकल्पिक सामाजिक सोच और उसके क्रियान्वयन की लगन को रेखांकित करते हैं। 'जनविज्ञान आन्दोलन' में वे विज्ञान के पूरे वर्णक्रम को समेटकर शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई सुविधा, जमीन के उपयोग, वन एवं पर्यावरण के साथ ग्रामीण तकनीक और तकनीक के आयात की योजना और उसके कार्यान्वयन पर विचार करते हैं। 'जन विज्ञान आन्दोलन में रंगकर्म' की भूमिका को रेखांकित करते हुए उनका विचार है कि ''कुलीन और संभ्रान्त कला जगत में संकुचित दायरे को तोड़कर जन संस्कृति और जनाधार के व्यापक दायरे के बीच कलाकर्म आज की सबसे बड़ी जरूरत है।'' इसीलिए वे 'रंगमंच और सिनेमा' के क्षेत्र में लोक परम्पराओं और लोकरूपों के सचेत प्रयोग के हिमायती हैं। 'साक्षरता अभियान' में छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश में काम करते हुए उनका आकलन है कि ''उन राजनीतिक दलों ने साक्षरता अभियान में अधिक रुचि ली है जिनका विश्वास आम आदमी की शक्ति बढ़ाने और बदलाव की राजनीति करने में है।''... इस दृष्टि से ''वामपंथी सरकारों द्वारा शासित राज्यों में साक्षरता

अभियान को अधिक सफलता मिली है''। इसका कारण ''राजनीतिक इच्छा शक्ति का प्रबल रूप से साक्षरता अभियान की सफलता के लिए काम करना है।'' वे साक्षरता अभियान के साथ प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के पक्षधर हैं। वे कहते हैं– ''वैज्ञानिक तौर पर यह सिद्ध हो चुका है कि जहाँ साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा का काम सफलतापूर्वक किया गया है, वहाँ प्राथमिक शिक्षा को भी सही मायनों में बहुत मदद मिली है।''

वैश्वीकरण के दबाव में अधोसंरचना और दूरवर्ती शिक्षा की माँग को पूरा करने के लिए 'निजी विश्वविद्यालयों की जरूरत' को उन्होंने वक्त का तकाजा माना है। उनकी जरूरत इसलिए भी है कि अब व्यवसायों और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का स्वरूप बदल गया है और लगातार बदल रहा है। इसके अलावा औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा के बीत सेतु भी आवश्यक हो गया है। उनका यह विचार छत्तीसगढ़ में सर सी.वी. रमन विश्वविद्यालय (बिलासपुर) और मध्यप्रदेश में रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय (भोपाल) की स्थापना से साकार हुआ है।

कृषि क्रांति और औद्योगिक क्रान्ति के बाद अपने समय में आई 'सूचना क्रांति' मानव की दशा और दिशा के लिए आज अनिवार्य ही नहीं, अपरिहार्य हो गयी है। सूचना प्रौद्योगिकी के तकनीकी विकास एवं सामाजिक दबावों के बीच सरकारों को क्या करना चाहिए, इसकी उन्होंने एक 'सत्रह सूत्री योजना' का प्रारूप भी प्रस्तुत किया है। सूचना तकनीक में सत्रा के पारम्परिक ढाँचे को चुनौती देने की कितनी अपार क्षमता है और किस प्रकार सूचना को भी हथियार की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है, इसका विस्तृत ब्यौरा भी उन्होंने पेश किया है। उन्होंने आगाह किया है कि ''किस तरह सरकारें, संस्थान और कारपोरेट जगत गोपनीयता का इस्तेमाल अपने हितों के संरक्षण एवं संवर्द्धन में करते हैं और किस तरह आम आदमी पर हो रहे अन्याय को छिपाया जा रहा है।''

पर्यावरण के विनाश से मानव भविष्य की उनकी चिन्ता 'गरम हो रही है धरती' में व्यक्त होती है। धरती और समुद्र के गर्म होने में ग्रीन हाउस गैसों की सबसे बड़ी भूमिका है। इस वैश्विक तापन के दुष्प्रभावों के

मद्देनजर उनकी चेतावनी है कि ''पृथ्वी पर मानव सभ्यता को बचाये रखने के लिए एवं दीर्घकालीन सतत विकास के लिए इस वैश्विक तापमान की समस्या का समाधान अत्यंत आवश्यक है।''... ''व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर हमें अपनी शैली में परिवर्तन लाकर उसे सादगीपूर्ण बनाना होगा। सहज एवं प्रकृति से सामंजस्यपूर्ण जीवन-शैली आज की आवश्यकता है।'' इस संदर्भ में उन्होंने उचित ही महात्मा गाँधी की याद दिलायी है।

इस पूरे विचार विमर्श में संतोष चौबे के बहुआयामी, अन्तःअनुशासनात्मक अध्ययन और चिन्तन-मनन के पर्याप्त प्रमाण हैं। घटनाओं, प्रसंगों, रचनाओं और मुद्दों की समग्र और समावेशी दृष्टि से पड़ताल के साथ ही सोच-विचार और चिन्तन में स्पष्टता और सहजता के लिहाज से भी यह अपने समय का महत्त्वपूर्ण विमर्श है। विभिन्न कलाओं के बुनियादी स्वभाव, प्रकृति और सरगम से वे परिचित हैं और अपनी परम्परा की चेतना, इतिहासबोध और सांस्कृतिक संरचरण की उन्हें अच्छी पहचान है। उन्होंने पूरे भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य और समसामयिक परिघटनाओं को एक गरुड़ दृष्टि से तो देखा ही है, अपनी तृणमूल चेतना से उसकी परीक्षा भी की है और हंस के नीर-क्षीर विवेक से उनका मूल्यांकन भी किया है। उनके लेखन में ज्ञानात्मक संवेदना का संचार तो है ही, वह संवेदनात्मक ज्ञान से भी समृद्ध हैं। इसे पढ़ते हुए मुझे कई मुद्दों पर समान सोच का संतोष मिला है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि संतोष चौबे अभी भी कहते हैं कि ''मैं अभी भी सीख रहा हूँ'' और ''मैं सतत सीखने में विश्वास रखता हूँ''... यह उनके सोच-विचार की सतत गतिशीलता और उसके निरन्तर व्यापक होते अन्तरिक्ष की जमानत है।

(संतोष चौबे की पुस्तकों– 'अपने समय में' और 'कला की संगत' के लोकार्पण पर आयोजित संगोष्ठी में अध्यक्षीय वक्तव्य का संशोधित-परिवर्द्धित रूप)

संघर्षशील कार्तिक की यंत्रणा

तरसेम गुजराल

हमें अपने लोगों की मानवता का ज्ञानवर्द्धन करने की उम्मीद के साथ उनकी जिन्दगी को बेहतर के लिए लिखना चाहिए। इसलिए आमतौर पर मेरी विषय–वस्तु इस समाज के अभागे लोग होते थे। मेरा उद्देश्य उनसे पर्दा उठाना और उसकी ओर ध्यान खींचना था।

–लू शुन

जो आप सोचते हैं, बन जाते हैं। विचार कभी सम्पूर्ण नहीं होता जब तक कर्म उसकी अभिव्यक्ति न हो और कर्म आपके विचारों को नियमित करता है।

–गाँधी

मुझे सॉमरसेट मॉम की लिखी 'मून इन सिक्स पेंस' याद आती है जो गॉगा नामक पेंटर के जीवन पर थी। जब कथानायक, जो पेंटिंग में नए प्रयोग कर रहा है, पेरिस के आलोचकों के बारे में कहता है– अब वे मुझे मान्यता देने या न देने का खेल रचेंगे और इस तरह मुझे झुकाने की कोशिश करेंगे कि ये विषय के महाज्ञानी हैं, जबकि वे मेरी रचनात्मकता से पूरी तरह अनभिज्ञ होंगे, फिर मैं उनकी चिंता क्यों करूँ?

-संतोष चौबे का उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन', पृ. 351

सोवियत संघ के टूटने और टूट कर बिखरने से तीसरी दुनिया के मुल्कों में भी निराशा का अनुभव किया गया। प्रतिक्रियावादियों ने कहा मार्क्सवाद मर गया है। सकारात्मक ढंग से सोचने वालों ने कहा– मार्क्सवाद नहीं

मरा, मरा है उसका यांत्रिक रूप। वामपंथ का संकट पेरेस्त्रोइका के रूप में सामने आ चुका था। दायरा लोकतांत्रिक रूपांतरण का था किंतु सामाजिक जीवन बिखरा और अर्थतंत्र माफिया के नियंत्रण में चला गया। विषमता पैदा करने वाली व्यवस्था सदा चलती नहीं रह सकती। परन्तु पतनशीलता को हमला करने का बड़ा अवसर मिला। नियंत्रण से आजादी और फिर से लड़ने के लिए आन्दोलन जरूर हुए, परन्तु उन आन्दोलनों में जी-जान से लड़-खप रहे लोगों पर बेवजह के इल्जाम सिर्फ चौधराहट पाने या अपने वर्चस्व की खातिर लगाये गये, जिससे उनका मनोबल टूटा और निराशा भी हुई। संतोष चौबे का उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' कुछ ऐसा ही परिदृश्य लेकर सामने आता है। आज जब गरीब देशों में भुखमरी और अमीर देशों में नैतिक गिरावट के कारणों पर और परिणामों पर निगाह जाती है तब सवाल आन्दोलनों का ही उठता है। जन समर्थन से खड़े होते आन्दोलनों की कमियों और शक्तिहीन होते जाने के अनेक कारण होते हैं, संतोष चौबे पूरे परिदृश्य पर पारखी नजर रखते हैं। कार्तिक जैसा संवेदनशील, कर्तव्यनिष्ठ, ईमानदार युवक आश्चर्य में रह जाता है जब उसे यह समझ आता है कि उसके अपने साथी उस गेम में शामिल हैं जो काम में कम, गिराने-उठाने की साजिश में अधिक व्यस्त हैं। नियंत्रण करने वाले पार्टी प्रबंधक भी औचित्य समझ पाने में असमर्थ नजर आते हैं।

उपन्यास के पहले अध्याय का ही मंजर है। रामनारायण, कार्तिक को सहारा देने की कोशिश में है–

''कार्तिक, तुम चिंता मत करो, हम लोग तुम्हारे साथ हैं। हम लड़ेंगे।''

''मगर किससे? अपने ही लोगों से?''

''सवाल अपना या दूसरों का नहीं है? लड़ाई हमेशा दो तरह की होती है– एक भीतरी और दूसरी बाहरी। यह भीतरी लड़ाई है। इसे हमें लड़ना होगा।''

उस समय दुश्मन की पहचान भी धुँधली-सी लगी। उसने अपने भीतर एक गहरी उदासी महसूस की। एक ऐसे सोच की उदासी जिसने एक लंबी लड़ाई लड़ी हो, जिसका शरीर लहूलुहान हो और जिसे अचानक

अपने इस लंबे युद्ध की निरर्थकता का अहसास हुआ हो। (पृ. 13)

'पिछले कुछ दिनों से पार्टी की बैठकें एक यंत्रणा की तरह हो गई थीं।' जब ऐसा होता है, मुझ पर सकारात्मक बहस के बदले आरोपों-प्रत्यारोपों का एक अंतहीन सिलसिला चला करता था, जिसमें सब एक-दूसरे को चोट पहुँचाने की कोशिश किया करते थे। इस सब पर कार्तिक के मित्र रामनारायण की टिप्पणी थी– हमारे यहाँ आत्मालोचना का मतलब आत्म आलोचना नहीं, बल्कि दूसरे की आलोचना होता है। अगर हम वाकई आत्मालोचना कर पाते, तो जाने कहाँ से कहाँ पहुँच जाते। रामनारायण की इस पंक्ति को आज के पतनशील हालात पर दूर तक लागू कर देखा जा सकता है जहाँ विभाजन और विखंडन नजर आता है। पतनशीलता के दलदल में फँसे पाँव नजर आते हैं।

संतोष चौबे कुछ ही शब्दों में पूरा चरित्र उतार कर रख देते हैं। कॉमरेड मोहन के बारे में कहते हैं– 'जब वे सचिव नहीं थे और ट्रेड यूनियन आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे, उनकी जीवंतता और मिलनसारिता देखते बनती थी। पर वे अचानक पुराने सचिव की तरह हो गये थे– गुरु-गंभीर और कठोर। वैसे वे अभी लड़के ही थे और खुशनुमा हो सकते थे। पर जैसे उन्होंने एक नकली गंभीरता ओढ़ ली थी। क्या वे अपनी इस नकली गंभीरता के पीछे कुछ छुपाना चाहते थे? या वाकई लोगों से दूरी बढ़ाना चाहते थे? या उन्हें लगता था कि सचिव को कुछ इस तरह का होना चाहिए?' कॉमरेड मोहन का पूरा मनोविज्ञान स्पष्ट है, एक्स-रे की तरह।

एक साजिश के तहत सचिव कॉमरेड मोहन द्वारा नोटिस जारी करने पर कार्तिक पैदल घर जा रहा है। आदतन दोनों हाथ जेब में डालने पर एक पतला-सा झिरझिरा कागज उसके हाथ से टकराता है। आगे की पंक्तियाँ देखें–

'कैसे कोई एक कागज आपके जीवन का सारा अर्थ बदल सकता है? आपके बरसों के काम को स्वीकृति या अस्वीकृति प्रदान कर सकता है। आपकी पूरी दुनिया को उथल-पुथल कर सकता है? क्या यह इतना सरल है? इसे इतना सरल होना चाहिए?'

एक लंबे संघर्ष, समय की आग में तपकर, जीवन की अनेक

सुविधाओं का त्याग कर अब वह जिस उम्र के मोड़ पर था, वह जाहिर है– 'अब वह आयु के मध्य भाग में पहुँच चुका था। कई बार उसके पुराने दोस्त भी उसे देखकर एकदम पहचान नहीं पाते थे। सामने झूलकर गिरने वाली लट अब सफेद हो चली थी, आँखों पर पतली कमानी का चश्मा आ गया था जो उसकी गहरी काली आंखों के कारण 'फार आउट' लुक देता था। रामनारायण अक्सर मजाक में कहता– विचारों का सबसे अधिक बोझ कार्तिक पर है।'

लेकिन आज उसके लिए 'संस्कृति, विज्ञान, पार्टी, प्रतिरोध जैसे शब्द करीब-करीब 'ब्लैक आउट' हो गये थे। क्या यह बीस वर्षों की लंबी लड़ाई के बाद का अकेलापन था?

यहाँ से उपन्यास कार्तिक के जीवन की तरफ खुलता है जो निरंतर संघर्षमयी रहा। सीधी सुविधापूर्ण डगर चुनने की जगह उसने काँटों-भरी डगर खुद चुनी थी, क्योंकि संघर्ष उसके जीवन का प्रकाश था। वह अपना जीवन आहार, निद्रा, भय, मैथुन के खुरों से बाँधकर नहीं रखना चाहता था। जब भारतीय प्रशासनिक सेवा का परिणाम अखबार में घोषित हुआ था, कार्तिक का नाम चयनित छात्रों की सूची में था। नीति, चयन की इस खबर पर बहुत खुश थी और मुहल्ले-भर में मिठाई बाँट रही थी। कॉलेज से पढ़ाई कर रहे किसी भी लड़के लड़की का सबसे बड़ा सपना हो सकता है। परन्तु कार्तिक का अन्तर्मन प्रसन्न न था। अपने मित्र केदार की मृत्यु की उदासी तो थी ही, परन्तु वह अपने आप से प्रश्न कर रहा था। नौकरी या कैरियर से उसका दिल हट चुका था। वह ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा था कि उसका लक्ष्य क्या होना चाहिए। मन की दुविधा देखें– 'किसी बड़े लक्ष्य के प्रति अपने आपको समर्पित कर देना चाहता था, पर क्या वह ऐसा कर सकता था? उसका रास्ता कुछ अलग होना चाहिए, पर क्या? कौन-सा?'

वह वैज्ञानिक सोच का आदमी था। नीति के पूछे जाने पर कि उसके लिए ईश्वर क्या है? वह कहता है– 'मेरे लिए वह एक ऐसी परिकल्पना है जिसे आदमी ने अपने सुकून के लिए गढ़ा है। मगर है वह काफी काम की परिकल्पना।'

अब उसका सरोकार दुनिया जहाँ के दुखों से था, वह उनकी आवाज बन जाना चाहता था। वह अपने मित्र केदार जैसा होना चाहता था। सब गलत-सलत का प्रतिरोध करना चाहता था। नीति से दृढ़ता से कहा– 'मैं प्रशासनिक सेवा में नहीं जा रहा हूँ।'

भोपाल गैस कांड को उसने अस्तित्व की गहराइयों में उतरता हुआ पाया। दिसंबर की रात कुछ बोल पाने में असमर्थ उसका भानजा बड़े कष्ट से पुकार रहा था– 'गैस...गैस...' यूनियन कार्बाइड में हादसा हो चुका था।

'कार्बाइड की टंकी फट गई... गैस निकली... घरों में घुस गयी।'

(क्या पता कॉमरेड मोहन, पृ. 23)

यह दो दिसम्बर और तीन दिसम्बर के बीच की रात थी यूनियन कार्बाइड इंडिया लि. पेस्टीसाइड प्लांट भोपाल की टंकी लीक हो गयी, जिसे भोपाल गैस त्रासदी के नाम से जाना गया। मानव इतिहास की अब तक विश्व की सबसे बड़ी त्रासदी समझी गयी। जिस तरफ हवा ने रुख किया लोगों की मौत होने लगी। कुछ ही घंटों में 3000 लोगों की मौत हो गयी। बताया गया कि इसके प्रभाव से करीब दस हजार लोग मौत के घाट उतर गये। इस डरावनी रात और चीखती सुबह का शब्दों में वर्णन कठिन है।

'जैसे-जैसे वह शहर की ओर बढ़ता, दोनों ओर आदमियों की कतारें, औरतों, बच्चों और वृद्धों की कतारें, बदहवास-सी भागती नजर आतीं। कोई होशो-हवास में नहीं था। वातावरण में एक कसैली गंध बसी थी। दिसम्बर की रात थी और कड़ाके की ठंड थी पेड़-पौधे स्तब्ध थे और हवा जैसे ठहरी हुई थी। लोग भाग रहे थे, पर सड़कें रुकी हुई थीं। हजारों लोग थे सड़कों पर, लेकिन चारों ओर गहरी चुप्पी और अजब वीरानी छाई हुई थी।'

(पृ. 24-25)

अस्पताल और शवगृह का दृश्य दर्दनाक और भयानक था- (सैकड़ों लोग अस्पताल में बिखरे पड़े थे- कई अपना सिर नीचा किये, कई लेटे, कई अधलेटे। लोगों ने अपनी आँखें हाथ या रूमाल या किसी कपड़े से ढाँप रखी थीं। वे खाँस रहे थे, कराह रहे थे और मदद की गुहार कर रहे

थे। मौत चारों ओर अपने पंख पसार रही थी। लोग धीरे-धीरे मर रहे थे।

'शवगृह के सामने का दृश्य देखकर कार्तिक का दिल दहल गया, करीब चारीस से पचास शव, वहाँ शवगृह के सामने लाइन लगाकर रख दिये गये थे। स्पष्ट था कि भीतर जगह नहीं थी। उनके लिए ठीक से रोने वाला भी कोई नहीं था। शायद रिश्तेदार खुद त्रासदी के शिकार हुए थे या बिछड़ गये थे।'

(पृ. 80)

रामनारायण वहीं काम कर रहा था, कार्तिक को मरीजों की आँखों में दवा डालने का काम मिला था। इतना सब घटने पर भी रामनारायण के फोन करने पर उत्तर मिल रहा है कि गैस जहरीली नहीं है। रामनारायण ने चिढ़ कर कहा– 'आप सिर्फ एक ही बात कह रहे हैं, कि गैस जहरीली नहीं है, गैस जहरीली नहीं है। अगर गैस जहरीली नहीं थी तो सैकड़ों लोग उससे मर कैसे रहे हैं? हजारों प्रभावित कैसे हुए हैं? इतने लोगों की जिन्दगी दाव पर लगी है और आप सही जानकारी देने से कतरा रहे हैं।'

दो बातें स्पष्ट हैं : एक, संतोष चौबे एक कथाकार के रूप में मर्म की भाषा जानते हैं और उसका सदुपयोग करते हैं। दो, कम्पनियों को लोगों की जान की रत्ती-भर भी परवाह नहीं। उनके निर्दयतापूर्वक व्यवहार को वह धीरे-धीरे खोलते हैं। परन्तु विश्वसनीय तरीके से। डॉ. महापात्र, डॉ. चंद्रा से पूछ रहे हैं– 'आखिर यह मानते क्यों नहीं कि सायनाइड पॉयजनिंग हुआ है?'

'इसलिए कि उससे कार्बाइड की जिम्मेदारी बढ़ जायेगी और अगर गैस सामान्य मान ली जाये तो उसका गुनाह कम माना जायेगा। सिद्ध होगा कि एरीडोर की कोई आवश्यकता नहीं थी कि वे कोई खतरनाक काम नहीं कर रहे थे, उन्हें इसकी कम कीमत चुकानी पड़ेगी।'

'पर सर, लोग मर रहे हैं।'

'वे मर सकते हैं। कार्बाइड की नजरों में भारतीय जीवन का क्या मूल्य?'

(पृ. 87)

जिम्मेदार कौन?

'सवाल उठता है कि इस सबके लिए जिम्मेदार कौन है? क्या कार्बाइड प्रबंधन? या कार्बाइड की अमेरिका स्थित फैक्टरी और उनका कार्पोरेट ऑफिस? या हम? अपने नेतागण और सरकार जिन्होंने बार-बार खतरे की घंटी बजने के बावजूद कार्बाइड पर कोई कार्यवाही नहीं की और उनकी फैक्टरी को घनी आबादी के बीच लगने दिया? या तीनों? जनता जवाब चाहती है।'

(पृ. 93)

'दास्ताने गैस कांड' नुक्कड़ नाटक खेला जा रहा है।

जादूगर : लड़के! सात समंदर पार जायेगा?

जमूरा : पासपोर्ट नहीं है!

जादूगर : फिकर नहीं?

जमूरा : तो ठीक है उस्ताद, मगर काहे के वास्ते?

जादूगर : पकड़ लाने को?

जमूरा : किसको?

जादूगर : एंडरसन को?

जमूरा : एंडरसन कौन?

जादूगर : यूनियन कार्बाइड का मालिक, लाशों का सौदागर, अमेरिकी पूँजीपति, मुनाफाखोर, गरीब देशों के अवाम की जान का दुश्मन।

नाटक व्यंग्य, तनाव और जनपक्ष को जाहिर करता है। प्रोफेसर अनिल कुमार के सार्थक वक्तव्य का एक अंश प्रस्तुत है– असल में तो पूरे देश में और हमारे अपने प्रदेश में भी सैकड़ों ऐसे कारखाने, खदानें और उद्योग हैं जहाँ दुर्घटनाएँ घटने का इंतजार कर रही हैं। मैहर, सतना और कटनी की एससेस्टॉस की खदानों में फेफड़े खराब किये जा रहे हैं, मंदसौर की स्लेट पेंसिल की खदानें मजदूरों में खतरनाक सिलिकोसिस की बीमारी फैला रही है, नागदा और अमलाई की मिलें नदियों में खतरनाक रसायन उगल रही हैं और हमारी सरकारें चुप हैं। मल्टीनेशनल कंपनियों द्वारा गरीब देशों में मुनाफे के लिए कहर बरपा किया जा रहा है और सब चुप हैं।

राजेश जोशी की कविता 'स्वर्ग का विभाजन' का एक अंश इसी तरह

पंक्तियों को लक्ष्य में रखता है, एक अलग ढंग से प्रहार भी करता है सत्य उजागर करते हुए–

स्वर्ग विभाजित हो चुका था / उसकी नकेल अब तुरियन की राजधानी के हाथ में थी / पिछली सदी के तानाशाहों के प्रेतों को अपने कंधों पर ढो रहे / सात समंदर पार से आये कुछ मेहमान, सुरक्षा के बीच / स्वर्ग की सड़कों पर घूम रहे थे / कि इस बात की ताईद कर सके / कि स्वर्ग में खुशहाली ही खुशहाली है।

संतोष चौबे ज्ञान विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) को जनता की धरोहर बनाने के पक्षधर हैं ताकि अज्ञान के पीछे लूट का सिलसिला खत्म हो सके।

प्रोफेसर अनिल कुमार को लड़ाई बहुत बड़ी लगती है, जिसे लड़ना ही होगा। कहते हैं– 'एक तरफ आज की जरूरतें हैं– इलाज, मुआवजा, न्याय पाने की जरूरतें और दूसरी तरफ है एक और बड़ी लड़ाई, विज्ञान और तकनीक की धारा को जनता के पक्ष में मोड़ने की लड़ाई। इस गैस त्रासदी ने पूरे विश्व को झकझोर दिया है। आइये हम यहाँ से एक नये संघर्ष की शुरुआत करें।'

(पृ. 101)

कार्तिक और सरफराज के बीच संवाद चल रहा है– 'सबसे पहले यह देखें कि विज्ञान क्या है? जो हमें कक्षा में पढ़ाया जाता है, जो इंडस्ट्री में हम प्रयोग में लाते हैं, जो प्रयोगशाला में विधियाँ अपनाते हैं, वह तो विज्ञान है ही, पर सिर्फ वही विज्ञान नहीं। जैसा कि उस दिन कौल साहब ने कहा था– समाज को, पर्यावरण को, देखना-समझना उसके देखने-समझने और विकसित करने की दृष्टि पाना भी विज्ञान है, तो विज्ञान एक तरह का दृष्टिकोण हुआ।'

कार्तिक विज्ञान को देखने की एक दृष्टि, एक तरीका मानता है और नाटक को अंतस्संबंधों में खोजा जा सकता है, जैसे आदमी और आदमी के बीच में, आदमी और प्रकृति के बीच में, आदमी और जानवरों के बीच में, यहाँ तक कि आदमी और उसके बनाये यंत्रों के बीच में भी वे सभी मित्र वैज्ञानिक विषय खोज रहे हैं जो जीवन को छूते हों, फिर उनमें नाटक की तलाश की जाये।

विज्ञान का मनुष्य का पक्षधर्मी होना, विशेष था। समिति के अगले कार्यक्रम पर विचार के लिए प्रस्तुत कार्तिक ने कहा– गैस त्रासदी के बाद पूरे देश में और हमारे प्रदेश में भी इस बात को लेकर चेतना है कि विज्ञान का विस्तार आम आदमी के पक्ष में ही होना चाहिए कि सही समझ से ही इसकी दिशा बदलना संभव है और दिशा बदलना जरूरी है। हम प्रतिरोध का एक बड़ा आंदोलन विज्ञान के आधार पर खड़ा कर सकते हैं। रामनारायण की धारणा थी कि इसमें खदानों, तालाबों, जंगलों, पानी, जमीन की लड़ाई को भी जोड़ें। वैज्ञानिक दृष्टि पूरे समाज को समेटती है। इन आंदोलनों को साथ लेने से हमें भी ताकत मिलेगी।

कार्ल मार्क्स मनुष्य और कुदरत के संबंध जैसे प्रश्न पर कहते हैं कि इस तरह आप मनुष्य और कुदरत को अलग-अलग करके देख रहे हैं जो कि अनुचित है।

अपनी आम आदमी के पक्ष में विज्ञान की बात को और मजबूती देने के लिए उपन्यासकार अनिल कुमार और कार्तिक के बीच संवाद करवाते हैं जिसमें अनिल कुमार कहते हैं कि विज्ञान कोई राजनीति-निरपेक्ष चीज नहीं है। विज्ञान की एक राजनीति है? सामान्य रूप से हमारे समय में विज्ञान का उपयोग शक्तिशाली को और सशक्त बनाने तथा निर्बल का बल क्षीण करने में हो रहा है। लेकिन इस दिशा को बदला जा सकता है। एक जनपक्षीय विज्ञान की दिशा भी है, जो जानता के बीच छुपी वैज्ञानिक दृष्टि, उसकी खोजी दृष्टि को पहचानती है तथा विज्ञान के फायदों को वहां तक ले जाना चाहती है।

संतोष चौबे विज्ञान को उसके समग्र रूप में देखते हैं, एकांगी पक्ष को नहीं। कार्तिक ने पार्टी के लिए जो नोट तैयार किया उसका एक अंश है–

'अब विज्ञान-आंदोलन का जो अर्थ हम समझते हैं, उसके कुछ मूल सिद्धांत इस प्रकार है– एक, किसी भी देश में विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति को वहाँ के समाज और सामाजिक परिस्थितियों से काटकर नहीं देखा जा सकता। दो, हमें विज्ञान को एकांगी स्वरूप में नहीं, उसके समग्र स्वरूप को देखना होगा। हमारा विज्ञान, विज्ञान में संवेदनशीलता की और संवेदनशीलता में वैज्ञानिक दृष्टि की जरूरत पर बल देता है। इसलिए हम

स्वास्थ्य को गरीबी से, पर्यावरण को जनसंख्या वृद्धि से और साक्षरता को सामाजिक उपयोगिता से काटकर नहीं देख सकते। तीसरा बिन्दु यह कि ज्ञान-विज्ञान विश्व की सामूहिक धरोहर है और उसके विकास में इतिहास के अलग-अलग दौर में सभी राष्ट्रों का योगदान रहा है। इसलिए यह कहना गलत होगा कि पूर्व मूलतः अध्यात्मिकतावादी-रहस्यवादी है और पश्चिम मूलतः भौतिकवादी-विज्ञानवादी। पश्चिम ने सदा रंग, बुद्धि, बल, विज्ञान सभी क्षेत्रों में खुद को सर्वश्रेष्ठ कहा है और भारत को पिछड़ा हुआ, जादू-टोने में विश्वास करने वाला देश बताया। ज्ञान-विज्ञान के विकास में मनुष्य की मुक्ति की सम्भावनाएँ छुपी हुई हैं।

(पृ. 206)

कार्तिक ने कुछ मित्रों के साथ मिलकर विज्ञान के साथ साक्षरता का काम भी हाथ में लिया। महिलाओं, बच्चों और दलित वर्ग में काम की असीम संभावनाएँ थीं।

मित्रों में सरफराज अजीब हरकतें कर रहा था। छोटी-छोटी बात में दोष निकालकर कॉमरेड मोहन को भड़का रहा था। कार्तिक ने रामनारायण से कहा– 'मुझे कॉमरेड मोहन की बात पर इतना आश्चर्य नहीं हुआ जितना सरफराज के व्यवहार पर। आखिर वह बैठक क्यों करवाना चाहता था जब काम का बँटवारा एक दिन पहले ही हो चुका था? फिर कामरेड मोहन से शिकायत क्यों? मुझसे बातचीत क्यों नहीं?'

'इसलिए कि वह यह सिद्ध करना चाहता था कि तुम कहीं भी अकेले निर्णय लेने को स्वतंत्र नहीं हो। तुम्हारे ऊपर एक कमिटी है और तुम्हें पल-पल में पूछते रहना चाहिए। तुम पार्टी को नहीं जानते। मेरा ख्याल है कि सरफराज को तुम्हें बैलेंस करने के लिए लगाया गया है। उसे आगे भी महत्त्व दिया जाता रहेगा। हमारे यहाँ महत्त्व पाने का एक सरल तरीका है साथियों के बारे में गलत-सलत रिपोर्टिंग।'

(पृ. 141)

कॉमरेड मोहन के बारे में उनके निर्णय हर समय पॉलिटिकल होंगे, नैतिक आधार पर नहीं। अगर एक बढ़ते हुए आंदोलन पर नियंत्रण बनाए रखना है तो सरफराज को महत्त्व दिया जाता रहेगा।

संतोष चौबे आन्दोलनों की असफलता के आंतरिक कारणों को बखूबी व्यक्त कर रहे हैं। वह व्यक्ति जिसने जनान्दोलन के लिए घर-बार छोड़े रखा, अच्छे भले कैरियर को लात मारकर संग्राम में कूद पड़ा, उसे परेशान करने के कारण खोजे जा रहे हैं।

सरफराज गलतबयानी कर, फुसफुसाहट कैंपेन चला कर एक साथी के खिलाफ अन्यों को उत्तेजित कर रहा था और खुद मूक बना रहना चाहता था। कार्तिक ने उसे एक पत्र लिखकर अमूर्त को मूर्त कर दिया। 'तुम केन्द्र को संचालित करना चाहते हो, बाकी नीचे का आंदोलन भाड़ में जाये। विकेन्द्रीकरण तुम्हारे लिए एक बोगी है जिसके माध्यम से तुम खुद केंद्र में सत्ता हथियाने चाहते हो, अच्छा व्यवहार एक तरह की बचकानी अपेक्षा है।' व्यस्क विश्व में व्यस्क व्यवहार की अपेक्षा की जानी चाहिए। समालोचना की बात पर कहा– 'क्या यह समालोचना है कि एक व्यक्ति के साल भर के काम की अनदेखी कर छोटी सी भूल के लिए उसे बुरी तरह प्रताड़ित किया जाए?'

(पृ. 178)

साक्षरता आन्दोलन का काम करते हुए कार्तिक की भेंट डॉ. नारायणन से हुई। उन्होंने लड़ाई बुद्धिमानी से लड़ने को कहा। तीन बातें लड़ाई को लेकर स्पष्ट कीं। पहली, अगर किसी सत्ता के प्रतीक को उलटाने की जरूरत पड़े तो सीधे उसकी कुर्सी पर जाकर धक्का मत दो। उसकी कुर्सी के नीचे की जमीन खोदना शुरू करो। दूसरे, अगर तुम्हारे सामने प्रतिरोध की दीवार खड़ी हो जाये, तो दीवार से सिर टकराना मूर्खता होगी। तुम दीवार से ऊँचा पेड़ तलाश करो और पेड़ पर चढ़कर दूसरी ओर कूदने का प्रयत्न करो। तीसरे, अगर सौ आदमी तुम्हारी राह रोकने खड़े हों तो उनसे लड़ने के बदले उनसे कन्नी काटकर निकल जाना ही बुद्धिमत्ता है।

पार्टी के बारे में भी स्पष्ट किया– पार्टी कोई एक व्यक्ति या एक ही विचार नहीं है। उसके भीतर भी तरह-तरह के व्यक्ति और तरह-तरह के विचार होते हैं। उन सबसे मिलकर पार्टी बनती है। पार्टी बाहर के दुश्मनों तथा विचारों से लड़ती है, पर पार्टी के भीतर समूह अपने वर्चस्व की लड़ाई लड़ते रहते हैं।

कार्तिक पूछता है कि समय मार्क्स के समय से डेढ़ सौ साल आगे का आ चुका है। नई तरह के आंदोलन विकसित हो रहे हैं, नई-नई तकनीकें आ रही हैं। पर्यावरण और महिलाओं के बड़े आंदोलन हैं, विज्ञान को लेकर दुनिया भर के संगठन हैं। सूचना और संचार के प्रभाव हैं, जो पार्टी की सत्ता को ही चुनौती दे रहे हैं। क्या पार्टी को इन सबको नहीं देखना चाहिए। उन्हें देखना ही पड़ेगा। नहीं देखेंगे तो पुराने पड़ जायेंगे।

मार्क्सवाद केवल दृष्टि देता है। उस दृष्टि को लागू करना समझदार जुझारू लोगों का ही काम है। जिन नई दिशाओं में मार्क्सवाद का अध्ययन और विकास हो रहा है, उनमें पर्यावरण का सवाल है। बेलामी फास्टर की किताब, 'द वर्ल्नेवल प्लैनेट : ए शार्ट इकोनॉमिक हिस्ट्री आव द एनवायरमेंट' 1999 में छपी। धरती पर बढ़ रहे खतरों की बात हुई। एंगेल्स की किताब 'परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य सत्ता का उदय' में स्त्री-प्रश्न भी उठाये गये, जिसका 2010 में पेंग्विन से पुनःप्रकाशन हुआ।

डॉ. नारायणन ने एक और खास बात का खुलासा किया– हमारी पार्टी में अपने विरोधियों को मारने के तीन तरीके हैं। उनमें पहला और बहुत लोकप्रिय तरीका है अपने विरोधी को सी.आई.ए. एजेंट घोषित कर देना और उसके खिलाफ केंपेन चलाना। दूसरा, यह कहना कि फलाँ आदमी भ्रष्ट है, और बिना भ्रष्टाचार सिद्ध किये यह कहते रहना कि वह भ्रष्ट है। तीसरा, कह देते हैं कि फलाँ वूमनाइजर है– स्त्रियों के पीछे भागता है। साक्षरता अभियान में कार्तिक को अजीब-अजीब सवालों का सामना करना पड़ता– लोगों को रोटी नहीं मिल रही, आप साक्षरता की बात करते हो। मजदूर दिन-भर काम करेगा तो शाम को आराम करेगा कि आपकी कक्षा में आयेगा? औरतों को कौन रात में आने देगा? कार्तिक प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दे रहा था। डॉ. नारायणन ने स्पष्ट शब्द में कहा– 'दोस्तो, हम लोग आजादी की दूसरी लड़ाई शुरू करने जा रहे हैं। यह निरक्षरता से मुक्त होने की लड़ाई है। यह खुद को आजाद करने की लड़ाई है। एक बार हमने इसे जीत लिया तो कोई भी क्षेत्र हमसे छूट नहीं पायेगा। हम प्रगति के नये रास्ते तलाश करेंगे।'

(पृ. 194)

कार्तिक जैसे जनहित चिंतक, कर्मठ, ईमानदार व्यक्ति को चोट तब लगती है, जब रामनारायण से पता चलता है कि कॉमरेड मोहन कह रहे थे कि उन्होंने कितनी शांति से कार्तिक को निपटा दिया। कार्तिक का उत्तर है– ओह तो कॉमरेड मोहन खुद इस खेल में शामिल थे? यह जनांदोलन खड़ा करने और क्रांति की जमीन तैयार करने वाली पार्टी नहीं, खेल खेलने वाली पार्टी थी, कुछ घटिया मनोवैज्ञानिक खेल उन्हें मुबारक। अगर ये कुछ कुर्सियाँ, टेबलों, अल्मारियों तथा एक गाड़ी पर ही कब्जा चाहते हैं तो ये उन्हें मुबारक।

पार्टी स्तर की संकीर्ण सोच, अव्यावहारिक कदम, कर्मठ लोगों के प्रति सुनी–सुनायी के आधार पर सन्देह और प्रश्नवाचकता कितनी नुकसानदेह होती है, सन्तोष चौबे इस बात का लगातार उपन्यास में अहसास करवाते हैं। कार्तिक एक बार फिर दोराहे पर था। उसे लगता था कि संगठनों पर कब्जे की राजनीति एक बचकानी और घटिया राजनीति है। उसके सामने तीखे सवाल थे– यह कौन–सी जनतांत्रिकता थी कि जिसमें आपके बारे में मत बनाते समय आपसे पूछा तक नहीं जा रहा था? यह कौन–सी केंद्रीयता थी कि जिसमें सिर्फ कॉमरेड मोहन केन्द्र में थे, किसी और व्यक्ति या विचार की वहाँ कोई जगह नहीं थी? यह कौन–सी पारदर्शिता थी जिसमें हँसकर हाथ मिलाये जाते थे और पीठ फिरते ही जहर–भरे तीर चला दिये जाते थे? यह कौन–सी पार्टी थी जो खुद गुटों को प्रश्रय देती थी और दूसरों के सामने एकता का दंभ भरती थी?

(पृ. 326)

आखिर वह व्यक्तिगत मान्यता के लिए काम नहीं कर रहा था। उसने रघु को लिखे पत्र में सॉमरसेट मॉम की लिखी 'मून इन सिक्स पेंस' याद आयी जो कि गॉगा नामक पेंटर के जीवन पर आधारित थी। जब कथानायक जो पेंटिंग में नये प्रयोग कर रहा है, पेरिस के आलोचकों के बारे में कहता है– अब वे मुझे मान्यता देने और न देने का खेल रचेंगे और इस तरह मुझे झुकाने की कोशिश करेंगे। इसके लिए वे नये–नये विश्लेषण गढ़ेंगे और सिद्ध करने की कोशिश करेंगे कि वे विषय के महाज्ञानी हैं, जबकि मेरी रचनात्मकता से पूरी तरह अनभिज्ञ होंगे। फिर मैं

उनकी चिंता क्यों करूँ?

(पृ. 351)

केदार के साथ बातचीत भी उल्लेखनीय है– राजनीति का मतलब है राज करने की नीति। आप जहाँ भी हैं वहाँ राज करने की नीति भी है। और ऐसा करते ही आप अपने-आप को एक दूसरे या समूह के विरुद्ध खड़ा पाते हो जो खुद भी अपनी राजनीति चला रहा होता है। अब दोनों ही किसी न किसी तरह का सच खोलेंगे जो राजनैतिक सच होगा और वास्तविक राजनीति से अलग होगा। राजनीति वह जगह नहीं जहाँ सच की तलाश की जा सके।

उपन्यास में कामरेड मोहन आत्महत्या कर लेता है। आत्महत्या नोट में लिखा था– पार्टी का काम ठीक से नहीं कर पा रहा है।

'क्या पता कॉमरेड मोहन' संतोष चौबे का राजनीतिक उपन्यास है। हिन्दी में ऐसे वस्तुपरक उपन्यास कम ही हैं, जिन्हें सृजनात्मक स्तर पर भी न्यायोचित पहचान मिली हो। प्रगतिशीलता के नाम पर आंदोलनों और पार्टी के पीछे खींचने की नीति का अच्छा खुलासा हुआ है। आज जनांदोलनों की थोड़ी सफलता बड़ी असफलता के कारणों तक जाने की चेष्टा भी है।

अनुवाद में भाषा की नयी सम्भावनाओं की तलाश

विजय कुमार

उत्तर-आधुनिकता या बीसवीं सदी में तीन-चार दशकों में जो सारे विमर्श बने हैं, उनको लेकर हिन्दी में कुछ अजीब-सी स्थिति है। या तो एक सिरे से उनको खारिज कर दिया जाता है, बिना पढ़े, बिना समझे या दूसरी तरफ उनका एक महोत्सव, एक सेलिब्रेशन किया जाता है, सिर्फ इसलिए कि मार्क्सवाद को हम ये दिखायें कि मार्क्सवाद खत्म हो गया है, अब तो ये उत्तर-आधुनिकता है। उत्तर-आधुनिकता को मार्क्सवाद के विरोध में जिस तरह से हमारे यहाँ कुछ अपढ़ और कुछ ज्यादा पढ़े हुए लोगों ने समान रूप से विकृत किया है, मैं समझता हूँ कि उस पृष्ठभूमि में संतोष चौबे द्वारा अनूदित 'लेखक और प्रतिबद्धता' और 'मॉस्को डायरी' जैसी किताबों का बहुत महत्त्व है।

मैं किताबों को देख रहा था– सन्तोष जी ने जिस सरल तरीके से, जिस तरह से बहुत ही स्पष्ट तरीके से ल्यूसिटिडी के साथ चीजों को सामने रखा है– अनुवाद में भी और अपनी भूमिकाओं में भी– वो सामान्य पाठकों तक इन तीनों बड़े विचारकों को और एलाइटिस के निबन्ध को, क्योंकि अक्सर होता यह है कि हमारे यहाँ हिन्दी में विदेशी नामों का एक हौव्वा क्रियेट किया जाता है, ऐसा कुछ रखा जाता है कि हे हिन्दी के मूर्ख पाठक! तुम कुछ नहीं जानते, लो मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

ये जो कम्युनिकेट करना है और बिना हौव्वा बनाये लोगों को– ये भी मनुष्य हैं, इन्होंने भी जीवन जिया है, इन्होंने समाज की और इस जगत की व्याख्याएँ की हैं। वो किस कदर हमारे काम की हैं या कितना हम उसमें

से ले सकते हैं, ये सारी भूमिकाएँ एक संघर्ष का हिस्सा हैं, खासतौर पर हमारे समय में जब हम यह मानते हैं कि मार्क्सवाद लगभग खत्म हो गया है तब हम नये सिरे से बहुत सारी बहसों को उठा सकते हैं और आज के समय की जटिलताओं के साथ मार्क्स के और मार्क्स के बाद के उस धारा के सारे चिन्तन को एक नयी पॉजिटिवी के साथ सामने रख सकते हैं।

ये जो समय है, ऐसा कहा जाता है कि इन तीन–चार दशकों में इतना पानी नदियों में बह गया है और खुद मार्क्सवाद के चिन्तन में इतना कुछ विकास हुआ है कि उसको एक सिरे से समझना और उसका एक कैप्सूल कार्यक्रम बनाना बहुत मुश्किल है। पूरी बीसवीं सदी सारी उथल–पुथल की, बड़ी घटनाओं की, विचारों की सदी है और उसकी एक लम्बी यात्रा बहुत जरूरी है। एक संक्षिप्त से वक्तव्य में हम कुछ नोंक और कॉर्नर्स को छूते–छूते, मेरे लिए सुविधा यह है कि सन्तोष जी ने इन तीन विचारकों को रखा है तो मैं उनको सामने रखकर अपनी बात कर सकूँगा और इसमें मुझे ज्यादा लम्बा खींचने की आवश्यकता नहीं होगी।

मैं अपने समय को इस रूप में देखता हूँ, हमारा इस समय का सबसे बड़ा खतरा यह है कि हर चीज को एक कमोडिटी, एक वस्तु बनाया जा रहा है। पर यह वो समय है जो छवियों ने– छवियाँ क्या होती हैं, कि वास्तविकता का प्रतिफलन होती हैं, किसी वास्तविकता का प्रतिबिम्ब होती हैं। छवियों में वास्तविकता को ओट में कर दिया है। अब जो कुछ भी है इस संसार में, सिर्फ छवियाँ हैं, और छवियाँ इस कदर हम पर लादी जा रही हैं, सुबह से शाम तक हम पर एक तरह का आक्रमण है। यानी पिछली शताब्दी में कहा जाता था कि शब्द ने नरेशन को रचा था, वर्णात्मकता को रचा था। आज शब्द को हटाकर छवियाँ हैं। छवियाँ एक खास तरह की वर्णात्मकता को, जिसको कि 'ऑल परमेसिव नरेशन' कहा जाता है, इतना ज्यादा आप पर आक्रमण है कि आप कुछ भी न सोचें।

दूसरी चीज जो इस बीच घटित हुई है कि दूसरे महायुद्ध के बाद से ही संस्कृति का उद्योग जिस तरह से खतरनाक रूप ले चुका है, उस पर बातें होती रहीं कि संस्कृति देश और सुपर स्ट्रक्चर की पुरानी धारणाओं

से आगे जाकर अब एक उद्योग के रूप में है, और यह उद्योग जनमानस की विचारधारा पर, जनमानस के सोचने को नियंत्रित करने का सबसे बड़ा औजार है।

आज बाहर की, विदेशों की बात छोड़िये, हम अपने भारत में छोटे-छोटे गाँवों-कस्बों में जिस तरह से देख रहे हैं, टेलीविजन ने लोगों पर मदहोशी-सी रच दी है। यानी आप सारी चीजें– आज जीवन का ऐसा पक्ष नहीं है जो टेलीविजन की व्यावसायिक संस्कृति के अब दायरे में न हो और आपके लिए कोई अवकाश नहीं बचा है। यानी यह तक आपको बताया जा रहा है कि कैसे आप हँसे, कैसे रोयें, कैसे उदास हों, कैसे फुर्सत को रचें, क्या चुनें, क्या ना चुनें। यानी सबकुछ आपका छवियों के द्वारा निर्मित किया जा रहा है।

और दूसरी चीज इसमें एक बहुत बड़ी दुर्घटना है कि सारी चीजों का मूल उद्देश्य सफलता माना जा रहा है। जब सफलता सारी चीजों का मूल उद्देश्य बन जाता है तो हमारे समय की जो गति है वो आपको एक बोध देती है कि आप कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा उपलब्ध करें। टाइम इकॉनॉमी इस पूरी टेलीविजन संस्कृति का, छवियों की संस्कृति का एक मुख्य अंग है। और जब आपके पास समय की किफायत को सबसे मूल अस्त्र बना दिया जाता है तो सोचना सबसे फालतू चीज होती है। यानी एक पहले का समय था लोग सोचते थे, विचार करते थे, कुछ फिलॉसफी होती थी, कुछ मनोशास्त्र होता था, कुछ अपने सुख-दुख को एक बड़े परिप्रेक्ष्य में रखने की बात होती थी। आज लोग मिलते हैं, बैठते हैं, तो सिर्फ वो क्या खरीदा, क्या बेचा, क्या आपके पास है, क्या नहीं है, क्या आगे की योजनाएँ हैं– या तो आपकी बहुत निजी बातें हैं या उससे आगे जाकर देश और समाज के बारे में एक पूरी तरह का सिनिकल एटीट्यूड है। ये हमारे उस मध्यवर्ग की विशेषता है। अब किसी भी मनुष्य की नियति, समाज के भविष्य और आने वाले दिनों के स्वरूप पर अब कोई बात नहीं करता। आप ड्राइंगरूम में बैठकर ज्यादा बात करना चाहते हैं तो उसको यह समझा जाता है कि आपके दिमाग का फितूर है। काम करिये, पैसा कमाइये, अपने काम-धन्धे की बात करिये।

ये जो समय है, एक तरफ छवियाँ आपको पूरी तरह नियंत्रित करती हैं और दूसरी तरफ सोच को सबसे फालतू चीज माना जाता है। उस दौर में जब आप देखते हैं कि तमाम प्रकाशन गृह, पत्रिकाएँ, रेडियो, टेलीविजन, ध्वनि और छवि का पुनर्मुद्रण डीवीडी और सीडी ये सारी चीजें, जैसे कि एक अजीब तरह की रणनीति उन्होंने आपके चारों तरफ बनायी हुई है।

आप देखिये कि पल्प फिक्शन जो है, क्राइम थ्रिलर्स हैं, टेलीविजन सीरियल्स हैं, रियलिटी शोज हैं, विशाल खेल प्रदर्शन हैं, विराट संगीत के रॉक म्यूजिक के कार्यक्रम हैं– आप इनमें उमड़ती हुई भीड़ को देखिये। आप देखेंगे कि एक अजीब तरह का खौफ पैदा होता है, कि किस्म का वहशीपन सारे सामूहिकीकरण में दिखाई देता है– ये किस तरह से? यहाँ तक कि धार्मिक सभाओं में भी बॉस हमारे गुरु लोग हैं, रात-दिन प्रवचन कर रहे हैं, और सुनने वालों का जो एक उसका भीतरी उन्माद है, जिस तरह से बहा ले जाने वाला एक उन्माद है– उसमें सबसे मुश्किल काम यह हो गया कि आप रुकें, सोचें, इस समय को परिभाषित करें, आप देखें कि मेरी नियति इस समय के साथ कैसी जुड़ी हुई है।

दूसरी एक और चीज है– सच्चाई। पहले के समय में यह होता था कि एक मेटाफोरिकल डिस्कशन का विषय होता था कि सत्य क्या है? अब सत्य वो है जो हम आपको दिखा रहे हैं, आप इससे बाहर कोई सत्य न सोचें। यहाँ तक कि आपके सोचने के दायरे को क्या सोचा जाना है, क्या नहीं सोचा जाना है– ये तक बाहर की शक्तियाँ निर्धारित करती हैं। और सीट और रीजन जिसे कहा जाता है, कि तर्क की जो जगह है, वो लगभग सिकुड़ गयी है। ल्योतार ने कहा था कि एक ऐसी दुनिया, जिसमें समय को किफायत से जोड़ा जाता है, थिंकिंग सबसे ज्यादा फालतू चीज है। सोचना सबसे फालतू चीज है।

ये सारी वर्चस्ववादी संस्कृति जो आपके सामने है, इसमें मुझे लगता है कि पिछले तीन-चार दशकों में एक तरफ तो यह आक्रामकता है जिसमें सारी चीजें आपको बाहर ले जाने के लिए आतुर हैं। दूसरी ओर अकादमी में क्या चिन्तन हुआ? बीसवीं सदी को अगर आप देखें, दूसरे महायुद्ध के बाद से ही यह एक चिन्ता का विषय बन गया था कि आधुनिकता की

परिणति जिस तरह से विराट मानवीय समुदायों को नियंत्रित करने में हुई है और प्रचार तंत्र की जिस तरह की भूमिका हो गयी है, जिस तरह से उसमें एक वहशीपन को फैलाया जाता है और सारे के सारे भीड़-तंत्र को एक दिशा में हाँका जाता है, यह फासिज्म का सबसे भयानक अस्त्र है। आप बिना आदेश दिये सिर्फ संस्कृति उद्योग के द्वारा, सिर्फ प्रचार के द्वारा, सिर्फ छद्म चेतनाओं के द्वारा जनमानस को जिस तरह से नियंत्रित करते हैं– इसमें एक लेखक, या एक कलाकार, या एक बुद्धिजीवी की क्या भूमिका होती है?

युद्ध के बाद आधुनिकता का एक ऐसा समय था जब यह कलाकार कहता था कि अगर सारी भीड़ एक तरफ जा रही है तो मेरी कला अपने एकान्त को रचेगी और मैं इस भीड़ में शामिल नहीं होता। मेरा अपना जो स्पेस है, वो इस सारे संस्थानीकरण के खिलाफ है। तो ये आवाँगार्द किस्म की कला थी जिसमें वाल्टर बेंजामिन जिस चीज को सपोर्ट करते थे, ब्रेख्त करते थे कि- 'ये ऐसी आवाँगार्द कला है जो मनुष्य के एकान्त, उसके विखंडन को रचेगी और ये देखेगी कि सारे नरेशन के बीच में जो सारी सामूहिकता का बोध है, उसके बीच में हम विखंडन को पैदा करेंगे। हम अपने मनुष्य की विकलता को, अपने एकान्त को रचेंगे।' ये आवाँगार्द कला संस्थान के काम की नहीं थी और उन्होंने माना कि ये बड़े जेनुइन किस्म के लोग हैं और निश्चित रूप से बीसवीं सदी के युद्ध और युद्ध के बाद के समय में बहुत सारी दुनिया-भर में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इस आवाँगार्द कला के साथ रची गयीं।

और उसके बाद अचानक साठ का दशक आया। साठ के दशक में एक बुर्जुआ समाज व्यवस्था के खिलाफ पश्चिम में बड़ा विद्रोह हुआ, छात्र असन्तोष हुआ, वियतनाम का युद्ध हुआ, और दुनिया-भर में नागरिक अधिकारों की, यहाँ तीसरी दुनिया के स्वतंत्र हो रहे देशों की अपनी आवाज दी, तो एक नयी तरह की खलबली पैदा हुई। साथ ही साथ यह देखा जा रहा था कि जिस विरोध को या जिस आवाँगार्द कला को पिछले दशकों में हमारा एक कलाकार रच रहा था, वो आवाँगार्द कला तो अब इस व्यवस्था का अंग बन गयी। उसने उसका एप्रोप्रिएट कर लिया, उसको

अपने भीतर समाहित कर लिया।

एक छोटा-सा उदाहरण है- फ्रेडरिक जेम्सन ने लिखा है कि वेन गॉग के जूते थे। किसान के जूते, जो फटे हुए जूते हैं और उनमें धूल लगी हुई, कीचड़ लगी हुई, उसकी कीलें हैं, एक बड़ा-सा चित्र बनाया और सबसे उपेक्षित चीज वेन गॉग ये दिखा रहे थे कि ये चीज है जिसको फोकस किया जाना चाहिए, क्योंकि इन जूतों से किसान का जीवन जुड़ा हुआ है और आपको वह स्मृति की दुनिया में ले जाता है। लेकिन उसी के बाद एक ऐसी कला आयी, उत्तर-आधुनिकता जिसको हम कहते हैं, एण्ड्री वॉरहोल की थी, उसमें डायमंड शूज बनाये। वो शूज लटके हुए हैं। उनमें इतनी चमक है कि वो जूते आप पर लगभग आक्रामक छवि की तरह, जूतों की कोई स्मृति नहीं है, कोई इतिहास नहीं है। ये नहीं पता चलता कि जूते किसके हैं। सबसे बड़ी बात तो लोगों ने यह देखा कि जिस कला को आप ये समझते थे कि ये कला प्रतिरोध की कला है, वह कला तक व्यवसाय ने अपने भीतर खफा ली। तो आर्टिस्ट क्या करेगा, कलाकार क्या करेगा, बुद्धिजीवी क्या करेगा?

साठ के दशक में दो-तीन बहुत बड़ी घटनाएँ हुईं। बौद्धिक क्षेत्र में एक घटना हुई- लेविस ट्रॉस का जो मनुष्यशास्त्र का एन्थ्रोपॉलॉजिकल चिन्तन था। वे ब्राजील गये थे, लैटिन अमेरिका गये थे और वहाँ उन्होंने कबीलाई समाजों का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि इनके मिथक जो हैं, पश्चिम के आधुनिकता के पैरलल उनकी अपनी समाज व्यवस्था है, उसमें विकास है। पश्चिम का ये जो यूरो-केन्द्रित श्रेष्ठ सोच है, ये किसी काम का नहीं है। एन्थ्रोपॉलॉजी में यह एक बहुत बड़ी खोज थी अफ्रीकी देशों के कबीलों के अध्ययन में और दूसरी चीजों में। उन्होंने यह कहा कि- 'जो ऐसे समाज हैं, जो आदिम समाज हैं उनमें भाषा नहीं है, लिखित भाषा नहीं है। फिर भी वो जीवन जी रहे हैं। अपनी संकेत प्रणाली है।' तो ये जो भाषा है, ये भाषा जो एक प्रिविलेज क्लास की भाषा है, और भाषा का गोरखधन्धा सबसे भयानक है। हमारा सारा शक्ति का खेल जो है, इसी भाषा के भीतर रचा जाता है।

लेविस ट्रॉस ने दूसरी चीज बहुत महत्त्वपूर्ण कही। ये फ्रांस के दार्शनिक

थे। उन्होंने कहा कि ये सार्त्र वगैरह, जो युद्ध के बाद के चिन्तक थे, ये बड़ी मेटाफोरिकल फिलॉसफी की बातें करते थे। अब तो फिलॉसफी को आपको समाज विज्ञान से जोड़ना है, आपको मनोविज्ञान से जोड़ना है, आपको साहित्य रचना से जोड़ना है। आपके पास तमाम तरह के नये-नये ज्ञान के प्रकार हैं। ये एकेडिमिक फिलॉसफी की, जो बड़ी संसार, माया और अस्तित्व की चिन्ता करती थी– इस फिलॉसफी का क्या अर्थ है?

तो यह जो नयी तरह का चिन्तन आया, दूसरा इसी बीच में भाषा की बात हो रही थी। एक और चिन्तक आये– जेक्लूस लेका। ये भी फ्रेंच के थे। इन्होंने मार्क्सवाद और फ्रायड के दर्शन को जोड़ते हुए एक नयी थीसिस रखी कि भाषा हमारे बहुत सारे रहस्यों को छिपाने का काम करती है, भाषा उजागर नहीं करती और इसी परम्परा का विकास देरिदा जैसे चिन्तकों में होता है, जो वो कहते हैं– मैं बहुत सिम्पलीफाई करके बोल रहा हूँ, क्योंकि मैं एकेडिमिक में नहीं जाना जाता। देरिदा ने यह कहा कि अगर भाषा इस तरह से छिपाने का काम करती है या एक व्यक्ति की भाषा सिर्फ उसकी अपनी भाषा नहीं है, भाषा का अपना सिर्फ इतिहास है तो व्यक्ति जो कह रहा है, उसको कितना यकीन मानें! क्या वो किसी भी सच को कह सकता है? अगर मैं किसी शब्द का चयन करता हूँ तो मेरी अपनी ऐतिहासिक चेतना है, मेरी अपनी वर्ग स्थिति है– तो मैं किस सच को कहूँगा? देरिदा ने कहा– जिस सच को हम कहते हैं कि ये अन्तिम है, ये एप्सल्यूट सच है। भाषा कभी इसको व्यक्त नहीं कर सकती। ये भाषा सबसे ज्यादा धोखादेय चीज है। तो भाषा का विखंडन शुरू हुआ। उन्होंने कहा, आप जो वक्तव्य दे रहे हैं, उस वक्तव्य की बारीकियों में, उसकी बात की खाल को निकालते हुए मैं आपके मन्तव्य पर जाऊँगा, तब भी मैं ये नहीं कह सकता कि मैं अन्तिम निर्णय दे रहा हूँ। तो लगातार अर्थ के स्थगन का।

ये बहुत महत्त्वपूर्ण थ्योरी थी, जिसको कि उन्होंने दूसरे महायुद्ध के बाद जिस तरह से एक मेटानेरेटिव बन रहा था फासिज्म का, उसके खिलाफ यूनिवर्सिटीज में एक सोच शुरू हुई। यहीं पर आपको दिखाई देते हैं फ्रेडरिक जेम्सन और टैरी इगिल्टन।

इसके पहले वाल्टर बेंजामिन से एक खास तरह की पृष्ठभूमि इन चिन्तकों को मिली। वाल्टर बेंजामिन बहुत अजीब तरह के व्यक्ति थे। इनमें इतने सारे तत्त्व एक साथ मिले हुए थे कि वे मार्क्सवादी थे भी, कहीं नहीं भी थे, और मार्क्सवाद के भीतर एक जिस तरह का एक सरल-रेखीय चिन्तन हो रहा था, उसमें लगातार बेंजामिन ने अपनी तरह से हस्तक्षेप किया। लगातार! वो आये थे जर्मन स्वच्छन्दतावाद की परम्परा से। वो यहूदी रहस्यवाद उनके भीतर था। मार्क्स को आकर्षित करता था। ब्रेस्ट से उनका सन् 1926-27 के आसपास परिचय हो चुका था। तो इतने सारे तत्त्व वाल्टर बेंजामिन में काम कर रहे थे। साथ ही साथ वे ये देख रहे थे कि दो चीजें एक साथ घटित हो रही हैं। एक तो उत्पादन की जो यांत्रिकी प्रणाली है, इतनी तेज हो गयी और दूसरी ओर फासिज्म भी उतनी ही तेजी से बढ़ रहा है। बेंजामिन की चिन्ता इस बात की थी कि इसमें मनुष्य किस तरह का है, किस तरह का जीवन जी रहा है। वो बजाय बाहर से किसी चीज को देखने के, वो उस मनुष्य को एक बड़ा उनका प्रसिद्ध मुहावरा है– 'फीजियोगोमी' और एक 'दृश्य प्रपंच' जिसका शब्द है, और दूसरा उनका 'फिण्टा सिमेगोरिया'।

ये शब्द बेंजामिन अक्सर अपने लेखन में इस्तेमाल करते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी मनुष्य किसी एक व्यवस्था में जी रहा है, वह मनुष्य किस तरह का व्यवहार कर रहा है। मेरे लिए उस मनुष्य के व्यवहार की, उसके रोजमर्रा की सच्चाई, उसकी छोटी-छोटी बातें, उसका किसी चीज के साथ कैसा जुड़ाव है– इसका अध्ययन करना बहुत जरूरी है।

इस बीच में वाल्टर बेंजामिन पेरिस में– वहाँ पर जो मार्केट, जिस तरह के आज हम लोग शॉपिंग मॉल देख रहे हैं, इसकी 19वीं सदी में पेरिस में एक भूमिका बन चुकी थी। वो देख रहे थे कि काँच के बड़े-बड़े बाजार बने हुए हैं, जिनके भीतर मौसम एक तरह का कर दिया है, दिन है कि रात है ये मालूम नहीं पड़ता है और वस्तुओं की इतनी बड़ी चमक एक आदमी के चारों ओर पैदा कर दी गयी है कि आदमी लगभग एक भूल-भुलैया में फँस गया है। वाल्टर बेंजामिन का एक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है कि– 'शॉपिंग आर्केड वो गलियारे हैं, स्वप्नों की तरह, जो भीतर की

तरफ खुलते हैं।' यानी आप उस भूल-भुलैया में एक बार गये, वस्तुओं के इस संसार में गये, तो वहाँ से आप निकल पायेंगे कि नहीं। ये पूँजीवाद का एक नया रूप वो देख रहे थे। दूसरे, इसी के साथ-साथ वाल्टर बेंजामिन के साथ एक बड़ी अवसाद की स्थिति थी। वह यह देखते थे कि बाहर से लादी हुई जो भी चीजें हैं, वो पता नहीं मुझे अर्थ दे पायेंगी, नहीं दे पायेंगी। इसलिए वे विखंडन को बहुत ज्यादा महत्त्व देते थे।

मार्क्सवाद में इससे पहले एक मैटानरेटिव की भूमिका थी। वाल्टर बेंजामिन कहते थे कि मनुष्य के भीतर का जो स्वप्न जगत है, जो उसका अवचेतन है, वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इस अवचेतन के माध्यम से एक मनुष्य की टोटलिटी को परिभाषित करना बहुत जरूरी है।

अब ये बता रहे थे सन्तोष जी कि सन् 1942 में उन्होंने आत्महत्या कर ली, नाजियों से भागते हुए। नयी थीसिस ये आई है। मैं नहीं जानता कि कितना सच है। सन् 2002 में 'ऑब्जर्वर' में एक लेख छपा कि वाल्टर बेंजामिन ने आत्महत्या नहीं की थी, स्टॉलिन के एजेन्ट्स ने उनको मार डाला था। पता नहीं उस पर ज्यादा बहस नहीं हुई है। कोई मर जाये या आत्महत्या करे, बात तो वही है कि एक सम्भावनापूर्ण जीवन का अचानक अन्त हो गया।

वाल्टर बेंजामिन कहते हैं कि जिस तरह से मार्क्सवाद को देख रहे थे, वो स्टॉलिन के लिए बिल्कुल नागवार था और ऑर्थर कोस्लर से भी उनकी लगातार मुलाकात हो रही थी। जब वह भाग रहे थे तो स्पेन में पोर्ट के पास जहाँ उनका अन्त हुआ था, वहाँ स्टॉलिन के एजेन्ट्स ने उनको मार डाला था। मतलब यह कि ये बात इस तरह से भी प्रमाणित हुई कि होटल का जो मैनेजर था जिसने बगावत की थी। यानी ये सन् 1942 का समय है, जब स्टॉलिन का और हिटलर का लगभग एक संधिकाल था, दोनों मिलकर– अगर नाजियों से खतरा था वाल्टर बेंजामिन को, तो उसी रूप में स्टॉलिन से भी खतरा था। तो यह एक नयी थीसिस है। मैं इसमें बहुत ज्यादा इसलिए यकीन नहीं करता कि एक अमरीकी प्रेस में उद्घाटित सच है, इसलिए किसकी जाँच होगी अब इतने सालों बाद!

मगर वाल्टर बेंजामिन ने यह बात जरूर कही कि जो मनुष्य है, उसकी

खंडित सच्चाइयों का– वाल्टर बेंजामिन के समय में सर्रियलिज्म का आन्दोलन बहुत जोरों पर था। उन्होंने कहा कि जितना स्वप्न जगत है हमारा, उतना ही हमारा चेतन जगत है। हमारे भीतर की जो तहें हैं, वो भी हमारे जीवन को उतना ही प्रभावित करती हैं और एक कम्प्लीट, एक सम्पूर्ण मनुष्य की व्याख्या की ओर जाना चाहिए। इसलिए हम बाहर से किसी भी तरह से कोई नहीं कर सकते। वाल्टर बेंजामिन का यह निबन्ध था।

दूसरी बात जो 'मास्को डायरी' के बारे में एक बहुत दिलचस्प बात है। कहते हैं कि बहुत मामूली लड़कियाँ दुनिया में बहुत बड़े-बड़े काम लोगों से करा देती हैं। वाल्टर बेंजामिन की एक प्रेमिका थी– 'असिया लेसिस' नाम की, जिसने हिटलर और ब्रेस्ट से बेंजामिन का परिचय कराया। ये स्विट्ज़रलैंड के पास कायरी में मिले थे। लगभग पगला गये थे उसके आकर्षण में। ये लड़की मास्को में बच्चों का एक थियेटर चलाती थी और 'मास्को डायरी' जो है, वाल्टर बेंजामिन सन् 1926 में उस लड़की से मिलने के लिए मास्को गये थे। लेकिन वह लड़की बहुत ज्यादा वाल्टर बेंजामिन को महत्त्व नहीं दे रही थी क्योंकि वह पहले ही किसी ओर के साथ इनवॉल्व थी। तो वाल्टर बेंजामिन का– मतलब असिया लेसिस को पा सकते हैं कि नहीं पा सकते– ये एक एलिगरी मार्क्सवाद को वो पा सकते हैं कि नहीं पा सकते थे, ये दोनों चीजें पैरलल चल रही थीं, और 'मास्को डायरी' में बड़ी सुन्दरता के साथ वो आया है। अन्त तक वाल्टर बेंजामिन पार्टी के सदस्य नहीं बने। वाल्टर बेंजामिन इसी निर्णय के लिए मास्को गये थे। मास्को में देख रहे थे कि ये जो रूस में साम्यवाद आया है, इसको किस रूप में ग्रहण करूँ। यदि 'मास्को डायरी' के अन्तिम पृष्ठों को आप देखें, वो बहुत ही स्पष्टता के साथ स्टॉलिन की ब्यूरोक्रेसी से पूरी तरह असहमत है। देखिये, 1926 में, जबकि रूस में इतना बड़ा प्रयोग हो रहा था, बेंजामिन स्टॉलिन के मार्क्सवाद को लेकर अपने भीतर एक सन्देह की स्थिति पाते थे। वहाँ के बच्चों के बारे में– कुछ अधिकार प्राप्त बच्चे हैं और कुछ भिखारी बच्चे हैं– ये कैसे मास्को की सड़कों पर उनको एक साथ दिखाई दे रहे हैं। यह एक बात खासतौर से दूसरों के लिए बहुत

मामूली बात होगी। वाल्टर बेंजामिन कह रहे थे कि ये इतनी बड़ी बात कैसे घटित होती है– एक साम्यवाद की राजधानी में?

दूसरी चीज, वाल्टर बेंजामिन जिस चीज को कहते हैं कि जब हमें कोई कहता है कि इस चीज को आप सहज मान लो, इस चीज को एक रोजमर्रा का सत्य मान लो, तो सारा सन्देह वहीं से शुरू होना चाहिए क्योंकि हमें सच मनवाने, हमें दृश्य प्रपंच दिखायी जो देता है उसके अपने गोरखधन्धे हैं। यहीं से हमें एक खास तरह की भूमिका बनाना चाहिए जिसमें हम अपने आपको विड्रो करके और उस पर एक सन्देह की स्थिति बनाएँ– स्ट्रेप्टिज्म जिसको कहते हैं। तो देखिये, मनुष्य में एक विराट आस्था, पूँजीवादी विकास के बावजूद यांत्रिक उत्पादन में एक डेमोक्रेटिक आस्था, उनका बड़ा प्रसिद्ध निबन्ध है– 'पेरिस आर्केड ऑर मैकेनिकल प्रोडक्शन इन दि एज ऑफ केपिटलिज्म', 'आर्ट इन दि एज ऑफ मैकेनिकल प्रोडक्शन'। ये दो चीजों से वाल्टर बेंजामिन बहुत ज्यादा जाने जाते हैं।

बेंजामिन यह देख रहे थे कि कैसे पूँजीवाद का एक पूरा जो खेल इस समाज में चल रहा है प्रचार का, लोगों के नियंत्रण का और लोगों के अपनी भूल-भुलैया का। वो बीस साल, बेंजामिन की मृत्यु के बीस साल बाद अमेरिकी अकादमी, वो तो फ्रांस से निकलकर फिर अमेरिका चला गया, वहाँ पर हमारे लेफ्ट के बुद्धिजीवी फ्रेंकफर्ट स्कूल के बचे हुए लोग थे या टैरी ईगल्टन या फ्रेडरिक जेम्सन जैसे लोग उठाते हैं– मैं इस पूरे प्रसंग में टैरी ईगल्टन की भूमिका को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। देखिये, हुआ ये कि टैरी ईगल्टन का भी बड़े दिलचस्प इतिहास है। वे कैथोलिक थे और चर्च से एक लम्बे समय तक जुड़े रहे थे। वह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे, जो कि बुजुर्आ एलीट का सबसे बड़ा गढ़ है। बाद में जब ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय छोड़ा, तो बहुत ही सख्त शब्दों में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की उन्होंने निन्दा की। उन्होंने कहा कि मैंने अपने तमाम वर्ष इस विश्वविद्यालय में नष्ट किये हैं। बेंजामिन अकादमिक थे। बेस्ट सेलर की तरह उनकी किताबें बिकीं। लेकिन अकादमिक जो संस्कृति होती है, उससे टैरी ईगल्टन हमेशा बाहर रहे। तो इतने सारे विरोधी

तत्त्व रहे उनमें।

सन्तोष चौबे जी ने अपनी भूमिका में लिखा है, शुरू वह रेमंड विलियम के मानवतावाद से करते हैं, बाद में अल्तूसर के वैज्ञानिक मार्क्सवाद में आते हैं और तीसरी स्टेज बेंजामिन की, उस तरह की जहाँ वो आगे के एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम की बात करते हैं और मनुष्य के मूल मनोभाव हैं, वो प्रेम है, जो करुणा है– इन सारी चीजों को कहते हैं कि ये थ्योरीज के अन्दर रिलेवेन्ट होनी चाहिए। 'ऑफ्टर थ्यौरी' नाम की जो उनकी किताब है, उसमें वाल्टर बेंजामिन ने कहा है कि साठ के दशक में आप लोगों ने शुरुआत तो बहुत बढ़िया की थी। मनोविज्ञान में काम हो रहा था, उत्तर औपनिवेशिकता में काम हो रहा था, स्त्री-विमर्श का काम हो रहा था, विखंडन के सारे काम, भाषा के सारे खेल को समझा जा रहा था। अचानक साठ के दशक में वो छात्र असन्तोष और अमरीकी विरोध– वो सब तो अपनी जगह शान्त हो गया और अकादमियों में– ये अकादमिक जो प्रोफेशनल्स वेतनभोगी, बुद्धिजीवी सारी थ्योरी का संस्थानीकरण करते हैं, वो थ्योरी संस्थान के खिलाफ भी, वही थ्योरी अमरीका में संस्थानीकरण का हिस्सा बन गयी, संस्थान का हिस्सा बन गयी। ईगल्टन इस पर एक सवाल उठाते हैं और वे कहते हैं कि मुझे ये लगता है कि इस थ्योरी के जंजाल से बाहर निकलना चाहिए। टैरी ईगल्टन जब आइडियालॉजी की बात करते हैं तो आइडियालॉजी का मतलब एक व्यक्ति के भीतर जो विचारों की दुनिया बनी हुई है, आइडियालॉजी का मतलब किसी राजनैतिक विचारधारा से। वह कहते हैं कि वो व्यक्ति कैसे अपने साहित्यिक वृत्ति में किसी सच को रख रहा है। उस व्यक्ति का अपना सोच है। क्रिटिक का काम ये है कि ऐतिहासिक चेतना के साथ उस कृति का एक रिवैल्यूएशन करे।

हमारे यहाँ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी थे जो टी.एस. ईलियट को एक झटके में खारिज कर देते थे, डी.एच. लारेन्स को एक झटके में खारिज कर देते थे। जॉयस को कहीं से उठाकर फेंक देते थे, ब्रेस्ट को कहीं से उठाकर फेंक देते थे। बेंजामिन, काफ्का, ब्रेस्ट और बॉदलेयर– बॉदलेयर के लिए तो बेंजामिन का एक बहुत खूबसूरत शीर्षक है– 'लिरिकल पोयट इन दि

ऐज ऑफ हाई मॉडर्निटी।' लिरिकल का मतलब क्या है? लिरिकल का मतलब यह है कि आपके भीतर का आवेग, आपके भीतर की एक छोटी चेतना! वो नरेशन लाये। जो मेटानरेटिव पूँजीवाद का बन रहा है, उसके भीतर कैसे अपना हस्तक्षेप करते हैं। मुझे कई बार लगता है कि हम लोग जो नरेशन का बहुत महिमा गान करते हैं। आजकल तो हमारी रचनाओं में विवरणों का बहुत अम्बार लगा हुआ है। इसको थोड़ा सन्देह के साथ देखा जाना चाहिए। जो टैरी ईगल्टन ने कहा, जो बेंजामिन ने कहा कि कहीं ये विवरणात्मक कोई धोखे की पट्टी तो नहीं है। ये कहीं आपकी आँखों के सामने पर्दा फैला देने की कोशिश तो नहीं है। मन्तव्य कहीं और छिप रहा हो।

अब क्या देखते थे टैरी ईगल्टन? वह ये देखते हैं कि इसके बाहर एक लेखक ने अपनी भाषा में जिन चीजों को छुपाया है, उनको पकड़िये आप। वो तो बता रहा है ये चीजें ऐसी हैं– 'ए' बराबर 'बी', 'बी' बराबर 'सी'। वो पूरा एक नरेशन का जंजाल आपके सामने खड़ा कर दे रहा है। इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है क्रिटिक के लिए। क्रिटिक के लिए महत्त्वपूर्ण यह है कि वो चीजों को कैसे देख रहा है। उसकी वर्ग चेतना किस तरह से रिफ्लेक्ट हो रही है। 'आइडियालॉजी एंड क्रिटिसिज्म' जैसी महत्त्वपूर्ण किताब है। वो क्रिटिक की स्वायत्त ऐतिहासिक चेतना और रचनाकार की स्वायत्त चेतना की मुठभेड़ को सामने रखते हैं। ईगल्टन का बहुत प्रसिद्ध वाक्य है कि एक रचना की स्वायत्तता हो सकती है। एक रचनाकार की अपनी दुनिया में एक अपने ढंग से स्वायत्त रचना। आलोचक में स्वायत्तता नहीं होती। आलोचक को तो इतिहास रचना के साथ जोड़कर उस रचना के साथ जाना होगा।

मतलब आप देखिये, कि भाषा का जो सारा गोरखधन्धा, जिस पर देरिदा ने सवाल उठाया, जिस पर अल्तूसर और उसके पहले लेविस ट्रॉस– जिस पर से बात शुरू हुई थी, लूका से जो बात शुरू हुई बात थी, बाद में जूलियट क्रिस्टॉफर जिस बात को शुरू कर रही थीं, टैरी ईगल्टन जिसको एक तार्किक परिणति बतलाते हैं। वे यह कहते हैं कि ये जो आपके सामने विवरणात्मकता का पूरा जाल फैलाया जा रहा है, इसके

पीछे देखिये। यू हैव टु लुक बियोंड इट। ये जो आपको दृश्य प्रपंच दिखाया जा रहा है– इट्स नॉट सफिशिएन्ट। एक क्रिटिक इसके बाहर देखता है कि राइटर का इंट्रेस्ट क्या है। मतलब बातें इतनी सरल और सीधी नहीं रह गयीं और कहीं न कहीं हम जैसे छद्म चेतनाओं को रचने के, जिस तरह से नये-नये, कई बार तो वो व्यक्ति जो सबसे ज्यादा समाज से कटा हुआ है, वह समाज के बारे में सबसे ज्यादा बात करता है। ये जो एक पैराडॉक्स है, इसकी तरफ ईगल्टन ने इशारा किया।

अब इसके बाद फ्रेडरिक जेम्सन आते हैं। फ्रेडरिक जेम्सन ने तो और भी अद्भुत बातें कहीं। फ्रेडरिक जेम्सन का बहुत लम्बा वक्तव्य है, मैं सिर्फ उनकी मुख्य दो-तीन बातें करता हूँ। वे कहते हैं कि पूँजीवाद की तीन अवस्थाएँ थीं। उन्होंने साहित्य और इतिहास के सम्बन्धों को जोड़ते हुए कहा– पहली अवस्था थी औद्योगिक पूँजीवाद, जिसमें आप 19वीं सदी को ले सकते हैं। वे कहते हैं कि औद्योगिक पूँजीवाद के खिलाफ, इस मशीन के खिलाफ, इस नगरीकरण के खिलाफ, इस पूरी यांत्रिकता के खिलाफ स्वच्छन्दतावाद का आन्दोलन यूरोप में शुरू हुआ था। दूसरी स्टेज थी, युद्ध के समय तक पूँजीवाद एक चरम में पहुँच चुका था और उसको उन्होंने 'मोनोपॉली कैपिटलिज्म' में कहा कि जिसमें सबकुछ को कंट्रोल कर लेना चाहते हैं, तब उसकी प्रतिक्रिया में एक ऐलीमेशन का, एक रचनाकार के अकेलेपन का, आवाँगार्द की कला विकसित हुई।

ये जो हम आप इस तरह की स्थितियाँ देख रहे हैं– पूँजीवाद की तीसरी अवस्था है विश्व पूँजी की, जिसमें सारी दुनिया एक मार्केट है। सारी चीजों को कंट्रोल कर लेना– कोई भी चीज। तीन बातें और उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कही हैं कि 19वीं सदी में पूँजीवाद ने किसी भी तरह से प्रकृति पर तो कब्जा कर लिया था– प्रकृति के साथ तो सारा प्राकृतिक दोहन। दो चीजें बची हुई थीं जो पूँजीवाद के पकड़ में नहीं थीं। वो थीं एक तो मनुष्य का अवचेतन, जिसमें दूसरे महायुद्ध के बाद एक बड़ी कला पैदा हुई मनुष्य के अवचेतन की, जो इस पूरे संस्थानीकरण के खिलाफ थी, आवाँगार्द कला। वो कहते हैं कि पूँजीवाद ने कहा– ये इलाका ऐसा है, जिसमें हम आदमी को भागने नहीं देंगे। यहाँ पकड़ो

आदमी को और उन्होंने इस '60 के बाद जो टेलीविजन आया और जिस तरह से सारी छवियों का संसार! यानी देखते ही देखते।

मैं अपनी बात करता हूँ। जब सन् 1974-75 के आसपास मैंने टेलीविजन खरीदा नहीं था और हमारे यहाँ ये होता था कि किसी के घर में हम लोग जाकर इतवार के दिन सिनेमा देखते थे और टेलीविजन पर फिल्म आती थी और अस्सी के दशक तक टेलीविजन के बाद– आप देखिये, कलर टीवी, कलर टीवी के बाद वीसीआर, वीसीआर के बाद सीडी प्लेयर, सीडी प्लेयर के बाद डीवीडी– अब तो पैन ड्राइव तक जो स्थिति हो गयी है कि आप छोटी से छोटी जगह में ज्यादा से ज्यादा सूचनाओं को एकत्रित कर सकते हैं और लगातार आप पर वो बमबारी की जाती है। अब बेंजामिन ये कहते थे कि इससे डेमोक्रेटिक चेतना का प्रसार होगा। पुराना जो एक प्रभामंडल है कलाकार का, वो खत्म होगा, कला ज्यादा से ज्यादा लोगों के पास पहुँचेगी। लेकिन हमारे उन सारे मशीनी उत्पादन पर तो अधिकार पूँजीपतियों का है, वो जैसे चाहें आपको नचा रहे हैं। आप विद्रोह कहाँ करेंगे? तो एक ये खतरा हम लोगों ने तीस-चालीस साल में देखा। ये फ्रेडरिक जेम्सन कहते हैं कि ये दूसरा इलाका, जिसको 19वीं सदी में पूँजीवाद के कब्जे में नहीं ला सका, वो यह था कि मनुष्य के अवचेतन पर कब्जा किया जाए और आज छवियाँ पहले बन रही हैं, सच्चाई उसके बाद आ रही है। आपको छवियाँ सिखा रही हैं कि आप कैसे क्रिएट करें। कहीं आपका कोई एकान्त नहीं बचा। आपके घर के भीतर घुस गया आपका दुश्मन, वो छवियाँ दिखा रहा है आपको। आप किस एकान्त में जायेंगे?

तीसरा उन्होंने कहा, जो सबसे घनघोर इलाका था, बीहड़ इलाका था पूँजीवाद के खतरे का, वो था तीसरी दुनिया का कृषक समाज। पूरी तीसरी दुनिया की कृषि संस्कृति थी जो हजारों साल से एक अनडिटर्ड, एक खास तरह से वो चल रही थी, उसको बाधित करना शुरू किया। आप देखिये, बड़े-बड़े कृषक फार्म जिस तरह की सामूहिक खेती विश्व पूँजी का खेल तीसरी दुनिया में– आज आप किसी फसल को अपनी इच्छा से चुन भी नहीं सकते। वो चुनेगा कार्पोरेट। ये जो तीन चीजें पूँजीवाद ने कीं, उनका

ये भयानक समय आ गया है।

लेकिन मित्रो! मैं अपनी बात को समापन की ओर लाते हुए दो बातें कहना चाहता हूँ कि फ्रेडरिक जेम्सन ये कहते हैं कि सचमुच में कोई स्पष्ट रास्ता नहीं दिखाते कि इन सबसे लड़ा कैसे जाये। लेकिन वो कलाकारों को, लेखकों को, बुद्धिजीवियों को एक बात की तरफ इशारा करते हैं कि हम जैसे शॉपिंग मॉल में देख रहे हैं कि बहुत बड़ी भीड़ है और वो तमाम चीजों के बीच में खोई हुई है– उपभोक्ता संस्कृति। वो मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों को कहते हैं कि इसको रन–डाउन मत करिये, इसको डेरोगेटरी तरीके से मत देखिये, आप उस मनुष्य को देखिये जो वस्तुओं से चमत्कृत हो रहा है। क्यों चमत्कृत हो रहा है? उसका दैनिक जीवन इतना ज्यादा परेशानियों से और थकावट से और यांत्रिकता से भरा हुआ है। एक वस्तु अगर थोड़ी देर के लिए उसको चमत्कृत करती है तो उसके भीतर सुख की कोई इच्छा बचती है। सुख की इस इच्छा को विमर्श के केन्द्र में लाना है। ये जो सामान्य मनुष्य है, जिसको चारों तरफ से घेरा हुआ है, वो वस्तुओं के संसार में सुख की उस आदिम इच्छा की ओर लौटना चाहता है। एक बात वह ये कहते हैं।

दूसरी बात वह यह कहते हैं कि जो भी आप देख रहे हैं, जो भी आप समझ रहे हैं, आपको यह भी पता करना होगा कि ये मनुष्य किस तरह से लौटेगा आपके पास। आप उसको पूरी तरह से मध्यवर्ग या जो भी कहकर आप जिस तरह से उसको नीचा दिखाते हैं, वो मत करिये। वो यह कहते हैं कि पूरी दुनिया में जिस तरह से पूँजी का एक फैलाव है। खुद पूँजी के खेल में जो लगे हुए हैं, शेयर मार्केट में जो लोग खिलाड़ी हैं, उनको पता नहीं है कि मार्केट गिरेगा तो उठेगा। ये जो हजारों–करोड़ों डॉलर का रोज व्यापार हो रहा है भारत से लेकर अमेरिका, और अमेरिका से लेकर यूरोप, और यूरोप से लेकर ऑस्ट्रेलिया तक। सबलाइन की तरफ, उदारता की ओर जाने की एक कैपिसिटी दी थी। वो खत्म करके धर्म के बाद आपने उसे सब्लीमेशन का कोई तत्त्व नहीं दिया। ये पूँजीवाद! आज जो टेक्नोलॉजी का इतना विशाल संसार आपके सामने खड़ा हुआ है और मनुष्य उससे चमत्कृत है, तो आप ये मानकर चलिये उसके भीतर

सब्लीमेशन उदारता की कोई कल्पना बची हुई है। चूँकि उसके सामने टेक्नोलॉजी है, उससे वो आकर्षित होता है।

मित्रो! ये कुछ मुख्य बातें थीं और मुझे यह लगता है कि टैरी ईगल्टन ने जो बात की है कि फिर से आज दुनिया को खतरा है। एकेडिमिक में बैठकर वो बाल की खाल निकालने वाली थ्योरी से कुछ नहीं होगा। खतरा इस बात से है कि दुनिया में आतंकवाद किस तरह से फैल रहा है– दुनिया में एड्स की बीमारियाँ किस तरह से फैल रही हैं, दुनिया में न्यूक्लियर्स बम का खतरा किस तरह का है? वो कहते हैं कि उन्होंने एक एमाउंट दिया है। वो ये कहते हैं कि नागासाकी और हिरोशिमा पर जिस तरह के बम गिराये गये, उनके हजारों इस तरह से ज्यादा भयानक बम आज पूँजीवादी देशों के पास हैं और एक बम को बनाने में जितना पैसा लगता है, उसकी तीन चौथाई से पूरी दुनिया की गरीबी दूर हो सकती है। आज हमको चिन्ता इस बात की है कि ये विमर्श किस तरह का बन रहा है और विमर्श में हमारी प्राथमिकताएँ क्या हैं! ये एकेडिमिक्स का जो गोरखधन्धा है, ये होता रहेगा। वो डिजनरेट हो चुका है।

साठ के दशक में लूका, देरिदा, फूको– ये तमाम लोग जिन रेडिकल बातों को कर रहे थे, आज अमरीका के बुद्धिजीवी पूरी तरह से डिजनरेट हो चुके हैं। उनमें कोई राजनीतिक चेतना नहीं है। संस्थानों में बैठे हुए बाल की खाल निकालने वाले इन बुद्धिजीवियों को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि अमेरिका इराक पर जो आक्रमण कर रहा है, वो गलत बात है कि सही है। हमारी चिन्ताएँ, हमारे प्रॉयरटीज दूसरी होने चाहिए, और इस पूरे थ्योरीज का हमें सैद्धान्तिकी का आधार मिला है, इसको लेते हुए नयी सच्चाइयों की ओर जायें।

मित्रो! ओडिसिस एलाइटिस का लूका पर जो निबन्ध है, उसके बारे में मैं एक-दो बात कहना चाहता हूँ कि कवियों ने एक गद्य के बारे में हमेशा बहुत बढ़िया बातें हुई हैं। यह कहा जाता है कि एलायटिस की अगर आप खुद की पृष्ठभूमि देखें तो लगभग लोर्का की तरह। मैं एक निबन्ध पढ़ रहा था, उसमें कहते हैं ग्रीक स्प्रिट है, पुरानी ग्रीक सभ्यता के समय से चली आ रही वो ग्रीक स्प्रिट क्या है कि आप अपने भीतर

साइकिक एनर्जी को पैदा करिये। लोर्का के उस पूरे निबन्ध में एलाइटिस जिस तरह से लोर्का के पास जाते हैं। वो उस साइकिक एनर्जी जो एक लेखक के भीतर होती है, उसको रचाये। प्रकृति से एकाकार हो रहा है, वो प्रेम से एकाकार हो रहा है, वो करुणा से एकाकार हो रहा है। यानी एक पूरी इस यांत्रिक व्यवस्था के भीतर एक कलाकार इतना बड़ा हो कि उस सारी चीजों के भीतर! लोर्का इतने बड़े कलाकार थे कि सारी चीजों के भीतर वो खप गये थे। उन्होंने अपने आपको पूरी तरह से घुला-मिला दिया था। एलाइटिस खुद उस तरह के व्यक्ति रहे हैं। हमारे आधुनिक समय के तीन सबसे बड़े कवि हुए हैं– यानिश रिसोर्स, जॉयस और एलाइटिस। ये तीनों उस ग्रीक स्प्रिट की बात करते हैं। वो जो ग्रीकनेस है कवि के अन्दर– ग्रीकनेस किसी के भीतर हो सकती है, भारत का एक कवि ग्रीकनेस को लेकर, वो है, एक साइकिक एनर्जी वो सारी चीजों पर एसिम्यूलेट करती थी, डिफरेंशिएट नहीं करती थी।

लोर्का पर जो निबन्ध है– और सन्तोष चौबे जी को आज मैं धन्यवाद देना चाहूँगा कि वो सचमुच उस पूरे पीस में इतना वेग है, इतना ज्यादा उसमें एक चार्ज गद्य जिसको कहते हैं– कवियों का गद्य कभी भी स्लैथ गद्य नहीं होता। गद्यकारों से मैं माफी चाहता हूँ। गद्यकारों ने जब-जब कवियों से कुछ सीखा है तो गद्य उनका बेहतर ही हुआ है। कवियों का गद्य हमेशा चार्ज गद्य होता है, क्योंकि कवि कई डायमेंशन्स में अपनी बात कहना जानता है।

एलाइटिस का जो गद्य है, आप देखिये, उसके एक-एक वाक्य को देखिये, ऐसा लग रहा है कि एक वाक्य के बाद दूसरा वाक्य लगभग हथौड़े की तरह आपकी चेतना पर पड़ रहा है। ऐसे गद्य को सहज रूप से अनुवाद करना आसान नहीं होता। वह फैक्चुअल गद्य नहीं है। वह फैक्चुअल से ज्यादा एक इंटेन्स का गद्य है। उसमें उसकी टोन है, उसके मुहावरे हैं। उसका अपना गति का एक अन्दाज है। भाषा में एक गति होती है। अचानक आपको लगे एलाइटिस बहुत तेजी से बात कर रहा है, फिर एक जगह वह रुक गया है, एक जगह ठहर कर फिर अचानक दौड़ पड़ा वो। वो गद्य की जो गति होती है, उसकी जो एक वेलोसिटी है, वो

वेलोसिटी आपको एलाइटिस के गद्य में दिखाई देती है और कवियों के गद्य संसार-भर में इसी रूप में माने जाते हैं कि वो फैक्चुअल से ज्यादा के कुछ होते हैं। वो कुछ ज्यादा कहना चाहते हैं। वो किसी तीसरे डेमिन्सन खोजते हैं। आप अपने लैंग्वेज रजिस्टर में उस गद्य को उतारते हैं तो आपकी लैंग्वेज भी, आपकी भाषा के उस हद तक चार्ज हो जाती है। एक एलाइटिस हिन्दी में आता है, या एक लोर्का हिन्दी में आता है, या एक ब्रेस्ट हिन्दी में आता है, या यानिश रिर्सोस हिन्दी में आता है, तो हम हिन्दी की अपनी भाषा को भी एक उस हद तक चार्ज कर देते हैं।

ये जो अनुवाद है, उस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वो भाषा की नयी सम्भावनाओं को, भाषा की नयी पोटेंशियल्टी को अनुवाद के द्वारा लाता है। और एक कहते हैं कि राइटर के ट्रांस-रीडर से, रीडर ट्रांस-रीडर तक आने की जो एक स्थिति होती है कि अपने टारगेट से वहाँ तक आने की जो स्थिति है वो एक अनुवादक की यात्रा होती है। अनुवादक ने अपनी भाषा में उसके लिए क्या समानान्तर शब्द चुना– एक 'गेलोपिंग' शब्द है– एलायटिस के गद्य में एक घोड़ा है, काला घोड़ा, वो गेलोपिंग होर्स। सन्तोष जी ने लिखा है– सरपट दौड़ता घोड़ा, एक यूरोस का प्रतीक आया है। यूरोस के लिए मुझे बड़ा अच्छा लगा कि इन्होंने कामदेवता नहीं लिखा। यूरोस के लिए इन्होंने प्रेमदेवता लिखा, क्योंकि जिस जगह वो शब्द आया है, वहाँ काम से ज्यादा बड़ी बात है। प्रेमदेवता की बात है। मुझे लगा कि अनुवादक यहाँ है– किसी शब्द को वो क्यों चुन रहा है, क्यों छोड़ रहा है। ये कला है, जिसमें अनुवादक की परीक्षा होती है। वह अपनी भाषा के किस मिजाज को रचता है– उस भाषा में क्या छोड़ता है, क्या चुनता है।

मित्रो! मैं सन्तोष जी को बहुत धन्यवाद देता हूँ और मुझे बोलने का अवसर मिला। मुझे लगता है कि ये महत्त्वपूर्ण मौका है कि हम बेंजामिन से लेकर फ्रेडरिक जेम्सन तक की पूरी जो एक यात्रा है विकास की, विचारों की– उसको इस आधुनिक टेक्नोलॉजी, पूँजी के समय में देखें और हम देखें कि हमारा आने वाला एजेंडा, हमारे आने वाला कार्यक्रम क्या बनता है। मार्क्सवाद में उन पुरानी घिसी-पिटी 19वीं सदी की विचार

शैलियों में काम चलेगा नहीं। संसार बहुत बदल चुका है। चुनौतियाँ ज्यादा विराट हैं। अब तक चुनौतियाँ एकेडिमिक नहीं, चुनौतियाँ आपके जीने और मरने की हैं। आपके सामने फासिज्म उसी तरह से खड़ा है जैसे कि तीस के दशक में यूरोप में खड़ा था। आप क्या कीजियेगा? आज जन-मानुष को जिस तरह से बहकाया जा रहा है, जैसे वहशी बनाया जा रहा है, ये हमारे सामने आज सबसे बड़े चुनौती के क्षेत्र हैं। हम इनको एनालाइज करें। हम बुद्धिजीवी एक कलाकार के रूप में जितना अपने समय की कार्य प्रणालियों को, उनकी सूक्ष्मताओं को पकड़ेंगे, उतना ही हम अपने समय से लड़ सकेंगे। उसके लिए ये लोग हैं, जो हमें एक दृष्टि देते हैं। धन्यवाद।

(संतोष चौबे के अनुवाद 'लेखक और प्रतिबद्धता' और 'मॉस्को डायरी' के लोकार्पण के अवसर पर दिये गये व्याख्यान का सम्पादित रूप)